ध्वन्यालोकः

(प्रथम उद्योत)

श्रीमदानन्दवर्धनाचार्यविरचित-

ध्वन्यालोकः

[समीक्षात्मक भूमिका-भाषानुवाद व्याख्यात्मक
टिप्पणी सहित]

(प्रथम. द्वितीय उद्योत)

व्याख्याकार
डा० कृष्णकुमार
एम० ए०, साहित्याचार्य, पी एच० डी०
अध्यक्ष संस्कृत विभाग
ठा० देवसिंह बिष्ट राजकीय महाविद्यालय
नैनीताल

प्रकाशक
साहित्य भण्डार
सुभाष बाजार, मेरठ।

१९७३]
[मूल्य ९.००

दो शब्द

संस्कृत काव्य साहित्य के समालोचना के क्षेत्र में 'ध्वन्यालोक' के महत्व को प्रतिपादित करना ऐसा ही है, जैसे सूर्य को दीपक दिखाना। यह ग्रन्थ संस्कृत साहित्य-शास्त्र का आधारभूत ग्रन्थ है, जिसमें आचार्य आनन्दवर्धन ने समालोचना सम्बन्धी प्राचीन सिद्धान्तों में युगान्तरकारी परिवर्तन किया है और ध्वनि-सिद्धान्त की स्थापना करके उत्तरवर्ती साहित्यशास्त्रियों के मार्ग का निदेशन किया है।

आधुनिक समय में इस ग्रन्थ की पाण्डुलिपि की खोज सबसे पहले डा० बूलर ने की थी तथा इसका पहला प्रकाशन बम्बई से काव्यमाला सीरीज में १८९१ ई० में हुआ था। उस समय से अब तक 'ध्वन्यालोक' के अनेक संस्करण विभिन्न व्याख्याओं तथा टीकाओं के साथ प्रकाशित हो चुके हैं।

'ध्वन्यालोक' जैसे महनीय ग्रन्थ की व्याख्या करना स्वयं के लिये अति दुस्साहस है, विशेष रूप में उस अवस्था में, जबकि इससे पूर्व महान् विद्वानों की अनेक व्याख्यायें उज्ज्वल रूप में प्रकाश में आ चुकी हों। तथापि विद्यार्थियों को सरलता से इसका उपदेश करने एवं मनस्तुष्टि के लिये यह व्याख्या लिखने की प्रेरणा उत्पन्न हुई है।

इस व्याख्या के लिखने की सामर्थ्य गुरुजनों के आशीर्वाद से उत्पन्न हुई है, जिनके चरणों में बैठकर साहित्यशास्त्र का अध्ययन सम्भव हो सका था। उनके प्रति लेखक का हृदय आदर और कृतज्ञता से भरा हुआ है। 'ध्वन्यालोक' की तथा अन्य कुछ ग्रन्थों की प्राचीन व्याख्याओं से लेखक ने लाभ उठाया है, अतः वह उनका ऋणी है। अन्त में लेखक साहित्य भण्डार, मेरठ के व्यवस्थापक श्री रतिराम शास्त्री के प्रति भी कृतज्ञ है, जिनकी प्रेरणा से वह इस व्याख्या को लिखने के लिये प्रवृत्त हुआ था और जिन्होंने इसको प्रकाशित करने का कष्ट किया है।

व्याख्या में गुणों का विधान गुरुजनों और प्राचीन व्याख्याकारों के अनुग्रह के कारण है तथा यदि कुछ दोष हैं, तो लेखक की असावधानता के कारण। व्याख्या के गुण-दोष का विवेचन विद्वान् पाठकों के आधीन है। यदि वे इसका अल्प सा भी समादर करते हैं, तभी लेखक का यह प्रयत्न सफल है। साहित्यशास्त्र के प्रेमी विद्यार्थियों तथा आचार्यों की सेवा में यह रचना समर्पित है।

जुलाई १९७१ — विनीत

कृष्णकुमार

विषय-सूची

पृष्ठ संख्या

पृष्ठ संख्या

द्वितीय उद्योत [११३–२२७]

पृष्ठ सख्या

पृष्ठ संख्या

प्रस्तावना

१. ध्वन्यालोक का महत्त्व

भारतीय साहित्यशास्त्र के इतिहास मे 'ध्वन्यालोक' एक युगान्तरकारी ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ के द्वारा ध्वनि-सिद्धान्त की उद्भावना और प्रतिष्ठा करके आनन्दवर्धन ने *साहित्यशास्त्र के क्षेत्र मे महनीयतम अजर और अमर स्थान प्राप्त किया।* आनन्दवर्धन के पश्चाद्वर्ती साहित्यशास्त्रियो—अभिनवगुप्त, मम्मट, विश्वनाथ, पण्डितराज जगन्नाथ आदि ने आनन्दवर्धन की साहित्यिक मान्यताओ को स्वीकार करके उनके मत का पोषण किया। साहित्यशास्त्र के क्षेत्र मे आनन्दवर्धन को वही स्थान प्राप्त है, जो व्याकरणशास्त्र के क्षेत्र मे आचार्य पाणिनि को एव वेदान्त के क्षेत्र मे शकराचार्य को प्राप्त हुआ है। *आचार्य आनन्दवर्धन* ने अपने से प्राचीन युग की साहित्यशास्त्रीय मान्यताओ और आलोचना के सिद्धान्तो के मार्ग को मोड कर एक नया मार्ग प्रशस्त किया था। पण्डितराज जगन्नाथ ने यह ठीक ही कहा है कि ध्वनिकार ने आलङ्कारिको का मार्ग व्यवस्थित एवं प्रतिष्ठित कर दिया था[1]।

भारतीय साहित्यशास्त्र का प्रारम्भ अति प्राचीन युग मे ही, ६०० ई० पू० से पहले ही हो चुका था। तथापि इसका व्यवस्थित रूप आचार्य भरत के 'नाट्यशास्त्र' से प्रारम्भ होता है। भरत ने भी साहित्यिक आलोचना को अधिक महत्त्व न देकर नाट्य रचना और अभिनय का ही मुख्य रूप मे वर्णन किया है, यद्यपि रस अलङ्कार, *आदि का भी इन्होने प्रसगवश सकेत किया था।* भरत के अनन्तर *आनन्दवर्धन* तक अनेक आचार्य भामह, उद्भट, दण्डी, वामन आदि हुये, जिन्होने साहित्यिक आलोचना के सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया, परन्तु इन आचार्यों ने आलोचना का जो मार्ग प्रतिपादित किया था, आनन्दवर्धन ने उसको एक नई दिशा प्रदर्शित की। भामह आदि आचार्यों ने काव्य के शरीर को शब्दार्थ रूप मे प्रतिपादित करके[2] इनको अलङ्कृत करने वाले शब्दालङ्कारो और अर्थालङ्कारो को[3], गुणो को, वृत्तियो को और रीति को[4] *काव्य की आत्मा के रूप मे प्रतिपादित किया था।* इस प्रकार इन आचार्यों ने काव्य के स्थूल शरीर शब्द-अर्थ का प्रतिपादन किया और उसी मे काव्य का वास्तविक सौन्दर्य माना। परन्तु काव्य के आन्तरिक सौन्दर्य को, काव्य के आत्मतत्त्व को वे उद्भावित नही कर सके थे। जिस प्रकार चार्वाक मतावलम्बी इस स्थूल शरीर को ही आत्मा मानकर स्थूल शरीर मे चेतना का आधान करने

---

१. ध्वनिकृतामालङ्कारिकसरणिव्यवस्थापकत्वात्—पण्डितराज जगन्नाथ।

२. शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्—भामह।

३. काव्यं ग्राह्यमलङ्कारात्'' सौन्दर्यमलङ्कारः—वामन।

४. रीतिरात्मा काव्यस्य—वामन।

वाले आत्मतत्त्व की पृथक् सत्ता स्वीकार नही करते, उसी प्रकार की स्थिति भामह आदि आलङ्कारिको की थी। इनके सम्बन्ध मे अभिनवगुप्त ने ठीक ही लिखा है जिस प्रकार चार्वाक मतावलम्बी स्थूल शरीर से पृथक् आत्मतत्त्व को स्वीकार करने में विप्रतिपत्ति करते है, उसी प्रकार वाच्य अर्थ की वासना से विमोहित हृदय वाले ये आलङ्कारिक प्रतीयमान अर्थ को वाच्य अर्थ से पृथक् मानने मे आपत्ति करते हैं[1]।

जबकि भारतीय साहित्यशास्त्र के क्षेत्र मे काव्य के स्थूल शरीर को ही, वाचक शब्द और वाच्य अर्थ को ही सजाने सवारने मे काव्यत्व की प्रतिष्ठा समझी जाती थी, आचार्य आनन्दवर्धन ने यह प्रतिपादित किया कि काव्य मे दो प्रकार के अर्थ सहृदयश्लाघ्य होते हैं—वाच्य और प्रतीयमान[2]। वाच्य अर्थ उपमा आदि अलङ्कारो द्वारा प्रसिद्ध हो चुका है[3]। प्रतीयमान अर्थ महाकवियो की वाणी मे उसी प्रकार विलक्षण सौन्दर्य का आधान करता हुआ रहता है, जिस प्रकार अङ्गनाओं में लावण्य[4]। यह प्रतीयमान अर्थ ही काव्य की आत्मा है[5]। जिस काव्य मे प्रतीयमान अर्थ का सौन्दर्य मुख्य रूप से होता है, वह काव्य सबसे श्रेष्ठ है, उसी को ध्वनि-काव्य कहते हैं[6]।

आनन्दवर्धन द्वारा ध्वनि शब्द का प्रयोग और ध्वनि सम्प्रदाय की स्थापना एक नवीन अद्वितीय महत्त्वशाली कार्य था। ध्वनि की स्थापना का आधार व्यञ्जना वृत्ति द्वारा प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति है। प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति आनन्दवर्धन से पूर्वकाल मे न मानी गई हो, ऐसी बात नही हैं। आनन्दवर्धन से पूर्व भी आलङ्कारिको ने काव्य मे वाच्य अर्थ से भिन्न प्रतीयमान अर्थ के अस्तित्व को स्वीकार किया था और इस प्रकार उन्होंने ध्वनि के मार्ग का स्पर्श कर लिया था। परन्तु ध्वनि के मार्ग का स्पर्श करके भी उन्होने उसकी व्याख्या नही की और यह कार्य आनन्दवर्धन को करना पडा। आनन्दवर्धन ने इस तथ्य को अपने ग्रन्थ मे इस प्रकार लिखा है—

"यद्यपि ध्वनि शब्द सङ्कीर्तनेन काव्यलक्षणविधायिभिर्गुणवृत्तिरन्यो वा न कश्चित् प्रकारः प्रकाशितः, तथापि अमुख्यवृत्त्या काव्येषु व्यवहार दर्शयता ध्वनिमार्गो मनाक् स्पृष्टोऽपि न लक्षित"।[6]

---

१. वाच्यसंवलनाविमोहितहृदयैस्तु तत्पृथग्भावे विप्रतिपद्यते, चार्वाकैरिवात्म-पृथग्भावे ध्वन्यालोक १.२ की लोचनटीका से।

२. वाच्यप्रतीयमानाख्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ ॥ध्वन्यालोक १.२॥

३ तत्र वाच्य प्रसिद्धो यः प्रकारैरुपमादिभिः ॥ध्वन्यालोक १.३॥

४. प्रतीयमान पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु ॥ध्वन्यालोक १.४॥

५. काव्यस्यात्मा स एवार्थ ॥ध्वन्यालोक १.५॥

६. ध्वन्यालोक १ १ की वृत्ति मे।

यद्यपि काव्य के लक्षण का निर्माण करने वाले प्राचीन आचार्यों ने ध्वनि शब्द का कथन करके गुणवृत्ति या अन्य किसी काव्य के प्रकार को प्रदर्शित नही किया तथापि अमुख्य वृत्ति के द्वारा काव्यो मे व्यवहार का प्रदशन करते हुये उन्होंने ध्वनि के मार्ग का कुछ स्पर्श तो किया था, परन्तु उसका लक्षण नही किया।

प्राचीन आचार्यो ने जिन आक्षेप, समासोक्ति, विशेषोक्ति पर्यायोक्त, अपह्नुति, दीपक, अप्रस्तुत प्रशसा, अर्थान्तरन्यास, सङ्कर आदि अलङ्कारो का विवेचन किया था, उन अलकारो म वाच्य अर्थ से अतिरिक्त प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति भी होती है। इस प्रकार इन आचार्यो ने इन अलङ्कारो का प्रतिपादन करते हुये प्रतीयमान अर्थ के अस्तित्व को स्वीकार करके ध्वनि की सत्ता स्वीकार कर ली, परन्तु उन्होंने ध्वनि शब्द का प्रयोग नही किया। पण्डितराज जगन्नाथ ने पर्यायोक्त अलकार के विवेचन मे इस तथ्य को स्पष्ट किया है—

ध्वनिकार से प्राचीन भामह, उद्भट आदि आचार्यो ने अपने ग्रन्थो मे कहीं भी ध्वनि, गुणीभूतव्यङ्ग्य आदि शब्दो का प्रयोग नही किया, इतने से ही आधुनिक आलोचकों का यह कहना है कि उन्होने ध्वनि आदियो को स्वीकार नही किया, उचित नही है। क्योकि समासोक्ति, व्याजस्तुति, अप्रस्तुत प्रशसा आदि अलङ्कारों का निरूपण करने मे उन्होने कितने ही गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्यो का निरूपण किया है। इसके अतिरिक्त व्यङ्ग्य अर्थ का सारा विस्तार पर्यायोक्त अलङ्कार की कुक्षि मे निवेशित कर दिया है। अनुभव सिद्ध अर्थ का बालक भी छिपा नही सकता। परन्तु उन्होने ध्वनि आदि शब्दो का व्यवहार नही किया, परन्तु इतने से ही उनके द्वारा ध्वनि की अस्वीकृति नही कही जा सकती।[1]

आचार्य आनन्दवर्धन का यह कथन था कि यद्यपि प्राचीन आचार्यो ने समासोक्ति, आक्षेप, पर्यायोक्त आदि अलङ्कारो का विवेचन करके और उनमे प्रतीयमान अर्थ के अस्तित्व को स्वीकार करके ध्वनि के मार्ग का स्पर्श तो किया है, परन्तु ध्वनि का अन्तर्भाव इन अलङ्कारो मे नही किया जा सकता। इसका कारण यह है कि ध्वनि वहाँ होती है, जहाँ वाच्य अर्थ की अपेक्षा प्रतीयमान अर्थ की प्रधानता हो। परन्तु इन अलङ्कारो म प्रतीयमान अर्थ प्रधान रूप से विवक्षित हो ही, ऐसा सदा नही होता। परन्तु जिन अलकारो म प्रतीयमान अर्थ की विवक्षा प्रधान रूप से होती हैं, जैसा कि कभी पर्यायोक्त आदि अलकार म देखा जाता है, वहाँ ध्वनि

१. ध्वनिकारात् प्राचीनैर्भामहोद्भटप्रभृतिभि स्वग्रन्थेषु कुत्रापि ध्वनिगुणीभूतव्यङ्ग्यादिशब्दा न प्रयुक्ता इत्येतावतैव तैर्ध्वन्यादयो न स्वीक्रियन्त इत्याधुनिकानां वाचोयुक्तिरयुक्तैव। यत समासोक्तिव्याजस्तुत्यप्रस्तुतप्रशसाद्यलङ्कारनिरूपणे कियन्तोऽपि गुणीभूतव्यङ्ग्यभेदास्तैरपि निरूपिता अपरश्च सर्वोऽपि व्यङ्ग्यप्रपञ्च पर्यायोक्तकुक्षौ निक्षिप्त। न ह्यनुभवसिद्धोऽर्थो बालेनाप्यपह्नोतु शक्यते। ध्वन्यादिशब्दैः पर व्यवहारो न कृत। न ह्येतावतानङ्गीकारो भवति—पण्डितराज जगन्नाथ।

प्रकार होगी परन्तु ध्वनि का उनमे अन्तर्भाव नहीं होगा। क्योंकि ध्वनि तो महाविषय है और उसका अङ्गी रूप से प्रतीपादन अभीष्ट है।'

आनन्दवर्धन से पूर्व ध्वनि का उल्लेख साहित्यशास्त्रियो मे न होता रहा हो, ऐसा नही है। उनसे पूर्व भी ध्वनि को काव्य की आत्मा के रूप मे प्रतिपादित किया जाने लगा था। स्वय आनन्दवर्धन ने यह लिखा है कि ध्वनि को काव्य की आत्मा के रूप मे मानने का सिद्धान्त प्राचीन विद्वान् प्रतिपादित करते आये हैं[२]। परन्तु 'ध्वन्यालोक' से पूर्ववर्ती किसी ग्रन्थ म इस प्रकार का प्रतिपादन नही मिलता और नाही इससे पूर्व का ध्वनि-सिद्धान्त प्रतिपादक कोई ग्रन्थ इस समय उपलब्ध है। सम्भव है कि ध्वनि के सिद्धान्त की चर्चा समालोचना जगत् मे मौखिक रूप से प्रचलित रही और आनन्दवर्धन ने इस ध्वनि सिद्धान्त को सुव्यवस्थित रूप म ग्रन्थ के रूप मे प्रतिष्ठित किया। अभिनवगुप्त का कथन है कि यह ध्वनि सिद्धान्त विद्वानो द्वारा अविच्छिन्न रूप से प्रतिपादित किया जाता रहा था, परन्तु विशिष्ट पुस्तको मे इसका प्रतिपादन नही हुआ[३]।

ऊपर के विवरण से साहित्यशास्त्र की परम्परा मे आचार्य आनन्दवर्धन का एव उनके 'ध्वन्यालोक' का महत्त्व सुस्पष्ट है। उन्होने आलकारिको को एक नये मार्ग की दिशा का उपदेश दिया और ध्वनि की स्थापना करके समालोचना के मार्ग का समुन्मीलन किया। यदि आनन्दवर्धन को समालोचना के मार्ग का केन्द्रबिन्दु कहा जावे, तो यह अनुचित नही होगा। आनन्दवधन से पूर्ववर्ती भामह, उद्भट, रुद्रट, दण्डी, वामन आदि आचार्यों ने समालोचना के माग की रचना आरम्भ की थी और आनन्दवर्धन ने उस माग को नई दिशा प्रदान की। आनन्दवधन के उत्तरवर्ती आचार्यों-अभिनवगुप्त, मम्मट, विश्वनाथ, हेमचन्द्र पण्डितराज जगन्नाथ आदि ने इस ध्वनि-सिद्धान्त का प्रतिपादन करके इसको अन्तिम निर्णयात्मक रूप से सुप्रतिष्ठित कर दिया। काव्य मे ध्वनि को आत्मा प्रतिपादित करते हुये भी आनन्दवर्धन ने काव्य के अन्य उपादानो—अलङ्कारो, गुणो, रीतियो वृत्तियो आदि की भी उपेक्षा नही की। उन्होने इनको भी अपनी काव्य समालोचना पद्धति मे समुचित स्थान दिया। इसके परिणाम-स्वरूप आनन्दवधन पहले समालोचक साहित्यशास्त्री हैं जिनका 'ध्वन्यालोक' ग्रन्थ काव्य समालोचना के सभी अङ्गो को यथोचित रूप और अनुपात मे प्रस्तुत करने वाला पहला ग्रन्थ है और इनको साहित्यशास्त्र की परम्परा म महनीयतम स्थान दिलाने मे समर्थ है।

---

१ पर्यायोक्तेऽपि यदि प्राधान्येन व्यङ्ग्यत्व तद् भवतु नाम तस्य ध्वनावन्तर्भाव, न तु ध्वनेस्तत्रान्तर्भाव। तस्य महाविषयत्वेन अङ्गित्वेन च प्रतिपादयिष्यमाणत्वात्। ध्वन्यालोक–१ १३ की वृत्ति मे।

२ काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्य समाम्नातपूर्व.। ध्वन्यालोक १.१।

३ अविच्छिन्नेन प्रवाहेण तैरेतदुक्त विनाऽपि विशिष्ट पुस्तकेषु विनिवेशनादित्यभिप्राय। ध्वन्यालोक १ १ की लोचन टीका से।

२. आनन्दवर्धन का समय

'ध्वन्यालोक' के रचयिता आनन्दवर्धन काश्मीर के निवासी थे। ये कवि, समालोचक और दार्शनिक थे। अपनी विद्वत्ता के कारण इन्होंने राजानक उपाधि प्राप्त की थी।

आनन्दवर्धन का समय बहुत कुछ निश्चित है। प्रसिद्ध काश्मीरी इतिहासकार कल्हण ने 'राजतरङ्गिणी' में आनन्दवर्धन का उल्लेख इस प्रकार किया है—

मुक्ताकण शिवस्वामी कविरानन्दवर्धनः।
प्रथा रत्नाकरश्चागात् साम्राज्येऽवान्तिवर्मण ॥[1]

अवन्तिवर्मा के साम्राज्य म मुक्ताकण, शिवस्वामी और आनन्दवर्धन कवि प्रसिद्धि को प्राप्त हुये।

इनका अभिप्राय यह है कि अवन्तिवर्मा के समय मे आनन्दवर्धन एक कवि के रूप में प्रसिद्धि प्राप्त कर चुके थे। बुह्लर और जैकोबी ने अवन्तिवर्मा का समय ८५५–८८३ ई० निर्धारित किया है। यद्यपि आनन्दवर्धन के समय को निश्चित तिथि के रूप मे निर्धारित करना कठिन है, तथापि कल्हण के इस श्लोक से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि वे ८५५–८८३ ई० के मध्य मे अवश्य रहे होगे।

कुछ विद्वानो के अनुसार अवन्तिवर्मा के पुत्र शङ्करवर्मा (८८३–९०२ ई०) के समय मे भी आनन्दवर्धन रहे थे। आनन्दवर्धन ने 'ध्वन्यालोक मे यशोवर्मा के द्वारा रचित रामाभ्युदय' नाटक के एक श्लोक को।[2] आंशिक रूप से उद्धृत किया है[3]। इन विद्वानो के अनुसार शङ्करवर्मा का ही दूसरा नाम यशोवर्मा था[4]। 'न्यायमञ्जरी' का लेखक जयन्तभट्ट शङ्कर वर्मा का समकालीन था।

---

१ राजतरङ्गिणी ५.३४

२. तत्र शुद्धस्योदाहरण यथा रामाभ्युदये—'कृतककुपितै.' इत्यादि श्लोकः। ध्वन्यालोक ३ ३–४ की वृत्ति से।

३. 'रामाभ्युदय' के इस पद्य को अभिनवगुप्त ने इस प्रकार लोचनटीका मे पूरा किया है—

कृतककुपितैर्वाष्पाम्भोभि सदैन्यविलोकितै-
र्वनमपि गता यस्य प्रीत्या धृतापि तयाम्बया।
नवजलधरश्यामाः पश्यन् दिशो भवती विना
कठिनहृदयो जीवत्येव प्रिये स तव प्रिय ॥

४. कवि एम० रामकृष्ण भट्ट ने अपने लेख—'जयन्त एण्ड यशोवर्मन् आफ काश्मीर' मे जो कि आचार्य पुष्पाञ्जलि वोल्यूम, कलकत्ता १९४० मे प्रकाशित हुआ, यशोवर्मा एव शकरवर्मा के एकत्व को सिद्ध किया है।

सुनीलचन्द्र राय के लेख—"दी आइडेन्टिटी आफ दी यशोवर्मन आफ सम मिडीविअल कायन्स" म, जो जर्नल आफ दी एशियाटिक सोसाइटी—वो० XVII, न० ३,१९५१ में प्रकाशित हुआ, यशोवर्मा और शकरवर्मा के एकत्व को प्रतिपादित किया गया है।

उसने ध्वनिसिद्धान्त की जिस ढंग से आलोचना की है, उससे वह आनन्दवर्धन का समकालीन प्रतीत होता है[1]। अतः यह कहा जा सकता है कि आनन्दवर्धन इन दोनों ही राजाओं—अवन्तिवर्मा और शङ्करवर्मा के समकालीन रहे होंगे। इन्होंने अवन्तिवर्मा के समय में कवि के रूप में प्रसिद्धि पाई होगी और जीवन के उत्तरकाल में समालोचक के रूप में प्रसिद्ध हुए होंगे।

आनन्दवर्धन के समय के सम्बन्ध में जैकोबी महोदय ने एक अन्य सम्भावना प्रकट की है। कल्हण ने 'राजतरङ्गिणी' में जयापीड और ललितापीड के समकालीन मनोरथ नामक कवि का उल्लेख किया है। वह श्लोक इस प्रकार है—

मनोरथः शङ्खदत्तश्चटकः सन्धिमांस्तथा।
बभूवुः कवयस्तस्य वामनाद्याश्च मन्त्रिणः॥ राजतरङ्गिणी ४.४६७॥

अभिनवगुप्त ने लोचनटीका में 'ध्वन्यालोक' के वृत्ति भाग के 'अन्येन कृत एवात्र श्लोक.' की अन्येन पद की व्याख्या इस प्रकार की है—"तथा चान्येनेति। ग्रन्थकृत्समानकालभाविना मनोरथनाम्ना कविना।" इस प्रकार अभिनवगुप्त के अनुसार आनन्दवर्धन और मनोरथ समकालीन थे। जयापीड के उत्तराधिकारी ललितापीड का समय ७८०–८१३ ई० रहा। अतः आनन्दवर्धन को इसी समय होना चाहिये।

परन्तु जैकोबी का यह तर्क सर्वथा असगत है। कल्हण के ही अनुसार आनन्दवर्धन अवन्तिवर्मा के समकालीन थे। उनको ललितापीड के समकालीन पहुँचना सर्वथा असगत है और परम्पराओं को भग करना है। इसी श्लोक मे वामन का उल्लेख है, जो कि निश्चित रूप से आनन्दवर्धन से प्राचीन हैं। 'राजतरङ्गिणी' के इस श्लोक में मनोरथ के उल्लेख का स्पष्टीकरण अनेक प्रकार म हो सकता है—(१) कल्हण ने जयापीड और ललितापीड के राज्यकाल मे मनोरथ का निर्देश करने मे गलती की होगी। (२) अभिनवगुप्त ने मनोरथ को आनन्दवर्धन का समकालीन कहने मे गलती की होगी। (३) 'राजतरङ्गिणी' मे उद्धृत यह मनोरथ एव अभिनवगुप्त द्वारा निर्दिष्ट मनोरथ दो भिन्न व्यक्ति रहे होगे।

---

१. न्यायमञ्जरी की आलोचना इस प्रकार हैं—
एतेनशब्दसामर्थ्यमहिम्ना सोऽपि वारित.।
यमन्य पण्डितम्मन्य प्रपेदेकञ्चन ध्वनिम्॥
विधेर्निषेधावगतिर्विधिबुद्धिर्निषेधत.।
यथा—मम धम्मिग्र वीसत्थो मास्मपान्यगृह विश।
मानान्तरपरिच्छेद्यवस्तुरूपोपदेशिनाम्॥
शब्दानामेव सामर्थ्यं तत्र तत्र तथा तथा।
अथवा नेदृशी चर्चा कविभि सह शोभते।
विद्वासोऽपि विमुह्यन्ति वाक्यार्थगहनेऽध्वनि॥
न्यायमञ्जरी पृ० ४५ (काशी सस्कृत सीरीज)

बाह्य प्रमाणो से भी आनन्दवर्धन का यही समय सिद्ध होता है। आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक मे उद्भट का उल्लेख किया है। उद्भट का समय था ८०० ई० के लगभग का है। राजशेखर ने आनन्दवर्धन की प्रशंसा की है[1]। राजशेखर का समय ९०० ई० के लगभग का है। अतः आनन्दवर्धन के समय को नवी शताब्दी के मध्य से लेकर समाप्ति तक का सरलता से कहा जा सकता है और विष्णुपद भट्टाचार्य का यह कथन ठीक प्रतीत होता है कि आनन्दवर्धन का अन्तिम समय ९०२ ई० समझा जा सकता है[2]।

आनन्दवर्धन के वंश एव जीवन वृत्तान्त के सम्बन्ध मे कोई सामग्री प्राप्त नही होती। केवल यही जाना जा सकता है कि वे नोण या नोणोपाध्याय के पुत्र थे। 'ध्वन्यालोक' की एक पाण्डुलिपि मे तीसरे उद्योत के अन्त मे उन्होंने अपने को नोणसुत कहा है। 'काव्यानुशासन' मे, हेमचन्द्र ने टीका करते हुये आनन्दवर्धन के 'देवीशतक' का उल्लेख किया है और इनको नोणसुत कहा है। देवीशतक के १०१ वें श्लोक में आनन्दवर्धन ने स्वय को नोणसुत कहा है[3]।

३. आनन्दवर्धन की रचनायें

'ध्वन्यालोक' के रचयिता आनन्दवर्धन न केवल समालोचक ही थे, अपितु कवि और दार्शनिक भी थे। इन्होने काव्यो और दर्शन-ग्रन्थो की रचना भी की थी।

आनन्दवर्धन ने तीन काव्य लिखे थे—देवीशतक, विषमबाणलीला और अर्जुनचरित। आनन्दवर्धन का 'देवीशतक' भगवती दुर्गा की आराधना के लिये लिखा गया काव्य है। यह काव्य आनन्दवर्धन के विरोधी चरित को प्रस्तुत करता है। ध्वनिकार ने एक ओर यह लिखा है कि रस से आक्षिप्त होकर जिन अलङ्कारो का नियोजन बिना किसी पृथक् यत्न के हो सके, ध्वनि में उनका ही निवेश होना चाहिये, तथा यमक आदि अलङ्कारो का नियोजन पृथक् यत्न से करना पड़ता है[4] जिस पर टीका करते हुये अभिनवगुप्त का कथन है कि वीर, अद्भुत आदि रसो में भी यमक आदि का नियोजन

---

१. ध्वनिनाऽतिगभीरेण काव्यतत्त्वनिवेशिना।
आनन्दवर्धनः कस्य नासीदानन्दवर्धनः॥
जल्हण की 'सूक्तिमुक्तावली' राजशेखर के नाम से उद्धृत।

२. विष्णुपद भट्टाचार्य कृत ध्वन्यालोकव्याख्या की प्रस्तावना पृष्ठ १५।

३. देव्या स्वप्नोद्गमादिष्टदेवीशतकसंज्ञया।
देशितानुपमामापादतो नोणसुतोनुतिम्॥ काव्यमाला भाग ९॥

४. रसाक्षिप्ततया यस्य बन्धः शक्यक्रियो भवेत्।
अपृथग्यत्ननिर्वर्त्यः सोऽलङ्कारो ध्वनौ मतः॥
यमके च प्रबन्धेन बुद्धिपूर्वकं क्रियमाणे नियमेनैव यत्नान्तरपरिग्रह आपतति शब्दविशेषान्वेषणरूपः॥ ध्वन्यालोक द्वितीय उद्योत कारिका—१६ एवं उसकी वृत्ति॥

रसविघ्नकारी है[1]। दूसरी ओर ध्वनिकार ने स्वय 'देवीशतक' मे शब्दालङ्कारो यमक, मुरजबन्ध, गोमूत्रिकाबन्ध, सर्वतोभद्र, प्रहेलिका, चतुरर्थ, श्लेप आदि अलङ्कारा का नियोजन किया है। इससे इन समालोचको की कथनी और करनी के भेद का स्पष्टीकरण होता है। हो सकता है कि अलङ्कारवादी आचार्यों को समालोचको की आलोचना से क्षुब्ध होकर उन्होने अपने पाण्डित्य का प्रदर्शन किया हो अथवा यह भी हो सकता है कि 'देवीशतक' की रचना इनके प्रारम्भिक जीवन म हुई हो तथा प्रौढ अवस्था मे ध्वनि सिद्धान्त को मान्यता देने पर इन्होने ध्वन्यालोक की रचना की हो। महिमभट्ट ने 'व्यक्तिविवेक' मे आनन्दवधन की इस प्रवृत्ति की कटु आलोचना की है[2]।

आनन्दवर्धन की दो अन्य काव्य रचनाओ का सकेत भी मिलता है— विपम-बाणलीला' और 'अजु न चरित'। इनको इन्होने स्वय 'ध्वन्यालोक' मे उद्धृत किया है। 'विपमबाणलीला' को द्वितीय उद्योत मे[3] तथा 'अर्जुनचरित' को तीसरे उद्योत मे उद्धृत किया गया है[4]।

आनन्दवर्धन दार्शनिक भी थे। इन्होने दशन ग्रन्थो की रचना भी अवश्य की होगी। इनकी एक कृति का सकेत ध्वन्यालोक' के तीसरे उद्योत की ४७ कारिका की वृत्ति मे मिलता है, जो कि लक्षण के अनिर्देश्यत्व के प्रसङ्ग मे है। बौद्ध दशन क्षणभङ्ग-वादी दशन है। बौद्ध सब पदार्थों को क्षणिक मानत है अत उनके अनुसार किसी भी पदार्थ का लक्षण नही किया जा सकता तथा वह अनाख्येय, अनिर्देश्य है। इसका उत्तर ध्वनिकार देते हैं—बौद्धो के मत मे जो सभी पदार्थों के लक्षण को अनिर्देश्य कहा गया

---

१. तेन वीराद्भुतादिरसेष्वपि यमकादि कवे प्रतिपत्तुश्च रसविघ्नकार्येव सर्वत्र। ध्वन्यालोक उद्योत–२ कारिका—१६ की लोचन टीका ॥

२ स्वकृतिष्वनियन्त्रित कथमनुशिष्यादन्यमयमिति न वाच्यम्।
वारयति भिपगपथ्यादितरान् स्वयमाचरन्नपि तत् ॥व्यक्तिविवेक ॥

३ यथा च ममैव विपमबाणलीलायाम्—
ताला जाअन्ति गुणा जाला दे सहिअएहिँ घेप्पन्ति।
रइकिरणानुग्गहिआइँ होन्ति कमलाइँ कमलाइँ ॥
ध्वन्यालोक २ १ की वृत्ति म ॥

यथा वा ममैव विपमबाणलीलायामसुरपराक्रमणे कामदेवस्य—
त ताण सिरिसहोअररअणाहरणम्मि हिअअमेक्करसम्।
बिम्बाहरे पिआण णिवेसिअ कुसुमबाणेन ॥
ध्वन्यालोक २ २७ की वृत्ति मे ॥

४ एतच्च मदीयेऽर्जुनचरितेऽर्जुनस्य पातालावतरणप्रसङ्गे वैशद्येन प्रदर्शितम्।
ध्वन्यालोक ३.२५ की वृत्ति म ॥

इस पर अभिनवगुप्त की टीका है—
प्रदर्शितमिति। 'समुत्थिते धनुर्ध्वनौ भयावहे किरीटिनो महानुपप्लवोऽभवत् पुरे-पुरन्दरद्विषाम्' ॥

है, उनके मत की परीक्षा दूसरे ग्रन्थ मे करेगे[1]। अभिनवगुप्त के अनुसार यह दूसरा ग्रन्थ धर्मोत्तर की विनिश्चयटीका की टीका है[2]। प्रसिद्ध बौद्ध आचार्य धर्मकीर्ति ने बौद्ध दर्शन पर 'प्रमाणविनिश्चय' ग्रन्थ लिखा था। इस पर आचार्य धर्मोत्तर ने 'प्रमाणविनिश्चयटीका' लिखी। आनन्दवर्धन ने इस टीका पर टीका लिखी होगी। वे धर्मकीर्ति से निश्चित रूप से परिचित रहे होंगे, क्योंकि उन्होंने उनके श्लोक को ध्वन्यालोक मे उद्धृत किया है[3]।

आनन्दवर्धन की एक ग्रन्थ रचना 'तत्त्वालोक' का उल्लेख अभिनवगुप्त ने लोचन टीका मे किया है[4]। प्रतीत होता है कि ग्रन्थ अद्वैतवेदान्त दर्शन पर होगा। आनन्दवर्धन ने कुछ और भी दार्शनिक रचनायें एवं काव्य लिखे होंगे, जिनके नाम हमको विदित नहीं हैं। उन्होंने 'ध्वन्यालोक' में ही कुछ श्लोक उदाहरणों के रूप मे ऐसे लिखे हैं जिनको वे अपनी रचना बताते हैं[5]। सुभाषितावलियों मे भी आनन्दवर्धन के नाम से कुछ श्लोक उद्धृत किये गये हैं।

---

१. यत्त्वनिर्देश्यत्वं सर्वलक्षणविषयं बौद्धानां प्रसिद्धं तत्तन्मतपरीक्षायां ग्रन्थान्तरे निरूपयिष्यामः। ध्वन्यालोक ३.४७ की वृत्ति में।

२. ग्रन्थान्तर इति। विनिश्चयटीकायां धर्मोत्तर्यां या विवृतिरमुना ग्रन्थकृता कृता तत्रैव तद् व्याख्यातम्। उपरोक्त पर लोचनटीका।

३. लावण्यद्रविणव्ययो न गणितः क्लेशो महान् स्वीकृतः
स्वच्छन्दस्य सुखं जनस्य वसतश्चिन्तानलो दीपितः।
एषापि स्वयमेव तुल्यरमणाभावाद्वराकी हता
कोऽर्थश्चेतसि वेधसा विनिहितस्तन्व्यास्तनुं तन्वता ॥

इत्यत्र व्याजस्तुतिरलङ्कार·········तथा चायं धर्मकीर्तेः श्लोक इति प्रसिद्धिः।
ध्वन्यालोक ३.४० की वृत्ति में ॥

४. येऽप्यविभक्तं स्फोटं वाच्यं तदर्थं चाहुः, तैरप्यविद्यापदपतितैः सर्वेयमनुसरणीया प्रक्रिया। तदुत्तीर्णत्वे तु सर्वं परमेश्वराद्वयं ब्रह्मेत्यस्मच्छास्त्रकारेण न विदितं तत्त्वालोकग्रन्थं विरचयतेत्यास्ताम्। कारिका १ [illegible] की वृत्ति पर लोचन टीका से।

शान्तस्य इति। तत्रास्वादयोगाभावे पुरुषेणाप्यंत इत्ययमेव व्यपदेशः सादरः, चमत्कारयोगे तु रसव्यपदेश—इति भाव। एतच्च ग्रन्थकारेण तत्त्वालोके वितत्योक्तम् इह रसस्य न मुख्योऽवसर इति नास्माभिस्तद् दर्शितम्। कारिका ४.५ की वृत्ति पर लोचनटीका से ॥

५. यथा ममैव—
या व्यापारवती रसान् रसयितुं काचित् कवीनां नवा,
दृष्टिर्या परिनिष्ठितार्थविषयोन्मेषा च वैपश्चिती।
ते द्वे अप्यवलम्ब्य विश्वमनिशं निर्वर्णयन्तो वयं,
श्रान्ता नैव च लब्धमब्धिशयन ! त्वद्भक्तितुल्यं सुखम् ॥
ध्वन्यालोक ३.४४ की वृत्ति से।

ऊपर के विवरण से यह स्पष्ट है कि आनन्दवर्धन एक ओर जहाँ प्रखर समालोचक थे और उन्होंने 'ध्वन्यालोक' जैसा सर्वाङ्गपूर्ण समालोचना ग्रन्थ लिखा, दूसरी ओर वे कवि और दार्शनिक भी थे तथा उन्होंने काव्यों और दर्शन ग्रन्थों की रचना की थी।

४. कारिकाकार और वृत्तिकार

'ध्वन्यालोक' ग्रन्थ की रचना के सम्बन्ध में आधुनिक समालोचकों ने एक विवाद उपस्थित किया है। 'ध्वन्यालोक' के तीन भाग किये जा सकते हैं—कारिकायें, वृत्ति और उदाहरण। इनमें वृत्ति की रचना और उदाहरणों का सग्रह तो निर्विवाद रूप से आनन्दवर्धन की कृति समझे जाते हैं। परन्तु कारिकाओं की रचना के सम्बन्ध में विवाद है। कुछ आलोचकों के अनुसार ये कारिकायें आनन्दवर्धन की ही रचनायें है तथा कारिकाकार और वृत्तिकार एक ही है। कुछ आलोचकों का विचार है कि कारिकायें आनन्दवर्धन से पूर्व किसी अन्य विद्वान् ने लिखी थी तथा आनन्दवर्धन ने उन कारिकाओं पर वृत्ति की रचना की। इस प्रकार ये विद्वान् कारिकाकार और वृत्तिकार को भिन्न व्यक्ति मानते है।

संस्कृत साहित्य की प्राचीन परम्पराओं के अनुसार कारिकाओं तथा वृत्ति के रचयिता एक ही व्यक्ति आनन्दवर्धन हैं। उत्तरवर्ती प्राय सभी आचार्यों ने प्रतिहारेन्दुराज, कुन्तक, महिमभट्ट, क्षेमेन्द्र, मम्मट, राजशेखर आदि के वाक्य कारिकाओं तथा वृत्ति का रचयिता आनन्दवर्धन को ही मानते हैं। परन्तु अभिनवगुप्त की लोचन-टीका के कुछ अंशों ने यह शङ्का उपस्थित की कि कारिका एवं वृत्ति के रचयिता भिन्न व्यक्ति हैं[१]। इन विद्वानों के अनुसार लोचनटीका में कारिकाकार के लिये मूलग्रन्थकृत् तथा वृत्तिकार के लिये ग्रन्थकृत् पदों का प्रयोग हुआ है। इस प्रश्न को सबसे पहले डा० बूह्लर ने उठाया था तथा कारिकाकार एवं वृत्तिकार के भिन्न व्यक्ति होने की बात कही थी तथा बाद में बूह्लर के कथन का समर्थन प्रो० सोरानी, पी० वी० काणे, एस० के० डे०, शिवप्रसाद भट्टाचार्य आदि विद्वानों ने किया। डा० पी० वी० काणे ने 'संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास' पुस्तक में अभिनवगुप्त की लोचन टीका के उन महत्त्वपूर्ण स्थलों को, जिनसे कारिकाकार एवं वृत्तिकार का भेद प्रकट होता है, इस प्रकार संगृहीत किया है[२]—

(१) अतएव मूलकारिका साक्षात्तन्निराकरणं न श्रूयते। वृत्तिकृत्तु निराकृतमपि

---

१. "From अभिनवगुप्त's tika it appears that verses (कारिका) are the composition of some older writer whose name is not given. But it is remarkable that they contain no मङ्गलाचरण। बी० पी० भट्टाचार्य।

२ संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास—प्रथम संस्करण (मोतीलाल बनारसीदास) १९६६ पृ० २०९-२१०।

प्रभेयसख्या पूरणाय षष्ठेन तदाक्षमनूद्य निराकरोति येऽप्यीत्यादिना।" तेनात्र प्रथमो-द्योते ध्वने सामान्यलक्षणमेव कारिकाकारेण कृतम् द्वितीयोद्योते कारिकाकारोऽवान्तर-विभाग विशेपलक्षण च विदधदनुवादमुखेन मूलविभाग द्विविध सूचितवान्। तदाशया-नुसारेण वृत्तिकृदप्यत्रैवोद्योते मूलविभागमवोचत् इत्यादि। (लोचन पृ० ७१ ७२)।

(२) न चैतन्मयोक्तम् अपितु कारिकाकाराभिप्रायेणेत्याह इति। भवति मूलतो द्विभेदत्व कारिकाकारस्यापि सम्मतमेवेति भाव। (पृ० ७३)।

(३) उक्तमेव ध्वनिस्वरूप तदाभासविवेकहेतुतया कारिकाकारोऽनुवदतीत्यभि-प्रायेण वृत्तिकृदुपस्कार ददाति। (पृ० १४६)।

(४) एतत्तावत् त्रिभेदत्व न कारिकाकारेण कृत वृत्तिकारेण तु दर्शित न चेदानीं वृत्तिकारो भेदप्रकटन करोति। ततश्चेद कृतमिद क्रियत इति कर्तृभेदे का सङ्गति। (पृ० १५०-१५१)।

(५) कारिकाकारेण पूर्वं व्यतिरेक उक्त:। न च सर्वथा न कर्तव्योऽपितु बीभत्सादौ कर्तव्य एवेति पश्चादन्वय। वृत्तिकारेण तु अन्वयपूर्वको व्यतिरेक इति शैलीमनुसर्तुमन्वय. पूर्वमुपात्तः। (पृ० १६०)।

(६) प्रतिपादितमवैषामालम्बनम् (ध्व० पृ० १६६) पर लोचनकार का कथन है—परमन्मूलग्रन्थकृतेत्यर्थ।

(७) एतस्मादौ च विषये यथौचित्यत्यागस्तथा दर्शितमेवाग्रे (ध्व० पृ० १६६–१७०) पर लोचनकार का कथन है—दर्शितमेवेति कारिकाकारेणेतिभूतप्रत्यय.।

(८) अंतिम पाठ का यह अर्थ है—यदि कारिका तथा वृत्ति का रचयिता एक ही होता तो वह आगे चर्चा किये जाने वाले प्रसङ्ग के लिये दर्शितम् के स्थान पर भविष्यत् काल का प्रयोग करता। किन्तु कारिकाओं का रचयिता वृत्तिकार से भिन्न एव पूर्ववर्ती है, अतएव वृत्तिकार ने दर्शितमेवाग्र (कारिकाकारेण) कहा है।

(९) ध्वन्यालोक ४·३ की वृत्ति पर लोचनकार का कथन है—यद्यप्यर्थानन्त्य-मात्रे हेतुर्वृत्तिकारेणोक्तस्तथापि कारिकाकारेण नोक्त इति।

इन उद्धरणों को तथा लोचनटीका के कुछ अन्य वाक्यों को भी उद्धृत करके काणे महोदय ने प्रतिपादित किया है कि लोचन की दृष्टि में वृत्ति के रचयिता आनन्दवर्धन हैं और वे मूलकारिकाकार से भिन्न हैं। इस प्रसग में विद्वान् समालोचक ने कारिकाकार और वृत्तिकार की अभेदता को प्रतिपादित करने वाले तर्कों का खण्डन करके दोनों का पृथक्त्व प्रतिपादित किया है।

डा० एस० के० डे० ने भी प्रथम मतों में कारिकाकार और वृत्तिकार की भिन्नता को प्रतिपादित किया। प्राचीन लेखकों तथा परम्परा पर टिप्पणी करते हुए वे लिखते हैं—

"Indeed, it seems that Anandvardhan in his classical vritti attempted to build up a more or less complete system of poetics upon the losely joined ideas and materials supplied by the brief Karikas,

and his success was probably so marvellous that in course of time, the karikakar receded to the back ground completely overshadowed by the more important figure of his formidable expounder, and people considered as the Dhvanikar not the author of the few memorial verses but the commentator Anandvardhan himself, who for the first time fixed the theory in its present form The term 'Dhvanikar' itself came gradually to be used in the generic sense of the creator of the Dhvani school', and therefore indiscriminately applied by later writers, to Anandvardhan, who, though not himself the founder of the system, came to receive that credit for having first victoriously introduced it in the struggle of the school [1]

कारिकाकार एवं वृत्तिकार की भिन्नता को प्रतिपादित करने के लिये डा० पी० वी० काणे, सोबानी, डा० एस० के० डे आदि विद्वानों ने अनेक तर्क विस्तार से प्रस्तुत किये हैं, परन्तु इस स्थल पर उन सबको विस्तृत रूप से देना सम्भव नहीं होगा। तथापि संक्षेप में उनके कुछ तर्कों को प्रस्तुत किया जा सकता है—

(१) डा० काणे का कथन है कि प्राचीन काल में ग्रन्थों में जहाँ कारिका एवं वृत्ति के रचयिता एक ही हैं, उन्होंने अपने ग्रन्थों में इसका प्राय निर्देशवाद किया है। 'ध्वन्यालोक' से लगभग १०० वर्ष पूर्व के वामन ने स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि सूत्र और वृत्ति दोनों उसने लिखे हैं। हेमचन्द्र ने भी इसी प्रकार किया है। अर्थशास्त्र के अन्त में विष्णुगुप्त ने भी यह बात प्रकट की है।[2]

(२) ध्वन्यालोक में अनेक परिकर श्लोक है, जिनमें से कुछ श्लोक कारिकाओं से भी अधिक सारगर्भित है। जैसे—

(क) विच्छित्तिशोभिनैकेन भूषणेनेव कामिनी।
पदद्योत्येन सुकवेर्ध्वनिना भाति भारती॥ ध्वन्यालोक ३ १ की वृत्ति में॥

(ख) अव्युत्पत्तिकृतो दोषः शक्त्या संव्रियते कवेः।
यस्त्वशक्तिकृतस्तस्य स झटित्येवावभासते॥
ध्वन्यालोक ३.६ की वृत्ति में॥

(ग) अनौचित्यादृते नान्यद् रसभङ्गस्य कारणम्।
प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत् परा॥
ध्वन्यालोक ३ १४ की वृत्ति में॥

यदि कारिकाओं एवं वृत्ति का रचयिता एक ही व्यक्ति होता, तो वह इन श्लोकों को अप्रधान स्थिति में न रखकर कारिकाओं के अन्तर्गत क्यों नहीं रखता।

---

१ विष्णुपद भट्टाचार्य कृत ध्वन्यालोक की अंग्रेजी व्याख्या की प्रस्तावना के पृष्ठ XXXII से उद्धृत।

२. स्वयमेव विष्णुगुप्तश्चकार सूत्रं भाष्यं च।

अन्य ग्रन्थकारो—मम्मट आदि ने, जो कारिकाकार भी हैं तथा वृत्तिकार भी है, ऐसा नही किया । अत कारिकाकार और वृत्तिकार अलग अलग व्यक्ति है ।

(३) 'ध्वन्यालोक' की कारिका २.२३[1] से पूर्व आये 'तथा च' पद की व्याख्या अभिनवगुप्त ने इस प्रकार की है—

प्रकान्तप्रकारद्वयोपसहार तृतीयप्रकारसूचन चैवैनैव यत्नेन करोमीत्याशयेन साधारणमवतरणपद प्रक्षिपति वृत्तिकृत्–तथा चेति ।

भाव यह है कि कारिकाकार ने तो शब्दशक्तिमूल एव अर्थशक्तिमूल दो ही प्रकार की ध्वनि का निर्देश किया था, परन्तु वृत्तिकार तीसरे प्रकार की ध्वनि उभयशक्तिमूल की सूचना देने के लिये साधारण अवतरण पद को दे रहे हैं । काणे महोदय का कहना है कि यदि कारिकाकार एव वृत्तिकार एक ही होते तो यहां मूल कारिका मे ही ध्वनि के इन तीनो भेदो की गणना कर ली जाती । यहां वृत्ति मे तीन भेदों की गणना करने से वृत्तिकार पर जो उत्सूत्र व्याख्यान का दोष लगता है, वह भी नही लगता ।

(४) 'ध्वन्यालोक' की कारिकाओ से पूर्व मङ्गल श्लोक का न होना कारिकाकार और वृत्तिकार की एकता का प्रतिपादन नही करता । यद्यपि प्राचीन ग्रन्थकार ग्रन्थ के प्रारम्भ मे मङ्गलाचरण की परम्परा का पालन प्राय किया करते थे, तथापि सभी प्राचीन लेखको ने इस प्रथा का सर्वत्र पालन किया हो ऐसा नही है । अनेक ग्रथकारो ने अपनी रचना के प्रारम्भ मे मङ्गलाचरण नही किया । उदाहरण के लिये शबर ने जैमिनीय सूत्रो के भाष्य के प्रारम्भ मे, शङ्कराचार्य ने ब्रह्मसूत्रो के भाष्य के प्रारम्भ मे, वात्सायन ने न्यायसूत्रो के भाष्य के प्रारम्भ मे, उद्योतकर ने न्यायवार्तिको के भाष्य के प्रारम्भ मे और मण्डन मिश्र ने 'विधिविवेक' के भाष्य के प्रारम्भ मे मङ्गलाचरण नही किया ।

मङ्गलाचरण के सम्बन्ध मे साहित्यशास्त्र के ग्रन्थो मे भी विभिन्न परम्परायें रही हैं । वामन ने सूत्रो के आरम्भ मे मङ्गल नही किया, अपितु वृत्ति के प्रारम्भ मे किया है । मम्मट ने कारिकाओ के आरम्भ मे मङ्गल कारिका लिखी, परन्तु वृत्ति के आरम्भ मे नही लिखी । उद्भट ने अपना अलङ्कार ग्रन्थ 'काव्यालङ्कार' बिना मङ्गल के ही लिखा । 'अलकार सर्वस्व' के सूत्रो के प्रारम्भ मे मङ्गल नही है, अपितु वृत्ति के प्रारम्भ मे हैं । हेमचन्द्र ने सूत्र और वृत्ति दोनो के आरम्भ मे मङ्गल रखा है । अत ग्रन्थ के आरम्भ मे मङ्गलाचरण का कोई निश्चित अनिवार्य नियम प्राचीनकाल मे नही था । जैसे पाणिनि ने सूत्रो के प्रारम्भ मे 'वृद्धि' पद का प्रयोग करके मङ्गलाचरण कर दिया था, उसी प्रकार कारिकाकार के 'काव्यस्यात्मा' पद ही मङ्गलवाची हो गये । अत. मङ्गलाचरण के आधार पर कारिकाकार एव वृत्तिकार मे अभेद का प्रतिपादन नही किया जा सकता ।

---

१. शब्दार्थशक्त्याक्षिप्तोऽपि व्यङ्ग्योऽर्थो कविना पुनः ।
यत्राविष्क्रियते स्वोक्त्या सा यैवालङ्कृतिर्ध्वने. ॥

(५) 'स्वेच्छाकेसरिण'० मंगल श्लोक की टीका करते हुए अभिनवगुप्त इसको वृत्तिकार की रचना बताते हैं,[1] जबकि पहली कारिका उनके अनुसार आदि वाक्य है[2]। इससे सिद्ध है कि उनके अनुसार 'काव्यस्यात्मा०' कारिकाकार की प्रथम कारिका है और 'स्वेच्छाकेसरिण०' वृत्तिकार का मंगल श्लोक है तथा कारिका एवं वृत्ति के रचयिता भिन्न भिन्न व्यक्ति हैं।

जबकि डा० काणे आदि विद्वानों ने कारिकाओं और वृत्ति के रचयिताओं को पृथक् माना है तो कारिकाकार कौन था? यह प्रश्न उत्पन्न होता है। वृत्ति के रचयिता आनन्दवर्धन हैं, इसमें कोई विवाद नहीं है। अतः कारिकाओं के रचयिता के नाम पर ही विचार करना शेष रह जाता है। परन्तु इससे भी पहले ग्रन्थ के नाम को लेकर कुछ विवेचन आवश्यक है, जिससे इस प्रश्न पर भी प्रकाश पड़ता है।

प्राचीन हस्तलिखित पुष्पिकाओं में इस ग्रन्थ को काव्यालोक, सहृदयहृदयालोक काव्यालंकार, ध्वनि आदि अनेक नामों से कहा गया है। लोचनकार ने इसको 'काव्यालोक' कहा है तथा यह तथ्य लोचनटीका के प्रारम्भिक तथा अन्तिम श्लोकों से स्पष्ट होता है।[3] भरतनाट्यशास्त्र की 'अभिनवभारती' टीका में अभिनवगुप्त ने इस ग्रन्थ को 'सहृदयालोक' कहा था[4]। 'ध्वन्यालोक' की चतुर्थ उद्योत की वृत्ति के अन्तिम से पहले श्लोक के अनुसार मूल ग्रन्थ का नाम 'काव्य' या 'ध्वनि' रहा होगा[5] तथा

१. स्वयमव्युच्छिन्न' परमेश्वरसामुख्य करोति वृत्तिकार।

२. अथ प्राधान्येन प्रयोजन च सामर्थ्यात् प्रकटयन्नादिवाक्यमाह काव्यस्यात्मेति।

३ भट्टेन्दुराजचरणाब्जकृताधिवास-
हृद्यश्रुतोऽभिनवगुप्तदाभिधोऽहम्।
यत्किञ्चिदप्यनुरणन् स्फुटयामि काव्या-
लोकं स्वलोचननियोजनया जनस्य॥

लोचनटीका प्रस्तावना दूसरा श्लोक॥

आनन्दवर्धनविवेकविकासिकाव्या-
लोकार्थतत्त्वघटनादनुमेयसारम्।
यत्प्रोन्मिषत्सकलसद्विषयप्रकाशि-
व्यापायताभिनवगुप्तविलोचनं तत्॥ लोचनटीका के अन्तिम श्लोकों में॥

४ स्वशब्दानभिधेयत्वं हि रसादीनां ध्वनिकारादिभिर्दर्शितम्। तच्च मदीयादेव तद्विवरणात् सहृदयालोकलोचनादवधारणीयम्। भरत ना० शा० के अ० ७ भाग १ पद अभिनवगुप्त की टीका।

५ इत्यक्लिष्टरसाश्रयोचितगुणालङ्कारशोभाभृतो
यस्माद्वस्तु समीहितं सुकृतिभिः सर्वं समासाद्यते।
काव्याख्येऽखिलसौख्यधाम्नि विबुधोद्याने ध्वनिर्दर्शितः
सोऽयं कल्पतरूपमानमहिमा भोग्योऽस्तु भव्यात्मनाम्॥

उसकी व्याख्या करने के आधार पर प्रस्तुत ग्रन्थ का नाम 'काव्यालोक' या ध्वन्यालोक रखना ठीक होगा। राघवभट्ट ने 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' की टीका में इस ग्रन्थ को 'सहृदयहृदयालोक' कहा था।[1]

कारिकाओं के रचयिता का नाम 'सहृदय' था, ऐसी कल्पना डा० काणे, सोवानी आदि विद्वानों ने की है। डा० सोवानी ने इस कल्पना का आधार 'सहृदयालोक' नाम को लिया है। क्योंकि आनन्दवर्धन की वृत्ति का नाम 'सहृदयालोक' है, अतः मूल कारिकाओं के लेखक का नाम सहृदय हो सकता है। लोचनटीका के मंगल श्लोक में आये पद 'कवि सहृदयाख्यम्'[2] के आधार पर भी वे कारिकाओं के लेखक का नाम सहृदय प्रतिपादित करते हैं।

डा० काणे का कथन है कि कारिकाकार का नाम सहृदय था, इसको प्रतिपादित करने के लिये तथ्य अपर्याप्त हैं तथा प्रो० सोवानी ने जिस आधार पर इसको प्रमाणित किया है, उनसे उनका मन्तव्य निश्चित रूप से सिद्ध नहीं होता। कारिकाकार का नाम अभी तक निश्चित नहीं किया जा सका।[3] तथापि उन्होंने इसके लिये कुछ और प्रमाण प्रस्तुत किये—

(१) अभिधामातृकावृत्ति' की रचना मुकुलभट्ट ने अभिनवगुप्त से लगभग १०० वर्ष पहले की थी। उसमें लिखा है—

(क) 'लक्षणामार्गावगाहित्वं तु ध्वनेः सहृदयैर्नूतनतयोपवर्णितस्य विद्यत इति दिशमुन्मीलयितुमिदमत्रोक्तम्।"

अर्थात् आदरणीय सहृदय द्वारा नूतन रूप से प्रतिपादित ध्वनि का अन्तर्भाव लक्षणा में ही हो जाता है।

(ख) 'तथाहि तत्र विवक्षितान्यपरता सहृदयैः काव्यवर्त्मनि निरूपिता।"

आदरणीय सहृदय ने काव्य के मार्ग में विवक्षितान्यपरता का निरूपण किया था।

इससे सिद्ध है कि मुकुलभट्ट से पूर्व सहृदय ने ध्वनि के नये सिद्धान्त को प्रवर्तित किया था।

(२) मुकुल के शिष्य प्रतिहारेन्दुराज ने लिखा है—

ननु यत्र काव्ये सहृदयहृदयाह्लादिनः प्रधानभूतस्य स्वशब्दव्यापारास्पृष्टत्वेन प्रतीयमानैकरूपस्यार्थस्य सद्भावस्तत्र तथाविधार्थाभिव्यक्तिहेतुः काव्यजीवितभूतः कैश्चित् सहृदयैर्ध्वनिर्नाम व्यञ्जकत्वभेदात्मा काव्यधर्मोऽभिहितः।"

इन वाक्यों से प्रतीत होता है कि ध्वनि के सिद्धान्त का मूल प्रतिपादक सहृदय रहा होगा तथा कारिकाओं की रचना उसने ही की होगी।

---

१ यदुक्तं राजानकानन्दवर्धनैः सहृदयहृदयालोके ' निबन्धनम्।
२ सरस्वत्यास्तत्त्वं कविसहृदयाख्यं विजयते। लोचनटीका का मंगल श्लोक।
३. डा० पी० वी० काणे—संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास पृ० २४५।

(३) 'ध्वन्यालोक' में *स्थान-स्थान पर सहृदय का नाम आदर से लिया गया* है। 'सहृदयमन.प्रीतये' की वृत्ति मे आनन्दवर्धन ने "सहृदयानामानन्दो मनसि लभता प्रतिष्ठाम्" पद लिखकर सहृदय के प्रति आदर व्यक्त किया है। इससे अनुमान लगाया गया है कि आनन्दवर्धन के गुरु सहृदय थे, जिन्होंने कारिकाओं की रचना की एवं आनन्दवर्धन ने उन पर वृत्ति की रचना की।

प्रो० काणे आदि के मत का अन्य समालोचकों ने प्रबल विरोध किया है। डा० शकरन्, डा० सतकारी मुकर्जी, डा० कृष्णमूर्ति आदि विद्वानों का मन्तव्य है कि कारिकाकार एवं वृत्तिकार एक *ही व्यक्ति आनन्दवर्धन थे तथा उनमे भेद मानने का* कोई औचित्य नही है। इनके मतों और युक्तियों की विस्तृत विवेचना यहाँ सम्भव *नहीं होगी, तथापि सक्षेप से अभिन्नता की युक्तियों को निम्न प्रकार से प्रस्तुत किया* जा सकता है—

(१) सस्कृत साहित्यकार की प्राचीन परम्परा 'ध्वन्यालोक' के कारिकाकार एवं वृत्तिकार को एक ही व्यक्ति मानती है। प्राचीनकाल मे भारतवर्ष मे, विशेष रूप से काश्मीर मे यह परम्परा रही कि एक विद्वान् अपने सिद्धान्तों को प्रतिपादन करते हुए पहले सूत्र या कारिका की रचना करता था तथा उसको समझाने के लिए बाद मे वृत्ति लिखता था। आनन्दवर्धन ने भी इस परम्परा का पालन किया था।

२ कारिकाकार एवं वृत्तिकार मे व्यक्तिभिन्नता का प्रतिपादन मुख्य रूप से अभिनवगुप्त की लोचन टीका के कुछ अशों के आधार पर किया जाता है। परन्तु *अभिनवगुप्त ने ही 'ध्वन्यालोक' की लोचन टीका म तथा 'नाट्यशास्त्र' की अभिनव*-भारती टीका म ऐसी पक्तियाँ लिखी हैं, जो कारिकाकार एवं वृत्तिकार के एकत्व को प्रतिपादित करती है। जैसे—

(क) "एवं कारिका व्याख्याय तदसङ्गृहीतमलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य प्रपञ्चयितुमाह अस्त्विति।" ध्वन्यालोक ३.२ कारिका की लोचन टीका।

(ख) 'एवं व्यङ्ग्यस्वरूप निरूप्य सर्वथा यत्तच्छून्य तत्र का वार्तेति निरूपयितु-माहप्रधानेत्यादिना कारिकाद्वयेन।" ध्वन्यालोक ३ ४१ कारिका की लोचन टीका।

(ग) स्वशब्दानभिधेयत्व हि रसादीना ध्वनिकारादिभिर्दर्शितम्। तच्च मदीयादेव तद्विवरणात् सहृदयालोकलोचनादवधारणीयमिह तु यथावसर वक्ष्यत एव।" भ० ना० शा० अ० ७ भा० १ पर अभिनवभारती टीका।

(घ) "एतमेवार्थं सम्यगानन्दवर्धनाचार्योऽपि विविच्य न्यरूपयत्। 'ध्वन्यात्मभूते०' (ध्व० २ १७) इत्युक्तवा क्रमेण 'विवक्षा तत्परत्वेन०' (ध्व० २.१८) इत्यादिना ग्रन्थसन्दर्भेण सोदाहरणेन। तच्चास्माभि सहृदयालोकलोचने तद्विवरणे विस्तरतो व्याख्यातम्।"

इन वाक्यों से यह स्पष्ट है कि ध्वनिकार आनन्दवर्धन ही है तथा कारिकाओं की रचना भी उन्होंने ही की थी।

(३) यदि यह मान भी लिया जावे कि अभिनवगुप्त कारिकाकार और वृत्तिकार को भिन्न भिन्न व्यक्ति मानते थे, तो भी इससे उनका भेद सिद्ध नहीं हो जाता। अभिनवगुप्त का समय आनन्दवर्धन के लगभग १८० वर्ष बाद का था। हो सकता है कि कारिकाकार एवं वृत्तिकार की भिन्नता को प्रतिपादित करने में वे गलत रहे हों। अभिनवगुप्त से पूर्ववर्ती साहित्यशास्त्रियों ने और बाद के साहित्यशास्त्रियों ने कारिकाकार एवं वृत्तिकार को एक ही माना है। स्वयं अभिनवगुप्त के शिष्य क्षमेन्द्र के अनुसार कारिकाकार एवं वृत्तिकार एक है। इनके मतों को आगे कहा जा रहा है।

(४) आनन्दवर्धन ने कहीं भी कारिकाकार के नाम का स्वयं उल्लेख नहीं किया। न ही अभिनवगुप्त ने स्वयं कारिकाकार के नाम का उल्लेख किया है जब कि वह आनन्दवर्धन का नाम ध्वनिकार के रूप में आदर से लेता है। यदि कारिकाकार एवं ध्वनिकार भिन्न भिन्न होते तो आनन्दवर्धन या अभिनवगुप्त कारिकाकार का नाम अवश्य उद्धृत करते। यदि कारिकाओं का रचयिता आनन्दवर्धन से अतिरिक्त कोई अन्य है और वे उसका नाम उद्धृत नहीं करते हैं तो उन पर साहित्यिक चोरी का दोष लगाया जा सकता है।

(५) आनन्दवर्धन ने स्वयं अपने को ध्वनि का प्रतिष्ठाता कहा है और किसी अन्य का नाम वे नहीं लेते। ध्वन्यालोक की एक प्रति में निम्न श्लोक मिलता है—

इति काव्यार्थविवेको योऽयं चेतश्चमत्कृतिविधायी।
सूरिभिरनुसृतसारैरस्मदुपज्ञो न विस्मार्यः॥

इस श्लोक के अनुसार यह 'ध्वन्यालोक' सम्पूर्ण रूप से आनन्दवर्धन की उपज्ञा है अर्थात् उन्होंने ही इसकी प्रतिष्ठा की है। इसके अतिरिक्त [illegible] के अन्तिम श्लोक—

सत्काव्यतत्त्वविषयं स्फुरितप्रसुप्त-
कल्पं मनस्सु परिपक्वधियां यदासीत्।
तद् व्याकरोत् सहृदयोदयलाभहेतो-
रानन्दवर्धन इति प्रथिताभिधानः॥

से भी यही विदित होता है कि सम्पूर्ण ध्वन्यालोक का (कारिका और वृत्ति का) रचयिता आनन्दवर्धन ही है।

(६) डा० के० सी० पाण्डे का कथन है कि अभिनवगुप्त के गुरु उत्पलदेव ने 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञा' नामक ग्रन्थ की रचना कारिकाओं में की थी तथा उन पर स्वयं वृत्ति भी लिखी थी। इस पर अभिनवगुप्त ने विमर्शिनी नामक टीका लिखी। इस टीका में अभिनवगुप्त ने कहीं भी यह संकेत नहीं किया कि कारिका और वृत्ति एक ही व्यक्ति की रचना है। [illegible] 'ध्वन्यालोक' की कारिकाओं और वृत्ति के रचयिता को भिन्न [illegible]।

(७) एक प्रश्न यह भी उपस्थित होता है कि अभिनवगुप्त ने लोचनटीका क्या सम्पूर्ण 'ध्वन्यालोक' पर, कारिका और वृत्ति दोनो पर लिखी थी, या केवल वृत्ति पर लिखी थी ? यदि लोचनटीका कारिका और वृत्ति दोनो पर लिखी गई है तो इनको एक व्यक्ति की रचना मानने मे आपत्ति नही होनी चाहिये । लोचनटीका को देखने मे स्पष्ट रूप मे प्रतीत होता है कि ये दोनो ही भाग इस टीका मे व्याख्या किये गये है । अत कारिका और वृत्ति एक ही व्यक्ति की रचना हैं । इस सम्बन्ध मे डा० काणे का कथन है कि अभिनवगुप्त ने केवल वृत्ति भाग की ही व्याख्या की है । वे अपनी टीका 'काव्यालोकलोचन' या सहृदयालोकलोचन कहते हैं जो कि वृत्ति भाग का ही निर्देश करते हैं । यदि कारिकाओ का कही व्याख्यान है, तो वह निर्देशमात्र है । परन्तु काणे महोदय का यह तर्क कुछ जमता नही । लोचनटीका दोनो ही भागो की व्याख्या करती है ।

(८) एक प्रश्न और भी उपस्थित किया गया है । प्राचीन भारत मे ग्रन्थ रचना के सम्बन्ध मे परम्परा थी कि सबसे पहले मगलाचरण किया जावे और उसके पश्चात् मूलग्रन्थ को आरम्भ किया जावे । ध्वन्यालोक के वृत्ति भाग मे तो 'स्वेच्छाकेसरिण' के रूप मे मगलाचरण है परन्तु कारिका भाग के प्रारम्भ मे नही है । इससे सिद्ध है कि ये दोनो भाग एक ही व्यक्ति की वृत्ति हैं तथा आनन्दवर्धन ने मगलाचरण करके कारिकाओ की तथा तदनन्तर वृत्ति की रचना आरम्भ की थी ।

(९) यदि कारिकाओ और वृत्ति की रचना भिन्न भिन्न व्यक्तियो न की थी, तो कारिकाकार का नाम जानना भी अनिवार्य है । डा० काणे, प्रो० सोवानी आदि समालोचको के अनुसार कारिकाओ के रचयिता का नाम सहृदय था । परन्तु साहित्य-शास्त्र मे सहृदय व्यक्तिवाचक नही है, अपितु विशेषण है । अनेक आचार्यों ने सहृदय शब्द के अर्थ को स्पष्ट किया है । लोचनकार ने सहृदय पद की व्याख्या इस प्रकार की है—

"सहृदयानामिति । येषां काव्यानुशीलनाभ्यासवशाद् विशदीभूते मनोमुकुरे वर्णनीयतन्मयीभवनयोग्यता ते स्वहृदयसंवादभाज सहृदया ।"

अर्थात् काव्यों के अनुशीलन का अभ्यास हो जाने से जिनके मन रूपी दर्पण स्वच्छ हो जाते हैं, उन मनो मे वर्णनीय वस्तु के साथ जिनकी तन्मय हो जाने की योग्यता हो जाती है, अपने हृदय के साथ सवाद (तन्मयता के कारण आनन्द की स्थिति) रखने वाले वे सहृदय हैं ।

आनन्दवर्धन ने स्वय सहृदय पद का प्रयोग काव्यरसज्ञों के लिये किया है— "वैकटिका एव हि रत्नतत्त्वविद", "सहृदया एव हि काव्यानां रसज्ञा इति कस्यात्र विप्रतिपत्ति"।[1]

आनन्दवर्धन ने सहृदय काव्यरसिको के आनन्द की प्राप्ति के लिये इस ग्रन्थ की रचना की तथा इसी विशेषता के कारण अभिनवगुप्त ने इनको 'सहृदयचक्रवर्ती'

१. ध्वन्यालोक ३.४८ की वृत्ति से ।

की उपाधि से विभूषित किया[1]। इस प्रकार कारिकाकार को 'सहृदय' नाम देना उचित नहीं है और इस आधार पर इनके व्यक्तित्व को भिन्न भी नहीं माना जा सकता।

(१०) राजशेखर ने काव्यमीमांसा में आनन्दवर्धन को उद्धृत करते हुये लिखा है -

प्रतिभाव्युत्पत्त्योः प्रतिभा श्रेयसी इत्यानन्द । सा हि कवेरव्युत्पत्तिकृत दोषमशेषमाच्छादयति । तत्राह–"अव्युत्पत्तिकृतो दोषः शक्त्या संव्रियते कवेः । यस्त्वशक्तिकृतस्तस्य भगित्येवावभासते" ॥

आनन्दवर्धन के नाम से उद्धृत यह पद्य ध्वन्यालोक ३.६ की वृत्ति में है।

इसके साथ ही जल्हण की सूक्ति मुक्तावली में राजशेखर के नाम से एक पद्य है।

ध्वनिनातिगभीरेण काव्यतत्त्वनिवेशिना ।
आनन्दवर्धनः कस्य नासीदानन्दवर्धन ॥

इससे स्पष्ट है कि राजशेखर के समय में आनन्दवर्धन ध्वन्यालोक की वृत्ति के रचयिता के रूप में तो प्रसिद्ध हो ही चुके थे, वे ध्वनिकार के रूप में भी प्रसिद्धि प्राप्त कर चुके थे।

(११ मुकुलभट्ट के शिष्य प्रतिहारेन्दुराज ने ध्वनि का समावेश अलङ्कारों में प्रतिपादित किया है। उसने ध्वनि के तीन भेदों—वस्तु, अलङ्कार रस को बताकर कहा है कि ये अलङ्कार ही है। प्रतिहारेन्दुराज का कहना है कि 'ध्वन्यालोक' में इन ध्वनियों के जो उदाहरण दिये गये हैं, वे वस्तुतः अलङ्कारों के हैं। इस तथ्य का प्रतिपादन करते वे लिखते हैं—

(क) तत्र हि प्रतीयमानैकरूपस्य वस्तुनैविध्य तैरुक्तं (तैः=सहृदयैः), वस्तुमात्रालङ्काररसादिभेदेन । तत्र वस्तुमात्रं तावत्प्रतीयते यथा चक्राभिघातप्रसभाजयैव ।

(ख) वाच्यशक्त्याश्रयं (व्यञ्जकत्वम्) तु रसादिवस्तुमात्रालङ्काराभिव्यक्तिहेतुत्वात् त्रिविधम्। तत्र यत्तावद् वाचकशक्त्याश्रयं व्यङ्ग्यभूतालङ्कारैकनियत शब्दशक्तिमूलानुरणनरूपव्यङ्ग्यतया सहृदयैर्व्यञ्जकत्वमुक्तं "सर्वैकशरणमक्षयम्" इत्यादौ, तत्र शब्दशक्त्या ये प्रतीयन्ते विरोधादयोऽलङ्कारास्तत्सत्स्तत्स्वभाव वाच्यमवगम्यते । अतस्तत्र वाच्यस्य विवक्षैव ।

(ग) अत एव सहृदयैर्यत्र वाच्यस्य विवक्षितत्वं तत्रैव वस्त्वलङ्कारयोः प्रतीयमानयोर्वाच्येन सह क्रमव्यवहारः प्रवर्तितोऽर्थशक्तिमूलानुरणनरूपव्यङ्ग्यो ध्वनिरित्युक्तं न तु वाच्यविवक्षायामपि । यत्र च वाच्यस्याविवक्षा पूर्वमुक्ता रामोऽस्मीति सुवर्णपुष्पामिति च तत्र वचमविवारापेतप्रस्तुतार्थानुबन्धिवस्तूपनिबन्धनादप्रस्तुतप्रशंसाभेदत्वमेव न्याय्य मन्यामहे।

---

१ यथा मनसि प्रतिष्ठा एव विषयस्य मन. सहृदयचक्रवर्ती खल्वयं ग्रन्थकृदिति ठ वा । ध्वन्यालोक १ १ की वृत्ति पर लोचनटीका।

प्रतिहारेन्दुराज के इन वचनों से यह निष्कर्ष निकलता है कि वे कारिका और वृत्ति दोनों का रचयिता सहृदय को मानते थे तथा कारिकाकार और वृत्तिकार एक ही थे। सहृदय पद का प्रयोग आनन्दवर्धन के लिये ही था।

(१२) वक्रोक्तिजीवित' में कुन्तक ने वृत्तिकार को ध्वनिकार के नाम से ही सम्बोधित किया है एवं उनके एक पद्य को रूढिवक्रता के रूप में प्रस्तुत करके लिखा है—

ध्वनिकारेण व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावोऽत्र सुतरां समर्थित कि पौनरुक्त्येन।

अतः कुन्तक आनन्दवर्धन को ध्वनिकार मान कर कारिकाकार एवं वृत्तिकार के एकत्व को प्रतिपादित करते हैं।

(१३) काश्मीर निवासी महिमभट्ट लोचनकार अभिनवगुप्त के लगभग समकालीन थे। उन्होंने ध्वनिकार के मत का खण्डन करने के लिये ही 'व्यक्तिविवेक' नामक ग्रन्थ की रचना की थी। महिमभट्ट ने कारिका एवं वृत्ति का रचयिता एक ही व्यक्ति को माना है। उन्होंने "यत्रार्थः शब्दो वा०" (ध्व० १ १३) कारिका को उद्धृत करके उसे ध्वनिकार की रचना बताया है और साथ ही अन्य स्थल पर वृत्ति को उद्धृत करके उसको भी ध्वनिकार की रचना बताया है। इस प्रकार महिमभट्ट कारिकाकार और वृत्तिकार एक ही व्यक्ति को मानते हैं।

(१४) जयन्तभट्ट ने 'न्यायमञ्जरी' में ध्वनिसिद्धान्त की आलोचना की है। जयन्त राजा शङ्करवर्मा की राजसभा में थे, जैसा कि 'राजतरङ्गिणी' के एक श्लोक से स्पष्ट है। यह शङ्करवर्मा आनन्दवर्धन के आश्रयदाता अवन्तिवर्मा का उत्तराधिकारी था। अतः जयन्तभट्ट या तो आनन्दवर्धन का समकालीन था, या उनके तुरन्त बाद हुआ था। इनकी इस आलोचना को पृष्ठ ६ पर उद्धृत किया जा चुका है। इस आलोचना में जयन्तभट्ट ने ध्वन्यालोक की वृत्ति में से एक 'भम धम्मिअ०' पद्य का निर्देश किया है। इससे यह प्रतीत होता है कि जयन्त की दृष्टि में ध्वनिसिद्धान्त को स्थापित करने वाला तथा 'भम धम्मिअ०' उदाहरण को प्रस्तुत करने वाला व्यक्ति एक ही है। अतः कारिकाकार और वृत्तिकार को भिन्न मानने का कोई औचित्य नहीं है।

(१५) क्षेमेन्द्र ने, जो कि अभिनवगुप्त का ही शिष्य था, 'औचित्यविचारचर्चा' की रचना की थी उसमें ध्वन्यालोक' की निम्न कारिका को आनन्दवर्धन के नाम से उद्धृत किया है—

"विरोधी वा विरोधी वा रसाङ्गिनि रसान्तरे।...विरोधिना॥"[१]

क्षेमेन्द्र, जो कि अभिनवगुप्त का ही शिष्य था, उसके कथन को अभिनवगुप्त का ही मत समझा जा सकता है। इस आधार पर भी कारिकाकार और वृत्तिकार दोनों आनन्दवर्धन ही हो सकते हैं।

१ ध्वन्यालोक में यह कारिका इस प्रकार है—
अविरोधी विरोधी वा रसोऽङ्गिनि रसान्तरे।
परिपोषं न नेतव्यस्तथा स्यादविरोधिता॥ ३ २४॥

(१६) हेमचन्द्र ने 'काव्यानुशासन' मे ध्वन्यालोक' की कुछ कारिकाओ को आनन्दवधन के नाम से उद्धृत किया है। ये कारिकायें प्रतीयमान पुनरन्यदेव० (१/४) ३.३० तथा ३.३६ है। अत हेमचन्द्र की सम्मति में आनन्दवर्धन ही कारिका और वृत्ति दोनो के रचयिता थे।

(१७) उदयोत्तुग ने 'ध्वन्यालोक' की लोचनटीका की कौमुदी नामक टीका लिखी थी। इस टीका मे लोचन के मङ्गल श्लोक के अन्तिम चरण "सरस्वत्यास्तत्त्व कविसहृदयाख्य विजयते" की एक व्याख्या उसने इस प्रकार की है—

"यदि वा कविशब्देन सर्वेऽपि वयम सहृदया गृहीता सहृदयशब्देनानन्दवर्धनाचार्य ततश्च देवतात्मत्वे गुरुनमस्कारोऽपि अनुसहितो भवति।"

इससे प्रतीत होता है कि वे सहृदय पद को आनन्दवधन का द्योतक समझते थे और उनकी सम्मति म कारिकाओ का लेखक अन्य कोई सहृदय नही है। अत कारिकाकार और वृत्तिकार को भिन्न मानने मे कोई औचित्य नही है।

(१८) विश्वनाथ कविराज ने "साहित्य दर्पण" मे ध्वन्यालोक की कारिकाओ १.१ एव २ १२ को ध्वनिकृत के नाम से उद्धृत किया है। इसके साथ ही उसने वृत्ति के भाग "न हि कवेरितिवृत्तमात्रनिर्वाहेण' को भी ध्वनिकारकृत बताया है। अतः वे कारिकाओ और वृत्ति का रचयिता एक ही व्यक्ति को मानते हैं।

(१६) पडितराज जगन्नाथ ने भी आनन्दवर्धन को ही ध्वनि के सिद्धान्त की स्थापना करने वाला प्रतिपादित किया है। वे लिखत हैं—

'ध्वनिकृतामालङ्कारिकसरणिव्यवस्थापकत्वात्"।

इस प्रकार आनन्दवधन के बाद से लेकर विश्वनाथ कविराज तक जितने भी समालोचक और विद्वान् हुये, उन्होने कारिकाकार एव वृत्तिकार मे भेद का प्रतिपादन नही किया और वे आनन्दवर्धन को ही कारिकाओ और वृत्ति का रचयिता मानते रहे। अभिनवगुप्त की लोचनटीका का प्रमाण भी इस भिन्नता को प्रतिपादित करने के लिये असन्दिग्ध नही है। इस अवस्था म भारतीय परम्परा के अनुसार आनन्दवर्धन को कारिका एव वृत्ति दोनो का रचयिता मानने मे विशेष दोष दृष्टिगोचर नही होता।

इतना होते हुये भी, कारिकाकार और वृत्तिकार को भिन्न मानने वालो की युक्तियाँ सर्वथा निस्सार नही हैं। इसलिये नितान्त सन्देह रहित होकर किसी पक्ष मे निर्णय देना सम्भव नही है। 'ध्वन्यालोक' की व्याख्या के सम्बन्ध मे दो ग्रन्थो का उल्लेख प्राचीन साहित्य मे मिलता है—'ध्वन्यालोक' की चन्द्रिका व्याख्या एव भट्टनायक का 'हृदयदपण'। अभिनवगुप्त से पूर्व 'ध्वन्यालोक' की चन्द्रिकाटीका लिखी जा चुकी थी तथा इसका उल्लेख अभिनवगुप्त ने अपनी लोचनटीका मे भी किया है। परन्तु इस उल्लेख से कारिकाकार एव वृत्तिकार के भेद-प्रभेद का स्पष्ट निर्णय नही होता, यद्यपि डा० पी० वी० काणे ने उसको अपने पक्ष मे लाने का प्रयत्न किया है। भट्टनायक ने 'हृदयदर्पण' मे, जिनको 'सहृदयदर्पण' भी कहा गया है, ध्वनिसिद्धान्त को

प्रखर आलोचना की थी। अभिनवगुप्त ने भट्टनायक के सिद्धान्तो का 'ध्वन्यालोक' की लोचनटीका मे और 'नाट्यशास्त्र' की अभिनवभारती टीका म खण्डन किया है। परन्तु वर्तमान समय मे यह चन्द्रिकाटीका तथा 'हृदयदर्पण' दोनो ही उपलब्ध नही हैं। यदि ये ग्रन्थ उपलब्ध हो जावें तो 'ध्वन्यालोक' के कारिकाकार एव वृत्तिकार के भेद-अभेद पर और अधिक प्रकाश पड कर इसका निर्णय निस्सन्दिग्ध रूप मे सम्भव हो सकता है। जब तक निस्सन्दिग्ध निर्णय न हो, सस्कृत साहित्य शास्त्र के समाज म पूर्व परम्परा के अनुसार आचार्य आनन्दवधन को ही कारिकाओ और वृत्ति दोनो का रचयिता समझा जाता रहा है तथा रहेगा।

इसके साथ ही यह भी ध्यान देने योग्य है कि यदि किसी भी प्रकार यह मान भी लिया जावे कि कारिकाकार और वृत्तिकार भिन्न व्यक्ति है और कारिकाओ की रचना किसी अज्ञात मनीषी ने वृत्तिकार आनन्दवधन से पहले की थी, तथापि ध्वनिकार का आदरणीय पद आनन्दवधन को ही दिया जाता है। ध्वनि के सिद्धान्त की निस्सन्दिग्ध और व्यवस्थित स्थापना निर्विवाद रूप स आनन्दवधन ने ही की थी तथा उत्तरवर्ती मनीषियो ने इन्ही को ध्वनिकार या ध्वन्याचार्य की आदरणीय उपाधि से सुशोभित किया था।

५ ध्वनि-सिद्धान्त की प्राचीनता

ध्वनि के सिद्धान्त की चर्चा का प्रारम्भ ध्वन्यालोक' की रचना से पूर्व ही समालोचको मे हो चुका था। इस बात को स्वय आनन्दवधन ने स्वीकार किया है। यद्यपि उत्तरवर्ती आचार्यों ने आनन्दवधन को ध्वनिकार या ध्वन्याचार्य का पद प्रदान किया, परन्तु उन्होने स्वय अपने आपको ध्वनि का प्रतिष्ठाता नही कहा। 'ध्वन्यालोक' की कारिकाओ और वृत्ति म स्थान-स्थान पर इस प्रकार के वाक्य है जो यह प्रतिपादित करते हैं कि ध्वनि के सिद्धान्त का आविर्भाव आन दवर्धन से पूव हो चुका था।

'ध्वन्यालोक' की पहली कारिका का पहला पद है—

"काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्य समाम्नातपूर्व"

अर्थात् काव्य की आत्मा ध्वनि है, इस तथ्य को विद्वानो ने, काव्य के तत्व को जानने वालो ने पहले ही प्रकट कर दिया था।

इस अश पर वृत्ति लिखते हुये आनन्दवर्धन कहते हैं—

"बुधै काव्यतत्वविद्भि', काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति सज्ञित, परम्परया य: समाम्नातपूव सम्यक् आ समन्ताद् म्नात प्रकटित।"

बुधो अर्थात् काव्य के तत्व को जानने वालों ने काव्य की आत्मा को ध्वनि यह नाम दिया था और जिसको परम्परा से बार-बार प्रकाशित किया था।

इस प्रसङ्ग मे अभिनवगुप्त ने निम्न प्रकार से व्याख्या की है—

"बुधस्यैकस्य प्रामादिकमपि तथाभिधान स्यात्, न तु भूयसा तद्युक्तम्। तेन बुधैरिति बहुवचनम्। तदेव व्याचष्टे-परम्परयेति। अविच्छिन्नेन प्रवाहेण तैरेतत् विना

विशिष्टपुस्तकेपु विनिवेशनादित्यभिप्राय । न च बुधा भूयासोऽनादरणीय वस्त्वादरेणोपदिशेयु, एतत्त्वादरेणोपदिष्टम् । तदाह–सम्यगाम्नातपूर्व इति । पूर्वग्रहणेनेदम्प्रथमता नात्र सम्भाव्यते इत्याह, व्याचष्टे च–सम्यगासमन्ताद् म्नात, प्रकटित इत्यनेन ।"

ध्वनिकार ने 'बुधै' म बहुवचन का प्रयोग इसलिये किया है, क्योंकि एक बुध का वचन प्रमादयुक्त भी हो सकता था, किन्तु बहुत बुधो के वचन म वह प्रमाद नही हो सकता और उनके कथन को हल्केपन से नही लिया जा सकता । पुन उसी की व्याख्या करते हैं–परम्परा से । इसका अभिप्राय यह है कि उन विद्वानो ने उस काव्य की आत्मा ध्वनि को कभी विच्छिन्न न होने वाले प्रवाह के क्रम से कहा है, यद्यपि उसका विशेप ध्वनिप्रतिपादक पुस्तको मे विनिवेशन नही किया है । बहुत से बुध जन किसी अनादरणीय वस्तु का आदर से उपदेश नही करते, और इसका तो उन्होने आदर से उपदेश किया है । उसी को कहते हैं– पहले से समाम्नात किया है । यहां पूर्व पद का ग्रहण करने से अभिप्राय है कि ध्वनिकार इसका पहले पहले कथन कर रहे हैं, ऐसी सम्भावना नही करनी चाहिये । इसकी व्याख्या करते हैं–जिसको कि उन विद्वानो ने अच्छी प्रकार से प्रकट किया है ।

'ध्वन्यालोक' की इस कारिका और वृत्ति से तथा इस पर अभिनवगुप्त की टीका से यह स्पष्ट है कि आनन्दवर्धन से पूर्व भी विद्वान् समालोचको मे ध्वनि की चर्चा थी और वे ध्वनि को काव्य की आत्मा स्वीकार करते थे । परन्तु उनमे पहले किसी ने पुस्तक के रूप म इस सिद्धान्त की स्थापना नही की । आनन्दवर्धन ने इन विद्वानो की मान्यताओ को पुस्तक के रूप मे सम्पादित करके ध्वनि के सिद्धान्त की स्थापना की ।

'ध्वन्यालोक' की कारिकाओ और वृत्ति से अन्य स्थलो पर भी ध्वनि की प्राचीनता लक्षित होती है । एक स्थान पर यह शङ्का उठाई गई है कि ध्वनि का लक्षण तो पहले ही किया जा चुका है, पुन यहां लक्षण करने स क्या लाभ है ? इसका उत्तर ध्वनिकार ने दिया है–

"लक्षणेऽन्यैं कृते चास्य पक्षससिद्धिरेव न. ।"[1]

यदि अन्य प्राचीन विद्वानो ने ध्वनि का लक्षण कर दिया है, तो उससे हमारे पक्ष की सम्यक् प्रकार से सिद्धि ही होती है ।

आनन्दवर्धन के अनुसार रसध्वनि का सङ्केत भरत के 'नाट्यशास्त्र' म भी है, जबकि वे कहते हैं कि रस आदि की योजना के तात्पर्य से काव्य का निबन्धन करना भरत आदि प्रणीत 'नाट्यशास्त्र' आदि मे भी अच्छी प्रकार प्रसिद्ध है ।[2] यह रसध्वनि

---

१ ध्वन्यालोक १. १९ ॥

२. एतच्च रसादितात्पर्येण काव्यनिबन्धनं भरतादावपि सुप्रसिद्धमेव । ध्वन्यालोक ३.३७ की वृत्ति ।

सबसे अधिक श्रेष्ठ है और काव्य निर्माण की कला की आत्मा है। ध्वनिकार ने बताया कि रीतिवादी आचार्यों को भी काव्य की इस ध्वनिरूप आत्मा का अस्फुट रूप से आभास था परन्तु वे इसकी व्याख्या नही कर सके तथा उन्होंने रीतियो को प्रवर्तित कर दिया[1]। रीतिवादियो को यह काव्य तत्त्व अस्पष्ट रूप से आभासित अवश्य था, हमने उसको स्पष्ट रूप से प्रदर्शित कर दिया है, अत रीतियों का लक्षण करने की आवश्यकता नही है।

आनन्दवर्धन का कथन है कि ध्वनि से केवल समालोचक ही परिचित नही थे, अपितु महान् कवि वाल्मीकि, व्यास, कालिदास आदि भी ध्वनि के तत्त्व से परिचित थे क्यो कि उनके काव्यो म ध्वनि तत्त्व सवत्र लक्षित है।[2]

ध्वनि का आधार प्रतीयमान अर्थ है। इस प्रतीयमान अर्थ से प्राचीन अलङ्कारवादी आचार्य सुपरिचित थे। जिन आचार्यों न अलङ्कारो को ही काव्य की शोभा का आधायक तत्त्व स्वीकार किया है, जैसे कि भामह, उ होने भी अनेक अलङ्कारो मे, पर्यायोक्त, अप्रस्तुतप्रशसा आदि म प्रतीयमान अर्थ के सौन्दय को स्वीकार किया है। इस आधार पर अलङ्कारवादियो ने ध्वनि को अलङ्कारो मे अन्तर्भावित करने का प्रयास किया था, परन्तु वे इससे मुख्य समस्या का समाधान नही कर पाये थे।[3] उद्भट ने भी

---

१ अस्फुटस्फुरित काव्यतत्त्वमेतद् यथोदितम्।
अशक्नुवद्भिर्व्याकर्तुं रीतय सम्प्रवर्तिता ॥ ध्वन्यालोक ३ ४७

इस पर वृत्ति–एतद्ध्वनिप्रवर्तनेन निर्णीत काव्यतत्त्वमस्फुटस्फुरित सदशक्नुवद्भि: प्रतिपादयितु वैदर्भी गौडी पाञ्चाली चेति रीतय सम्प्रवर्तिता। रीतिलक्षणविधायिना हि काव्यतत्त्वमेतदस्फुटतया मनाक स्फुरितमासीदिति लक्ष्यते। तदत्र स्फुटतया सम्प्रदर्शितेनान्येन रीतिलक्षणेन न किञ्चित्।

२ तस्य हि ध्वने स्वरूप सकलसत्कविकाव्योपनिषद्भूतम्, अतिरमणीयम्, अणीयसीभिरपि चिरन्तनकाव्यलक्षणविधायिना बुद्धिभिरनुन्मीलितपूर्वम्। अथ च रामायण महाभारत प्रभृतिनि लक्ष्ये सर्वत्र प्रसिद्धव्यवहार लक्षयता सहृदयानाम् आनन्दो मनसि लभता प्रतिष्ठामिति प्रकाश्यते। ध्वन्यालोक १.१. की वृत्ति से।

३ पर्यायोक्तेऽपि यदि प्राधान्येन व्यङ्ग्यत्व तद् भवतु नाम तस्य ध्वनावन्तर्भावः। न तु ध्वनेस्तत्रान्तर्भाव। तस्य महाविषयत्वेनाङ्गित्वेन च प्रतिपादयिष्यमाणत्वात्। ध्वन्यालोक १ १३ की वृत्ति से।

इस पर अभिनवगुप्त की निम्न टीका है—

तत्रापि यादृशोऽलङ्कारत्वेन विवक्षितस्तादृशे ध्वनिर्नान्तर्भवति। न तादृगस्माभिर्ध्वनिरुक्त। ध्वनिर्हि महाविषय सर्वत्र भावाद् व्यापक, समस्त प्रतिष्ठास्थानत्वाच्चाङ्गी। न चालङ्कारो व्यापकोऽन्यालङ्कारवत्। न चाङ्गी, अलङ्कार्यतन्त्रत्वात्। अथ व्यापकत्वाङ्गित्वे तस्योपगम्येते, त्यज्यते चालङ्कारता, तर्हि अस्मिन्नय, एवायमवलम्ब्यते केवल मात्सर्यप्रहात् पर्यायोक्तत्वाचेतिभाव.।

रस आदि ध्वनियो को रसवद्, प्रेय, ऊर्जस्वि, आदि अलङ्कारो मे अन्तर्भावित करने का प्रयास किया था।

ध्वनि की चर्चा आनन्दवर्धन से पहले समालोचको मे प्रतिष्ठा को प्राप्त हो चुकी थी, यह तथ्य इससे भी व्यक्त होता है, क्योकि ध्वनिकार ने अपने ग्रन्थ मे ध्वनि विरोधी मतो का उल्लेख करके उनका खण्डन किया है। आचार्य ने 'ध्वन्यालोक' की पहली ही कारिका मे ध्वनि विरोधियो के तीन मतो का— अभाववादी, भक्तिवादी और अलक्षणीयतावादी का उल्लेख किया, तदनन्तर इनको युक्तियो को प्रस्तुत करके उनका खण्डन किया। इस सम्बन्ध मे ध्वनिकार ने किसी अन्य कवि के श्लोक को उद्धृत किया है,[1] जो कि ध्वनि का प्रबल विरोधी था। आचार्य अभिनवगुप्त के अनुसार इस श्लोक के लेखक का नाम मनोरथ था।[2] प्राचीन साहित्य के अनुसार मनोरथ का समय निश्चित सा है। कल्हण ने 'राजतरङ्गिणी' मे मनोरथ का उल्लेख किया है। 'राजतरङ्गिणी' के श्लोक ४.४९७ के अनुसार वह राजा जयापीड का मन्त्री था और और ४.६७१ के अनुसार उसने जयापीड के उत्तराधिकारी ललितापीड का उसकी कामोन्मत्तता के कारण परित्याग कर दिया था। अत मनोरथ का समय ८०० ई० के लगभग रहा होगा। अभिनवगुप्त ने मनोरथ को जो आनन्दवर्धन का समकालीन बताया है, इसमे उसको भ्रम रहा होगा। मनोरथ के इस श्लोक मे ध्वनि का विरोध होने से और ध्वनि विरोधियो का ध्वनिकार द्वारा उल्लेख होने से यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि आनन्दवर्धन से बहुत पहले ध्वनिसिद्धान्त का प्रवर्तन हो चुका था। यदि कारिकाकार और वृत्तिकार को एक ही माना जावे, तो भी ध्वन्यालोक की रचना से बहुत पहले ध्वनि की चर्चा आरम्भ हो गई सिद्ध होती है। यदि कारिका स और वृत्तिकार के व्यक्तित्व को भिन्न भी माना जावे तो भी कारिकाओ की रचना से पहले ध्वनि का प्रवर्तन हो चुका था, यह निश्चित है।

ध्वनिकार से पूर्व ही ध्वनि सिद्धान्त के प्रचलित होने पर भी यह निश्चित है कि इसको व्यवस्थित और निस्सन्दिग्ध रूप से प्रतिपादित करने का श्रेय आनन्दवधन को ही है। ध्वनिकार ने पहले तो कारिकाओ मे ध्वनि का अति सक्षिप्त परिचय दिया तथा इसके बाद वृत्ति और उदाहरण देकर ध्वनि के विस्तृत स्वरूप की विस्तृत व्याख्या की। ध्वनिकार ने 'ध्वन्यालोक' की वृत्ति के अन्तिम श्लोको मे स्पष्ट रूप से कहा है कि उसने ध्वनि के मार्ग का निर्माण नही किया। इसको अपितु दिखाया भर

१. यस्मिन्नस्ति न वस्तु किञ्चन मन प्रह्लादि सालङ्कृति
व्युत्पन्नै रचित न चैव वचनैर्वक्रोक्तिशून्य च यत्।
काव्य तद् ध्वनिना समन्वितमिति प्रीत्या प्रशसन् जडो
नो विद्मोऽभिदधाति कि सुमतिना पृष्ट स्वरूप ध्वने ॥
ध्वन्यालोक १.१ की वृत्ति से।

२. अन्येनेति। ग्रन्थकृत्समानकालभाविना मनोरथनाम्ना कविना।

हैं तथा उसने ध्वनि के तत्त्व की व्याख्या की है।[1] परन्तु उसकी यह व्याख्या इतनी सुस्पष्ट और युक्तिसंगत है कि आनन्दवर्धन को ही ध्वनिकार एवं ध्वन्याचार्य के पद की प्रतिष्ठा प्राप्त हुई।

६ ध्वनिविरोधी मत

आनन्दवर्धन ने ध्वनि के सिद्धान्त की निश्चित रूप में स्थापना की थी। परन्तु ध्वनि के सिद्धान्त का विरोध आनन्दवर्धन के पहले भी होता रहा और बाद में भी हुआ। आनन्द से पूर्व के ध्वनिविरोधियों की युक्तियों का समाधान तो आचार्य आनन्दवर्धन ने स्वयं ही कर दिया था परन्तु उनके पश्चात् जिन्होंने ध्वनि सिद्धान्त का खण्डन किया उनकी युक्तियों का उत्तर अभिनवगुप्त एवं मम्मट ने दिया तथा इसके पश्चात् ध्वनि सिद्धान्त सर्वमान्य सा हो गया। ध्वनि विरोधियों के मतों का वर्णन करने के लिये इन्हें दो वर्गों में बाँटा जा सकता है—आनन्दवर्धन से पूर्व के ध्वनि विरोधी मत और आनन्दवर्धन के बाद के ध्वनि विरोधी मत।

आनन्दवर्धन के पूर्व के ध्वनिविरोधी मत—

आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक के प्रथम उद्योत की पहली कारिका में ही ध्वनि के विरोधी मतों का उल्लेख करके इसकी वृत्ति में उनकी युक्तियाँ प्रस्तुत की हैं। उस समय तक ध्वनिविरोधियों ने जो युक्तियाँ दी थीं। उनको उसने तीन वर्गों में विभक्त करके ध्वनिविरोधियों के तीन मतों की कल्पना की—अभाववादी भक्तिवादी और अलक्षणीयतावादी।[3] यद्यपि ध्वन्यालोक की व्याख्या के प्रसंग में इनकी युक्तियाँ तथा

---

१ इत्यक्लिष्टरसाश्रयोचितगुणालङ्कारशोभाभृतो।
यस्माद्वस्तु समीहितं सुकृतिभिः सर्वं समासाद्यते।
काव्याख्येऽखिलसौख्यधाम्नि विबुधोद्याने ध्वनिर्दर्शितः
सोऽयं कल्पतरूपमानमहिमा भोग्योऽस्तु भव्यात्मनाम्॥

२ सत्काव्यतत्त्वनयवर्त्मचिरप्रसुप्त-
कल्पं मनःसु परिपक्वधियां यदासीत्।
तद्व्याकरोत् सहृदयोदयलाभहेतो-
रानन्दवर्धन इति प्रथिताभिधानः॥

३ काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नातपूर्व-
स्तस्याभावं जगदुरपरे भाक्तमाहुस्तमन्ये।
केचिद्वाचां स्थितमविषये तत्त्वमूचुस्तदीयं
तेन ब्रूमः सहृदयमनःप्रीतये तत्स्वरूपम्॥
ध्वन्यालोक १।१॥

उनके खण्डन का विस्तृत विवेचन है तथापि यहा सक्षेप से इन तीना ध्वनिविरोधियो का पक्ष उपस्थित करना उपयोगी होगा।

(क) अभाववादी—अभाववादी वे हैं जो ध्वनि के अस्तित्व को स्वीकार ही नही करते। उनका कहना है कि काव्य म ध्वनि का नाम तत्व है ही नहा। ध्वनिकार ने अभाववादियो क भी तीन पक्ष प्रस्तुत किये है—

(i) पहले अभाववादियो का कथन है कि काव्य के शरीर की रचना शब्द अर्थ से होती है। अत इनके सौन्दर्य के आधायक तत्त्व ही काव्य की आत्मा हो सकते हैं। शब्द के सौन्दर्य को प्रकट करने वाले अनुप्रास आदि अलङ्कार है तथा अर्थ के सौन्दर्य को प्रकट करने वाले उपमा आदि अलङ्कार है। ये अलङ्कार प्राचीन आचार्यों द्वारा प्रसिद्ध किये जा चुके है। वर्णों और सघटना के सौन्दर्य का प्रतिपादित करने वाले माधुर्य आदि गुण भी कहे जा चुके है। इसके अतिरिक्त उपनागरिका आदि वृत्तियो का और वदर्भी आदि रीतियो का भी कथन हो चुका है। काव्य म सौन्दर्य का आधान करने वाले ये ही तत्त्व हैं तथा इनसे भिन्न अन्य कोई ध्वनि नामक तत्त्व काव्य के चारुत्व का हेतु नहा है।

(ii) दूसरे अभाववादियो ने परम्परा का सहारा लिया है। उनका कथन है कि सहृदयो के हृदयो को आह्लादित करने वाले शब्द और अर्थ ही काव्य की रचना करते है। इस प्रकार से काव्य की रचना एव सौन्दर्य का यही माग प्राचीन परम्परा से प्रसिद्ध रहा है। ध्वनि की कल्पना तो अभी ही ध्वनिवादियो ने की है परन्तु प्राचीन काल से सहृदय जन काव्य के रस का आस्वादन करना और अर्थों के चारुत्व से करते रहे हैं। इस माग से भिन्न किसी अन्य माग से काव्य का चारुत्व सम्भव नही होगा। यदि कोई ध्वनि को मानने वाले दुराग्रही काव्य म ध्वनि के चारुत्व का अन्वेषण भी करें तो भी सभी विद्वान् उसको स्वीकार नही करेंगे।

(iii) तीसरे अभाववादियो का कहना है कि ध्वनि नाम का कोई नया पदार्थ नही है। यदि ध्वनि नाम का कोई पदार्थ है और वह काव्य के चारुत्व का हेतु है तो उसका अन्तर्भाव पहले कहे गये अलङ्कार आदि चारुत्व के हेतुओ म किया जा सकता है। अर्थात यह ध्वनि नाम का एक अलङ्कार होगा, जो कि काव्य के चारुत्व का हेतु होगा। उन चारुत्व के हेतुभूत अलङ्कारों में से किसी एक का नाम ध्वनि रख देने से कोई विशेष बात नही हो जायगी। यह तो बडी तुच्छ सी बात होगी। प्राचीन अलङ्कारिकों ने वाणी के भेदो के अनन्त होने से अनेक प्रकार के अलङ्कारो का प्रदर्शित किया है। यदि उन्होने किसी अलङ्कार विशेष का नाम न भी रखा हो और उसको ध्वनिवादी ध्वनि नाम दे दें तो कोई बहुत बडी बात नहीं है। इतनी सी तुच्छ बात को लेकर ध्वनि ध्वनि का कोलाहल करना कोई बडी बात तो नही है।

अभाववादियो के इन तीनो मतों तथा उनकी युक्तियो का साराश यही है कि वे अभिधा या वाच्यार्थ में ही व्यञ्जना या ध्वनि का अन्तर्भाव मानते हैं। उनक

अनुसार अभिधा के द्वारा ही सब अर्थों की प्रतीति हो जाती है अर्थात् शब्द से प्रतीत होने वाले सभी अर्थ वाच्य होते हैं।

आनन्दवर्धन ने इन अभाववादियो के मत का उपसहार करते हुये एक श्लोक दिया है,[1] जो किसी अन्य कवि का लिखा है। अभिनवगुप्त के अनुसार इसका रचयिता मनोरथ नाम का कवि है।

(ख) भक्तियादी—ध्वनि विरोधी दूसरा मत भक्तिवादियो का है। ये ध्वनि को लक्षणा के अन्तर्गत स्वीकार करते हैं। इनके अनुसार व्यञ्जनावादियो के व्यङ्ग्य अर्थ की प्रतीति लक्षणा द्वारा ही हो जाती है। इनके सम्बन्ध मे ध्वनिकार का कथन है कि दूसरे विद्वान् उस ध्वनिवाच्य को भाक्त या गुणवृत्ति कहते हैं। यद्यपि लक्षणा-वादियो ने ध्वनि शब्द का उच्चारण करके भाक्त या गुणवृत्ति आदि पद उसके लिये नही कहे हैं, तथापि उन्होने काव्यो मे लक्षणा व्यापार के व्यवहार का प्रदर्शन करके ध्वनि के मार्ग का कुछ स्पर्श अवश्य किया है। इस प्रकार लक्षणा के व्यवहार का प्रदर्शन करके उन्होने व्यञ्जनावादियों के प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति लक्षणा द्वारा, क्योंकि प्रतिपादित की है इसलिये ध्वनिकार ने उनके मत को इस प्रकार उपस्थित किया है कि वे ध्वनि को भाक्त मानते हैं।

(ग) अलक्षणीयतावादी—ध्वनिवादियो का तीसरा मत अलक्षणीयतावादियो का है। इनका कथन है कि ध्वनि के तत्त्व की वाणी से व्याख्या नही की जा सकती। वह सहृदयो के हृदयो द्वारा केवल संवेद्य ही हैं। अत ध्वनि की परिभाषा करना उचित नही है।

ध्वनिकार के समय म ध्वनि विरोधियो के जो मत थे, इनकी जो युक्तियाँ थी, उनका उन्होने तीन विभागो मे संग्रह किया और उनका 'ध्वन्यालोक' के प्रथम उद्योत मे समुचित उत्तर दिया। इनम अभाववादियो के तीन मत, भाक्तो का एक मत और अलक्षणीयतावादियों का एक मत, इस प्रकार कुल पाँच ध्वनिविरोधी मत हुये।

आनन्दवर्धन द्वारा ध्वनिविरोधी युक्तियो का उत्तर देकर ध्वनि के सिद्धान्त का समुचित प्रतिपादन कर देने पर इसका विरोध अभी तक शान्त नही हुआ था। ध्वनि के सिद्धान्त का उत्तरवर्ती अनेक आचार्यों ने विरोध किया। उनके पक्ष को यहाँ उपस्थित करना उपयोगी होगा।

आनन्दवर्धन के पश्चात् के ध्वनि विरोधी मत—

आनन्दवर्धन के पश्चात् भी अनेक समालोचको ने ध्वनि के सिद्धान्त का विरोध किया था। इन परवर्ती विरोधियो मे प्रमुख थे—भट्टनायक, कुन्तक, महिम भट्ट और क्षेमेन्द्र। ये सब काश्मीरी थे। इनके पक्ष को सक्षेप से प्रस्तुत किया जा रहा है—

(१) भट्टनायक—भट्टनायक का समय आनन्दवर्धन के बाद का और अभिनव-गुप्त से पहले का है। इन्होने 'हृदयदर्पण', जिसको कि कही कहीं 'सहृदयदर्पण' भी

१. यस्मिन्नस्ति न किञ्चन०। ध्वन्यालोक १.१ की वृत्ति से।

कहा गया है, नाम का ग्रन्थ लिखा था। इस ग्रन्थ मे भट्टनायक ने ध्वनि-सिद्धान्त का खण्डन किया था। 'हृदयदर्पण' का उल्लेख अभिनवगुप्त की रचनाओ म यत्र तत्र मिलता है, तथा इन्होने भट्टनायक के मन्तव्यो का खण्डन किया है। व्यक्तिविवेककार महिमभट्ट भी 'हृदयदर्पण से परिचित थे और वे जानते थे कि इसम आनन्दवर्धन के ध्वनिसिद्धान्त का खण्डन किया गया था। वे लिखते हैं कि दर्पण को देखे बिना ही वे ध्वनि का खण्डन कर रहे है तथा उनकी प्रवृत्ति सहसा यश की ओर प्रवृत्त हो गई है—

सहसा यशोऽभिसर्तुं समुद्यतादृष्टदर्पणा मम धी ।
स्वालङ्कारविकल्पप्रकल्पने वेत्ति कथमिवावद्यम् ॥

व्यक्तिविवेककार ने स्पष्ट रूप मे लिखा है कि 'हृदयदर्पण ग्रन्थ मे ध्वनि का प्रबलता से खण्डन है तथा यह ग्रन्थ ध्वनि का ध्वस करने वाला है।'[1] लोचन टीका मे भी इस तथ्य की पुष्टि की गई है, जबकि अभिनवगुप्त ने भट्टनायक के 'भम धम्मिअ०" पद पर व्यक्त किये गये विचारो का खण्डन करते हुये लिखा है—'वस्तुध्वनि को तो ये दूषित करते हैं एव वस्तुध्वनि क अनुग्राहक रसध्वनि का ये समर्थन करते हैं, तब तो यह खूब ध्वनि का ध्वस है।'[2]

भट्टनायक ने व्यञ्जना वृत्ति को स्वीकार नही किया था। वे रस के आस्वादन को तो स्वीकार करते थे, परन्तु इसके लिये वे व्यञ्जना वृत्ति की आवश्यकता नही समझते थे। काव्य म उन्होने केवल अभिधा वृत्ति की आवश्यकता समझी तथा इसके आस्वादन के लिये भावकत्व और भोजकत्व की शक्ति की उद्भावना की। उनके अनुसार भावकत्व शक्ति से काव्य के पात्रो का साधारणीकरण होता है और भोजकत्व शक्ति के सामर्थ्य से सामाजिक, रस का आस्वादन करता है। भट्टनायक के उत्तरवर्ती आचार्यों ने उनके इस मन्तव्य का खण्डन किया। अभिनवगुप्त ने साधारणीकरण के सिद्धान्त को स्वीकार करके भी भावकत्व और भोजकत्व शक्तियो का खण्डन किया तथा व्यञ्जना व्यापार से ही रस की प्रतीयमानता तथा आस्वाद्यमानता प्रतिपादित की।

(२) महिमभट्ट—आनन्दवर्धन के आलोचको मे महिमभट्ट का स्थान प्रमुख है। इन्होने व्यञ्जना वृत्ति की आवश्यकता को मानने का खण्डन किया और ध्वनिवादियो के प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति अनुमान द्वारा प्रतिपादित की। इन्होने 'व्यक्तिविवेक' नामक ग्रन्थ की रचना इसीलिये की, जिससे कि वे ध्वनि का अन्तर्भाव अनुमान म प्रतिपादित कर सकें।[3]

---

१ दर्पणो हृदयदर्पणाख्यो ध्वनिध्वसग्रन्थोऽपि—व्यक्तिविवेक।

२ किं च वस्तुध्वनिं दूषयता रसध्वनिस्तदनुग्राहक समर्थ्यत इति सुतरा ध्वनिध्वसोऽयम्। अभिनवगुप्त।

३ अनुमानेऽन्तर्भाव सर्वस्यैव ध्वने प्रकाशयितुम्।
व्यक्तिविवेक कुरुते प्रणम्य महिमा परा वाचम्॥

ध्वनि के विरोधियों का खण्डन करते हुये आनन्दवर्धन ने 'ध्वन्यालोक' के प्रथम उद्योत में अनुमितिवादियों का उल्लेख नहीं किया है, तथापि तीसरे उद्योत में व्यञ्जनावृत्ति की अनिवार्यता को प्रतिपादित करते हुये उन्होंने प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति का अनुमान प्रतीति से भिन्न प्रतिपादित करके अनुमितिवाद का खण्डन अवश्य किया है।[1]

महिमभट्ट अभिधावादी थे और उन्होंने ध्वनिवादियों के प्रतीयमान अर्थ को अनुमेय सिद्ध किया था। उन्होंने व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव के स्थान पर लिङ्गलिङ्गिभाव का समर्थन किया। महिमभट्ट ने आनन्दवर्धन द्वारा प्रदर्शित ध्वनि के उदाहरणों को अनुमान द्वारा सिद्ध करने का प्रयत्न किया तथा "भम धम्मिअ०" उदाहरण में निषेधरूप अर्थ की प्रतीति अनुमान द्वारा सिद्ध की।

महिमभट्ट ने सबसे पहले आनन्दवर्धन की ध्वनि की परिभाषा "यत्रार्थः शब्दो वा०"[2] को लिया और उसके एक एक पद की कड़ी आलोचना की।[3]

यद्यपि 'व्यक्तिविवेक' ग्रन्थ की रचना में बुद्धि की प्रौढ़ता स्पष्ट रूप से प्रतिभासित होती है, तथापि इसको विद्वत् समाज में वह प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं हुई जो कि आनन्दवर्धन को हुई थी। अनुमिति के सिद्धान्त का प्रतिपादित करने में महिमभट्ट अकेले रह गये तथा अन्य समालोचकों का समर्थन वे प्राप्त नहीं कर सके। स्वयं 'व्यक्तिविवेक' के टीकाकार रुय्यक ने अपने 'अलङ्कारसर्वस्व' ग्रन्थ में महिमभट्ट के मन्तव्य का खण्डन किया था[4] और व्यक्तिविवेककार पर कटाक्ष किया था।[5]

महिमभट्ट को मान्यता एवं समर्थन न मिलने के दो कारणों को विष्णुपद भट्टाचार्य ने अपनी ध्वन्यालोक की व्याख्या की प्रस्तावना में प्रस्तुत किया है—प्रथम तो यह कि इन्होंने आनन्दवर्धन जैसे प्रसिद्ध समालोचक की आलोचना की थी और दूसरा यह कि इनकी भाषा अत्यधिक कठिन तथा कठोर थी तथा इसमें आनन्दवर्धन

---

१ अस्त्यतिरान्धनामसर—व्यञ्जकत्वं शब्दानां गमकत्वं तच्च लिङ्गत्वम्, अतश्च व्यङ्ग्यप्रतीतिर्लिङ्गिप्रतीतिरेवेति लिङ्गलिङ्गिभाव एव तेषां व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावो नापरः कश्चित्।

२. ध्वन्यालोक १.१३ ॥

३. एतच्च विविच्यमानमनुमानस्यैव सङ्गच्छते नान्यस्य। तथाहि अर्थस्य तावद् उपसर्जनीकृतात्मत्वमनुपादेयमेव। तस्य अर्थान्तरप्रतीत्यर्थमुपात्तस्य तद्व्यभिचाराभावात्। न हि अग्न्यादिसिद्धौ धूमादिरुपादीयमानो गुणतामतिवर्तते ॥ व्यक्तिविवेक प्रथम विमर्श।

४. यत्तु व्यक्तिविवेककारो वाच्यस्य प्रतीयमानं प्रति लिङ्गितया अनुमानान्तर्भावमाख्यत् तद् वाच्यस्य प्रतीयमानेन सह तादात्म्यतदुत्पत्त्यभावादविचारिताभिधानम्। तदेतत् कुशाग्रीयधिषणैः क्षोदनीयमतिगहनम्—इति नेह प्रतन्यते ॥ अलङ्कारसर्वस्व ॥

५. तदेव महाविदुषा मार्गमनुसृत्य सहृदयशिक्षादराय विचारयतोऽस्य महामते न किञ्चित् पर्यानुयोगलेशस्याप्यवसर इत्यलमतिप्रसङ्गेन।

व्यक्तिविवेक पर रुय्यक की टीका ॥

एव अभिनवगुप्त की भाषा जैसी सरलता एव ग्राह्यता नही थी। तथापि उनका यह कहना ठीक ही प्रतीत होता है कि महिमभट्ट को यदि अभिनवगुप्त जैसा व्याख्याकार मिल जाता तो उनकी अवस्था कुछ भिन्न ही होती[1]।

(३) कुन्तक—कुन्तक ने 'वक्रोक्तिजीवित' नामक ग्रन्थ लिखा था। यह ग्रन्थ भी ध्वनि की स्थापना के विरोध म लिखा गया था। इस ग्रन्थ का उद्देश्य ध्वनि का खण्डन करना इतना नही था जितना कि वक्रोक्ति का खण्डन करना था। आनन्दवर्धन की इन्होने आलोचना नही की और ध्वनिसिद्धान्त से परिचित होकर इन्होने सभी प्रकार की ध्वनियो को वक्रोक्ति के अन्तगत प्रतिपादित किया था। उनके अनुसार ध्वनि स्वतन्त्र काव्य नही है, अपितु वक्रोक्ति का ही एक भेद है।

कुन्तक का वक्रोक्ति सिद्धान्त 'काव्यालकार' के रचयिता भामह के ही सिद्धान्त का[2] विशद प्रतिपादन है। उसके अनुसार अतक रूप वक्रोक्ति ही काव्य का जीवित है। वह वक्रोक्ति को शब्द और अर्थ से भिन्न कोई अलग महनीय पदार्थ नही मानता, जैसे कि ध्वनिकार रसध्वनि या अलकारध्वनि को मानते हैं। उसके अनुसार कवि की विदग्धता, काव्यकौशल द्वारा वक्रोक्ति शब्द और अर्थ म व्याप्त रहती है तथा उसको अलग नही किया जा सकता। अत कुन्तक वक्रोक्ति को काव्य का प्राण प्रतिपादित करता है।[3] कोई भी काव्य बिना वक्रोक्ति के काव्य नही हो सकता। उसकी दृष्टि मे 'काव्यस्यात्मा अलङ्कार', इस प्रकार का प्रयोग अयुक्तियुक्त होगा, क्योकि इसमे यह अभिप्राय निकल सकता है कि काव्य अलङ्कार या वक्रोक्ति के बिना भी रह सकता है।

ध्वनिकार ने काव्य के दो मुख्य भेद – ध्वनि और गुणीभूतव्यङ्ग्य किये थे। तीसरे भेद चित्र को वे वास्तविक काव्य नही मानते थे, अपितु उसको काव्य की अनुकृतिमात्र समझते थे।[4] काव्य मे रस के चमत्कार को स्वीकार करते हुये भी कुन्तक ने उसको ही काव्य का प्राण नही माना, किन्तु रस को भी वक्रोक्ति म सम्मिलित करके अलङ्कार मान लिया। उसके अनुसार काव्य म रस भी उसी प्रकार चमत्कार उत्पन्न करता है, जिस प्रकार अन्य अलङ्कार करते हैं।

---

१ विष्णुपद भट्टाचार्य कृत ध्वन्यालोक की अंग्रेजी व्याख्या की प्रस्तावना पृ० Lix ।।।

२ सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्या कविना कार्यं कोऽलङ्कारोऽनया विना ॥ काव्यालकार २ ८५॥

३ वक्रोक्ति काव्यजीवितम्। वक्रोक्ति का लक्षण—वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभङ्गीभणितिरुच्यते। इस पर वृत्ति—वक्रोक्ति प्रसिद्धाभिधानव्यतिरेकिणी विचित्रैवाभिधा। वैदग्ध्य कवि कौशल तस्य भङ्गी विच्छित्ति ।"

४. रसभावादितात्पर्य रहित व्यङ्ग्यार्थविशेषप्रकाशनशक्तिशून्य च काव्य केवलवाच्यवाचकवैचित्र्यमात्राश्रयेणोपनिबद्धमालेख्यप्रख्य यदाभासते तच्चित्रम्। न तन्मुख्य काव्य काव्यानुकारो ह्यसौ ॥

ध्वन्यालोक ३,४३ की वृत्ति मे।

कुन्तक ने रस के महत्त्व को अवश्य स्वीकार किया और कहा कि कवियों की वाणियाँ केवल कथामात्र पर ही आश्रित नहीं हैं, अपितु रस की निर्भरता पर आश्रित होकर जीवित रहती हैं परन्तु उनके अनुसार काव्य में रस की स्थिति वक्रता से भिन्न नहीं है। कुन्तक ने आनन्दवर्धन की लक्षणामूलध्वनि के दो भेदों—अत्यन्तरिस्कृतवाच्य और अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य को उपचारवक्रता में अन्तर्भावित किया है।[1]

कुन्तक ने ध्वनि या व्यञ्जना की स्वतन्त्र सत्ता का खण्डन किया है और वह प्रतीयमान अर्थ को स्वीकार नहीं करता। उसके अनुसार वाच्य अर्थ और वाचक शब्द ही काव्य में प्रसिद्ध होते हैं और यही परमार्थ रूप से काव्य का निर्माण करते हैं। व्यङ्ग्य अर्थ भी वस्तुतः वाच्य ही होता है।[2]

(४) क्षेमेन्द्र—काव्य के समालोचकों में क्षेमेन्द्र का भी बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह प्रसिद्ध समालोचक और टीकाकार अभिनवगुप्त का ही शिष्य था। उसने औचित्य को काव्य का प्राण माना। औचित्य को उसने 'रसजीवितभूत' कहा।

औचित्य का प्रतिपादन क्षेमेन्द्र ने ही सबसे पहले किया हो ऐसा नहीं है। क्षेमेन्द्र से पूर्व आनन्दवर्धन ने और महिमभट्ट आदि ने अपनी रचनाओं में औचित्य का प्रतिपादन किया था और कहा था कि इसकी सम्यक् अभिव्यञ्जना के लिये अनुभाव, विभाव और स्थायी भावों के कथन में औचित्य का ध्यान रखना चाहिये। औचित्य के अभाव में रसभङ्ग का दोष उत्पन्न हो जाता है।[3]

क्षेमेन्द्र ने औचित्य के सिद्धान्त का जो प्रतिपादन किया, उसकी विशेषता यह नहीं है कि उसने काव्य में औचित्य को प्रधानता दी, परन्तु उसकी मुख्य देन यह है कि उसने काव्य के सभी सौन्दर्याधायक तत्त्वों-गुण, अलङ्कार, रस आदि का औचित्य के अन्दर समावेश कर लिया। उसने औचित्य को ही काव्य का जीवित सर्वस्व माना। औचित्य की परिभाषा उसने इस प्रकार की है--

---

१ यत्र दूरान्तरेऽन्यस्मात् सामान्यमुपचर्यते।
लेशेनापि भवत् काञ्चिद् वक्तुमुद्रिक्तवृत्तिताम्॥
यन्मूला सरसोल्लेखा रूपकादिरलङ्कृतिः।
उपचारप्रधानासौ वक्रता काचिदुच्यते॥ वक्रोक्तिजीवित २-१३-१७॥

२. वाच्योऽर्थो वाचकः शब्दः प्रसिद्धमिति यद्यपि।
तथापि काव्यमार्गेऽस्मिन् परमार्थोऽयमेतयोः॥

इस पर वृत्ति—ननु च द्योतकव्यञ्जकावपि शब्दौ सम्भवतः, तदसङ्ग्रहान्नाव्याप्तिः। यस्मात् अर्थप्रतीतिकारित्वसामान्यादुपचारात्तावपि वाचकावेव। एवं द्योत्यव्यङ्ग्ययोरर्थयोः प्रत्येयत्वसामान्यादुपचारः। वक्रोक्तिजीवित १.१॥

३ अनौचित्यादृते नान्यद् रसभङ्गस्य कारणम्।
प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत् परा॥ ध्वन्यालोक ३.१४ की वृत्ति से

उचित प्राहुराचार्या सदृश किल यस्य यत् ।
उचितस्य च योभावस्तदौचित्य प्रचक्षत ॥[1]

उसका कथन है कि जिस प्रकार भौतिक अलङ्कार उचित अङ्गो म पहने जाकर शरीर का सौन्दर्य बढाते हैं तथा अनुचित अङ्गो पर धारण करन पर कुरूपता उत्पन्न करते हैं। उसी प्रकार काव्यगत गुण और अलङ्कार काव्य की शोभा के आधायक तभी होते हैं, जब वे उचित रूप से नियोजित किये गये हो।[2]

इस प्रकार क्षेमन्द्र ने काव्य म औचित्य को सबसे अधिक महत्त्व दिया और उसको काव्य का प्राण माना।

ध्वनि सिद्धान्त पर अनेक आक्षेप समय समय पर किये जाते रह होगे, परन्तु उनके विस्तृत विवरण हमें प्राप्त नही है। विरोधियो के आक्षपो का सकलन जयरथ ने रुय्यककृत 'अलकार सर्वस्व' की टीका म किया है। इसको इस प्रकरण म सक्षप से देखना चाहिये। जयरथ ने किसी प्राचीन लेखक की कारिकाओ को इस प्रकार उद्धृत किया है—

तात्पर्यशक्तिरभिधा लक्षणानुमिती द्विधा।
अर्थापत्ति क्वचित्तन्त्र समासोक्त्याद्यलङ्कृति ॥
रसस्य कार्यता भोगो व्यापारान्तरबाधनम्।
द्वादशेत्थ ध्वनेरस्य स्थिता विप्रतिपत्तय ॥

ध्वनि के सम्बन्ध मे १२ प्रकार की विप्रतिपत्तियाँ कही जाती हैं। इनका विवरण निम्न प्रकार से है—

(१) तात्पर्य—यह अभिहितान्वयवादी मीमासको का मत है।

(२) अभिधा—यह अन्विताभिधानवादी मीमासको का मत है।

(३, ४) लक्षणा—लक्षणा के दो भद जहत्स्वार्था और अजहत्स्वार्था।

(५, ६) अनुमिति—अनुमान के दो भद।

(७) अर्थापत्ति—यह अनुमान पक्ष का ही परिष्कार है।

(८) तन्त्र—श्लेषालङ्कार के सदृश यह कोई पक्ष है।

(९) समासोक्ति आदि अलङ्कार—ये प्राचीन अलङ्कारवादी हैं, जिनका खण्डन आचार्य आनन्दवर्धन ने स्वय 'ध्वन्यालोक' के प्रथम उद्योत म किया है।

(१०) रसकार्यता—यह प्राचीन रसवादी भट्टलोल्लट आदि आचार्यों की मान्यता है, जिसका खण्डन अभिनवगुप्त ने किया है। ये रस को उत्पत्ति मानते हैं।

(११) भोग—यह भोगवादी आचार्य भट्टनायक का पक्ष है, जो रस को भोज्य मानते हैं। इनका खण्डन भी अभिनवगुप्त ने किया है।

---

१. औचित्यविचार—कारिका ७ ॥

२. उचितस्थानविन्यासादलङ्कृतिरलङ्कृति
औचित्यादच्युता नित्य गुणा एव गुणा सदा ॥

(१२) व्यापारान्तरबाधन—यह पक्ष किसका है, इसमे मतभेद है। डा० राघवन् का विचार है कि यह पक्ष वक्रोक्तिवादियो का है। परन्तु प्रो० एम० एम० कुप्पुस्वामी शास्त्री का कथन है कि वक्रोक्ति तो अलङ्कार म ही सम्मिलित है। पुनः 'वक्रोक्तिजीवित' तो ध्वनि को स्वीकार करता है, यद्यपि काव्य की आत्मा के रूप मे नही करता। अतः शास्त्री महोदय का विचार है कि वह अनिर्वचनीयतावादियो के पक्ष का सूचक है।

इस प्रकार ध्वनि के विरोधी इन पक्षो को देखकर यह विदित होता है कि ध्वनिकार आनन्दवर्धन से पूर्व और उनके समय मे ध्वनि का प्रबलता से विरोध होता रहा। ध्वनिकार ने इन विरोधी मतो को सकलित करके उनका समुचित रूप से खण्डन किया और ध्वनि के सिद्धान्त की स्थापना की। ध्वनिकार के पश्चात् भी अनेक समालोचकों ने ध्वनि के सिद्धान्त के विरोध मे अन्य सिद्धान्त प्रचलित करने का प्रयत्न किया, परन्तु वे अपने प्रयत्नो मे सफल नही हो सके। आनन्दवर्धन के अनुयायी अभिनवगुप्त, मम्मट आदि आचार्यों ने इन ध्वनिविरोधी पक्षो का प्रबलता से खण्डन करके ध्वनि के सिद्धान्त को निस्सन्दिग्ध और निर्विवाद रूप से प्रस्थापित कर दिया।

७. ध्वनिविरोधी मतों का आचार्य आनन्दवर्धन तथा उनके अनुयायियों द्वारा खण्डन

ऊपर ध्वनि के विरोधी जिन पक्षो का वर्णन किया गया है, उनका यदि सम्यक् रूप से विवेचन किया जावे तो वे तीन वर्गों म विभाजित किये जा सकते हैं पहले पक्ष के वे समालोचक हैं, जो ध्वनिवादियो के प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति अभिधा द्वारा मानते हैं और उसको वाच्य कहते हैं। दूसरे वे हैं, जो इस प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति लक्षणा द्वारा प्रतिपादित करते है। तीसरे वे है, जो अभिधा वृत्ति के द्वारा प्रतीति मानते हैं। आचार्य आनन्दवर्धन ने तथा उनके बाद अभिनवगुप्त और मम्मट ने विशद रूप से युक्तियाँ देकर इन ध्वनि विरोधी समालोचको के पक्ष का खण्डन किया इसकी विशद विवेचना 'ध्वन्यालोक' की व्याख्या के उस प्रसङ्ग मे की गई है, जहाँ ध्वनिकार ने अभाववादियो के मतो की समालोचना की है। यहाँ प्रतीयमान अर्थ और ध्वनि के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिये सामान्य रूप से कुछ युक्तियाँ प्रस्तुत की जा रही है।

(१) ध्वनि के मुख्य रूप से दो भेद हैं—अविवक्षितवाच्य और विवक्षितान्यपरवाच्य। इनमे अविवक्षितवाच्य ध्वनि लक्षणामूल एव विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि अभिधामूल है। यदि प्रतीयमान अर्थ को भी वाच्य मान लें तो अविवक्षितवाच्य ध्वनि का इसम समावेश नही हो सकता, क्योंकि अभिधा के विरत हो जाने पर लक्षणा द्वारा लक्ष्य अर्थ का बोध होकर प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति होती है। अत ध्वनि को अभिधा शक्ति के अन्तर्गत नही मान सकते। इसको लक्षणा के अन्तर्गत भी नही माना जा सकता क्योंकि विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि म अभिधा के विरत न होने से लक्षणा के प्रयोग का अवसर ही उपस्थित नही होता।

(वाच्य और प्रतीयमान का भेद)

(२) वाच्य अर्थ और प्रतीयमान अर्थ एक नहीं होते। अनेक हेतुओं के कारण वे एक दूसरे से भिन्न होते हैं। यह भेद बोद्धा, स्वरूप, सख्या, निमित्त, कार्य, प्रतीति, काल, आश्रय और विषय आदि के भेद के कारण होता है।[1] इन हेतुओं की विवेचना इस प्रकार है—

(क) बोद्धा—बोद्धा के भेद से वाच्य और प्रतीयमान अर्थ भिन्न होते हैं। वाच्य अर्थ का बोध तो शब्द और अर्थ का अनुशासन करने वाले कोश, व्याकरण आदि के ज्ञान से ही हो सकता है, परन्तु प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति काव्य के मर्म को जानने वाले सहृदयों को ही होती है।[2]

(ख) स्वरूप—वाच्य अर्थ के विधिरूप होने पर भी कहीं व्यङ्ग्य अर्थ निषेध रूप होता है। वहीं वाच्य अर्थ के निषेध रूप होने पर व्यङ्ग्य अर्थ विधि रूप होता है। कहीं वाच्य के विधि या निषेध रूप होने पर व्यङ्ग्य अर्थ अनुभय रूप होता है। वाच्य अर्थ के सशयात्मक होने पर व्यङ्ग्य अर्थ निश्चयात्मक होता है।

(ग) सख्या—वाच्य अर्थ सभी श्रोताओं के लिये एक ही होता है, परन्तु व्यङ्ग्य अर्थ की प्रतीति विभिन्न श्रोताओं के लिये अलग अलग हो सकती है। वाच्यार्थ के सकेतित होने के कारण इसका स्वरूप और स्वभाव नियत है, परन्तु प्रकरणादि के कारण व्यङ्ग्य अर्थ अनियत स्वभाव और अनियत स्वरूप होता है।

(घ) निमित्त—वाच्य अर्थ का बोध शब्दज्ञान से और प्रकरण आदि की सहायता से हो जाता है, परन्तु व्यङ्ग्य अर्थ की प्रतीति विशिष्ट प्रतिभा की निर्मलता से होती है।[3]

(ङ) कार्य—वाच्य अर्थ का कार्य केवल वस्तु का ज्ञानमात्र कराना है, परन्तु व्यङ्ग्य अर्थ से आनन्द रूप चमत्कार का आस्वादन होता है।

(च) प्रतीति—वाच्य अर्थ की प्रतीति केवल शाब्दबोध मात्र है। परन्तु व्यङ्ग्य अर्थ की प्रतीति शाब्दमय होने के साथ ही चमत्कारमय भी होती है।

(छ) काल—वाच्य अर्थ की प्रतीति पहले और व्यङ्ग्य अर्थ की प्रतीति बाद में होती है। यह कालभेद विद्यमान अवश्य होता है, चाहे वह सलक्ष्य हो या असलक्ष्य।

---

१. बोद्धस्वरूपसख्यानिमित्तकार्यप्रतीतिकालानाम्।
आश्रयविषयादीना भेदाद् भिन्नोऽभिधेयतो व्यङ्ग्यः ॥
साहित्यदर्पण ५.२ ॥

२. काव्यार्थशासनज्ञानमात्रेणैव न वेद्यते।
वेद्यते स तु काव्यार्थतत्त्वज्ञैरेव केवलम् ॥ ध्वन्यालोक १.७ ॥

३. तद्वत् सचेतसा सोऽर्थो वाच्यार्थविमुखात्मनाम्
बुद्धौ तत्त्वार्थदर्शिन्या झटित्येवावभासते ॥
ध्वन्यालोक १.१२।

(ज) आश्रय—वाच्य अर्थ का आश्रय शब्द या पद होता है, परन्तु व्यङ्ग्य अर्थ का आश्रय शब्द, शब्द का अर्थ, शब्द का एक अंश, वर्ण, संरचना आदि सभी हो सकते हैं।

(झ) विषय—वाच्य अर्थ का विषय नियत होता है। वह सबोध्य व्यक्ति के लिये ही होता है। परन्तु व्यङ्ग्य अर्थ का विषय नियत भी हो सकता है, अनियत भी हो सकता है और सम्बद्ध भी हो सकता है।

इस प्रकार वाच्य और व्यङ्ग्य अर्थ इन हेतुओ के कारण एक नही हो सकते, वे भिन्न ही होते हैं। अत ध्वनि का समावेश अभिधा के अन्तर्गत नही हो सकता।

(३) अभिधा द्वारा अन्वित वाच्य अर्थ का ही बोध होता है, अनन्वित का नही। परन्तु प्रतीयमान अर्थ अनन्वित भी हो सकता है। जैसे 'रवि कुरु' पद मे अन्वित वाच्य अर्थ सर्वथा दोष रहित है, परन्तु पदो के मध्य मे 'विकु' पद से अनन्वित अश्लील अर्थ का बोध होता है जो प्रतीयमान है।

(४) सयोग आदि द्वारा अभिधा का नियन्त्रण होने से अनेकार्थक शब्दो के एक ही अभिधेय अर्थ का बोध होता है। परन्तु अनेक बार दूसरे अर्थ की भी प्रतीति होती है। यह दूसरा अर्थ व्यञ्जना से प्रतीत होने के कारण व्यङ्ग्य होता है।[1] भर्तृहरि ने सयोग आदि की गणना इस प्रकार की है—

सयोगो विप्रयोगश्च साहचर्य विरोधिता।
अर्थ प्रकरण लिङ्ग शब्दस्यान्यस्य सन्निधि ॥
सामर्थ्यमौचिती देश कालो व्यक्ति स्वरादयः।
शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतव ॥

(क) सयोग सयोग का अर्थ है प्रसिद्ध सम्बन्ध। जैसे—हरि शब्द का प्रयोग विष्णु, यम, वायु शुक, कपि, इन्द्र सिंह आदि अनेक अर्थों मे होता है। परन्तु 'सशख-चक्र हरि' मे हरि के साथ शख और चक्र का सयोग होने से इसका वाच्य अर्थ विष्णु ही होगा।

(ख) वियोग—वियोग का अर्थ है प्रसिद्ध सम्बन्ध का अभाव। 'अशखचक्र हरि.' मे भी हरि का वाच्य अर्थ विष्णु ही होगा, क्योकि शख और चक्र का वियोग विष्णु से ही हो सकता है।

(ग) साहचर्य—सदा साथ रहना। 'रामलक्ष्मणौ' पद मे राम और लक्ष्मण से दशरथ पुत्र वाच्य अर्थ होगे। राम के अनेक अर्थ—बलराम, परशुराम, सुन्दर, और दशरथ पुत्र राम हैं। लक्ष्मण के भी अनेक अर्थ—दुर्योधन पुत्र लक्ष्मण, सारस और दशरथ पुत्र लक्ष्मण हैं। परन्तु दशरथ पुत्र राम और लक्ष्मण का साहचर्य प्रसिद्ध होने से वे ही वाच्य अर्थ के रूप मे ग्रहण होगे।

---

१ अनेकार्थस्य शब्दस्य वाचकत्वे नियन्त्रिते।
सयोगाद्यैरवाच्यार्थधीकृद् व्यापृतिरञ्जनम् ॥

काव्यप्रकाश १ १९।

(घ) विरोधिता—प्रसिद्ध वैर सम्बन्ध। 'रामार्जुनगतिस्तयो' म राम और अर्जुन के अनेव अर्थ होने पर भी यहाँ परशुराम और कार्तवीर्य अर्जुन का वैर सम्बन्ध प्रसिद्ध होने से वाच्य अर्थ के रूप मे वे ही ग्रहण किये जायेगे।

(ङ) अथ—अनन्यथासाध्य फल। 'स्थाणु भज भवच्छिदे' मे ससार की बाधा का हरण शिव द्वारा ही सम्भव होने स स्थाणु के अनेकाथक होने पर भी इसका वाच्य अथ शिव ग्रहण होगा।

(च) प्रकरण—वक्ता और श्रोता की बुद्धि म किसी बात का स्थित रहना। 'सर्व जानाति देव' वाक्य मे देव शब्द के अनेकाथक होन पर भी प्रकरण के कारण इसका वाच्य अथ सम्मुख स्थित राजा ही होगा, क्योकि यह अथ ही वक्ता और श्रोता की बुद्धि म स्थित है।

(छ लिङ्ग—असाधारण धम। 'कुपितोमकरध्वज' वाक्य म मकरध्वज के अनेकाथक होने पर भी इसका वाच्य अर्थ कामदेव होगा, क्योकि कामदेव की ध्वजा मे मकर का चिह्न प्रसिद्ध है। कोप कामदेव मे ही सम्भव हो सकता है, मकरध्वज के दूसरे अथ समुद्र मे नही।

(ज) अन्य शब्द की सन्निधि—अनेकार्थक शब्द किसी अथ का वाचन करने वाले अन्य शब्द का समीप होना। देवस्य पुराराते' मे देव अनेकाथक है। पुराराति शब्द का अर्थ शिव नियत है। अत पुराराति शब्द के सान्निध्य के कारण देव का वाच्य अथ शिव होगा।

(झ) सामर्थ्य—कारणता या समर्थता। मधुना मत्त कोकिल' मे मधु पद के अनेक अथ हैं। परन्तु कोकिल को मत्त करने की समथता या कारणता केवल वसन्त ऋतु म है। अत यहाँ मधु का वाच्य अर्थ वसन्त ऋतु होगा।

(ञ) औचिती—औचित्य या योग्यता। 'पातु वो दयितामुखम्' वाक्य मे मुख पद के अनेकार्थक होने पर भी इसका वाच्य अथ अनुकूलता ही होगा, क्योकि प्रियतमा की अनुकूलता ही इस प्रेमी की रक्षा करने की योग्यता रखती है।

(ट) देश—स्थान विशेष का नाम। 'भात्यत्र परमेश्वर' वाक्य म परमेश्वर शब्द क अनेकाथक होने पर इसका वाच्य अर्थ राजा होगा क्योकि अत्र पद द्वारा निर्दिष्ट राजधानी म राजा ही शोभायमान हो सकता है।

(ठ) काल—दिन, रात्रि आदि समय विशेष। 'चित्रभानु पद अनेकार्थक है। परन्तु 'चित्रभानुर्विभाति' वाक्य को यदि दिन म कहा जावे तो इस पद का वाच्य अर्थ सूय तथा रात्रि म कहा जावे यो वाच्य अर्थ अग्नि होगा।

(ड) व्यक्ति—पुल्लिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग और नपुसकलिंग। मित्र पद के अनेक वाच्य अथ हैं। परन्तु इसका 'मित्रोभाति' इस प्रकार पुलिङ्ग म प्रयोग करने पर सूर्य अर्थ होगा तथा 'मित्र भाति' इस प्रकार नपुसकलिङ्ग मे प्रयोग करने पर वाच्य अर्थ सुहृद होगा।

(ढ) स्वर—उदात्त अनुदात्त और स्वरित। 'इन्द्रशत्रु' पद को यदि आद्युदात्त

रूप से पढ़ा जावे तो इसका वाच्य अर्थ बहुव्रीहि समास में—'इन्द्रःशत्रु शातयिता यस्य' होगा। अन्तोदात्त रूप से पढ़ने पर इस पद का वाच्य अर्थ तत्पुरुष समास में 'इन्द्रस्य शत्रु' होगा।

इस प्रकार प्रकरण आदि द्वारा अभिधा के नियन्त्रित हो जाने से अनेकार्थक शब्दों में वाच्य अर्थ निश्चित हो जाता है। परन्तु व्यञ्जना का नियन्त्रण नहीं होता और इससे दूसरा अर्थ भी प्रतीयमान रूप में प्रतीति हो जाती है। इसलिये ध्वनि का समावेश अभिधा के अन्तर्गत नहीं किया जा सकता।

(५) ध्वनि का अन्तर्भाव लक्षणा में भी नहीं हो सकता, क्योंकि व्यङ्ग्य अर्थ की प्रतीति लक्षणा द्वारा नहीं हो सकती। प्रयोजनवती लक्षणा में फलरूप व्यङ्ग्य अर्थ की प्रतीति के लिये लक्षणा का प्रयोग किया जाता है। जैसे 'गङ्गायां घोषः' पद का वाच्य अर्थ 'गंगा का प्रवाह' बाधित है, क्योंकि घोष की स्थिति गंगा के प्रवाह में नहीं हो सकती। अतः वाच्य अर्थ के बाधित होने पर लक्षणा द्वारा 'गंगायाम्' का अर्थ 'गंगातटे' करते हैं। यहाँ 'गंगातटे' न कहकर 'गंगायाम्' कहने का तथा लक्षणा प्रयोग करने का एक विशेष प्रयोजन है कि घोष में गंगा के धर्म शीतलत्व, पावनत्व आदि की प्रतीति हो। इस वाक्य में गंगा पद का गंगातट अर्थ तो लक्षणा द्वारा विदित होता है परन्तु शीतलत्व आदि धर्मों की प्रतीति लक्षणा द्वारा नहीं होती, यह व्यञ्जना द्वारा ही होती है। अतः लक्षणा का प्रयोग सदा प्रयोजन की प्रतीति के लिये होता है तथा वह प्रतीति व्यञ्जना द्वारा होती है।[1]

यह प्रतीति अभिधा द्वारा नहीं हो सकती, क्योंकि गंगा पद शीतलत्व आदि अर्थों का साक्षात् संकेत नहीं करता। शीतलत्व आदि अर्थों के बाधित न होने से तथा हेतुत्रय के विद्यमान न होने से उनकी प्रतीति लक्षणा द्वारा भी नहीं हो सकती[2]। यदि यहाँ प्रयोजन आदि को लक्ष्य अर्थ मान भी लिया जावे, तो अन्य प्रयोजनों की कल्पना करनी पड़ेगी और इससे अनवस्था दोष होगा[3]। कुछ समालोचक कह सकते हैं कि प्रयोजन से विशिष्ट लक्ष्य अर्थ का बोध लक्षणा द्वारा हो सकता है। इस प्रकार व्यङ्ग्य अर्थ की प्रतीति की लक्षणा द्वारा हो जाने से ध्वनि का अन्तर्भाव लक्षणा में हो सकेगा। इसका उत्तर ध्वनिवादी देते हैं—प्रयोजन से युक्त लक्ष्य अर्थ की प्रतीति लक्षणा द्वारा नहीं हो सकती, क्योंकि यह नियम है कि ज्ञान का फल तथा ज्ञान का विषय एक नहीं

---

१. यस्य प्रतीतिमाधातुं लक्षणा समुपास्यते ।
फले शब्दैकगम्येऽत्र व्यञ्जनान्नापरा क्रिया ॥ का० प्र० २.१४-१५ ॥

२. नाभिधा समयाभावाद् हेत्वभावान्न लक्षणा ।
लक्ष्यं न मुख्यं नाप्यत्र बाधो योगः फलेन नो ।
न प्रयोजनमेतस्मिन् न च शब्दः स्खलद्गतिः ॥ का० प्र० २.१५-१६ ॥

३. एवमप्यनवस्था स्याद् या मूलक्षयकारिणी ॥ का० प्र० २.१७ ॥

होते, परन्तु अलग-अलग होते हैं[1]। जिस प्रकार घट ज्ञान का विषय है तथा उसमे उत्पन्न ज्ञातता या सवित्ति ज्ञान का फल है और ये दोनो अलग अलग हैं, इसी प्रकार लक्षणा का विषय लक्ष्य अर्थ है और इसका फल प्रयोजन है। ये लक्ष्य और प्रयोजन क्योकि अलग अलग होते है। इसलिये प्रयोजन से विशिष्ट लक्ष्य अर्थ का बोध लक्षणा द्वारा नही हो सकता। अत. ध्वनि का अन्तर्भाव लक्षणा मे नही हो सकता।

(लक्ष्य और व्यङ्ग्य अर्थ का भेद)

(६) लक्ष्य अर्थ और व्यङ्ग्य अर्थ एक नही होते, अर्थात् इनमे भेद होता है। इनका भेद इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है—

(क) यद्यपि लक्ष्य अर्थ व्यङ्ग्य अर्थ के समान अनेक प्रकार का होता है, तथापि वह वाच्य अर्थ से सम्बद्ध होता है। वाच्य अर्थ से अनियत—सम्बन्ध लक्ष्य अर्थ का बोध नही हो सकता। परन्तु व्यङ्ग्य अर्थ वाच्य अर्थ से नियतसम्बन्ध, अनियत-सम्बन्ध और सम्बद्धसम्बन्ध हो सकता है।

(ख) मुख्यार्थ बाधा होने पर ही लक्षणा से लक्ष्य अर्थ का प्रतीति होती है, परन्तु व्यङ्ग्य अर्थ की प्रतीति मुख्यार्थ बाधा और लक्षणा के अभाव मे भी हो सकती है।

(ग) लक्षणा के व्यापार मे प्रयोजन की प्रतीति के लिये व्यञ्जना का सहारा लेना पडता है, परन्तु व्यञ्जना के व्यापार मे व्यङ्ग्य अर्थ की प्रतीति के लिये किसी अन्य शक्ति का सहारा लेने की आवश्यकता नही होती।

(घ) जिस प्रकार अभिधा सङ्केत पर निर्भर होती है, उसी प्रकार लक्षणा को मुख्यार्थ बाधा आदि तीन हेतुओ की अपेक्षा होती है। परन्तु व्यञ्जना से व्यङ्ग्य अर्थ की प्रतीति के लिये किसी अन्य हेतु की अपेक्षा नही है।

(ङ) लक्षणा व्यापार से व्यञ्जना व्यापार सर्वथा भिन्न होता है। व्यङ्ग्य अर्थ की प्रतीति लक्ष्य अर्थ के बोध के अनन्तर होती है। परन्तु यह आवश्यक नहीं कि व्यङ्ग्य अर्थ की प्रतीति लक्ष्य अर्थ के बोध के अनन्तर ही हो, क्योकि अभिधा के आश्रय से भी, बिना लक्षणा के ही व्यञ्जना व्यापार से व्यङ्ग्य अर्थ की प्रतीति हो सकती है। लक्षणा और अभिधा के बिना भी, अवाचक वर्णों से व्यङ्ग्य अर्थ की प्रतीति हो जाती है तथा वर्णों के बिना भी कटाक्ष आदि सकेतो से व्यङ्ग्य अर्थ की प्रतीति हो जाती है।

इस प्रकार लक्षणा व्यापार एव लक्ष्य अर्थ के व्यञ्जना व्यापार एव व्यङ्ग्य अर्थ से सर्वथा भिन्न होने के कारण ध्वनि का अन्तर्भाव लक्षणा के अन्तर्गत नहीं हो सकता।

(७) रस आदि का अनुभव अभिधा तथा लक्षणा द्वारा नहीं हो सकता। इसके अनुभव के लिये व्यञ्जना वृत्ति को स्वीकार करना ही होगा। अभिधा और लक्षणा से

---

१. प्रयोजनेन सहित लक्षणीय न युज्यते।
ज्ञानस्य विषयो ह्यन्य. फलमन्यदुदाहृतम्॥ का० प्र० २ १७–१८॥

उन्हीं वस्तुओं का ज्ञान हो सकता है, जो प्रत्यक्ष आदि के अनुभव से पूर्वसिद्ध हों। परन्तु रसरूप वस्तु के अनुभव से पहले विद्यमान न होने से उसमें पूर्वसिद्धता न होने के कारण इसका बोध अभिधा और लक्षणा से नहीं हो सकता। लक्षणा से भी केवल उसी अवस्था में लक्ष्य अर्थ का बोध होता है, जब मुख्यार्थ बाधा हो। रस की प्रतीति में मुख्य अर्थ की बाधा न होने से लक्षणा का प्रयोग नहीं हो सकता[1]। अत अभिधा या लक्षणा में ध्वनि का अन्तर्भाव नहीं किया जा सकता।

(८) व्यङ्ग्य अर्थ की प्रतीति अनुमान द्वारा भी नहीं की जा सकती। अर्थात् प्रतीयमान अर्थ अनुमेय नहीं हो सकता। अनुमिति के पक्ष का प्रतिपादन महिमभट्ट ने किया था। उनके अनुसार ध्वनि-वादियों के प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति अनुमान द्वारा हो जाती है, अत ध्वनि का अन्तर्भाव अनुमान में हो जाता है। इसी को सिद्ध करने के लिये उसने 'व्यक्तिविवेक' नामक ग्रन्थ लिखा था।[2] उसने कहा कि ध्वनिवादी *आचार्यों ने प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति के लिये जिस व्यञ्जकता सामग्री* को स्वीकार किया था, वही सामग्री अन्ततोगत्वा अनुमिति के पक्ष में सिद्ध होती है[3]।

महिमभट्ट ने ध्वनिकार के 'भम धम्मिअ०' उदाहरण में निषेधरूप अर्थ का प्रतिपादन अनुमान के द्वारा किया। इसमें 'गोदावरी तीर' पक्ष 'भीरुभ्रमण का निषेध' साध्य और 'भय के कारण सिंह की उपलब्धि' हेतु है। महिमभट्ट ने कहा कि 'भय के कारण सिंह की उपलब्धि रूप हेतु से 'गोदावरी तीर पर धार्मिक के भ्रमण के निषेध रूप' साध्य का अनुमान हो सकेगा।

परन्तु महिमभट्ट का यह पक्ष स्वय खण्डित हो जाता है। वही हेतु अपने साध्य को सिद्ध कर सकता है, जो कि एकान्तिक हो, अविरुद्ध हो, नियत हो और सिद्ध हो। 'भय के कारण सिंह की उपलब्धि रूप' हेतु में अनैकान्तिकता, विरुद्धता, अनियतता और असिद्धता दोषों के होने के कारण इस हेतु से साध्य की सिद्धि नहीं हो सकती और इस प्रकार प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति अनुमान द्वारा सिद्ध नहीं हो सकती। उसके लिये व्यञ्जना व्यापार को स्वीकार करना होगा।

साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ का कथन है कि व्यञ्जना वृत्ति से प्रतीत होने वाले व्यङ्ग्यार्थ रस आदियों की प्रतीति कराने में अनुमान समर्थ नहीं है। रस के अनुमेय होने में *अनुमितिवादियों ने जो हेतु दिये हैं, वे हेतु नहीं है, अपितु हेत्वाभास* हैं। रस को स्मृति का विषय भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि स्मृति तो पूर्व अनुभव का संस्कार रूप प्रबोध है तथा रस साक्षात्स्वरूप होते हैं[4]।

---

१ प्रागसत्त्वाद्रसादेर्नो बोधिके लक्षणाभिधे।
किञ्च मुख्यार्थबाधस्य विरहादपि लक्षणा ॥ सा० द० ५.३ ॥

२. अनुमानेऽन्तर्भावं सर्वस्यैव ध्वनेः प्रकाशयितुम्।
व्यक्तिविवेकं कुरुते प्रणम्य महिमा परां वाचम् ॥ व्यक्तिविवेक ॥

३. याऽर्थान्तराभिव्यक्तौ व. सामग्रीष्टा निबन्धनम्।
सैवानुमितिपक्षे नो गमकत्वेन सम्मता ॥ व्यक्तिविवेक।

४ नानुमानं रसादीनां व्यङ्ग्यानां बोधनक्षमम्।
आभासत्वेन हेतूनां स्मृतिर्न च रसादिधीः ॥ सा० द० ५.४

प्रतीयमान अर्थ को अनुमान मे अन्तर्भावित करने का पहला प्रयत्न महिमभट्ट का ही नही था। आनन्दवर्धन से पूर्व या उनके समय मे भी यह प्रश्न उठा था कि प्रतीयमान अर्थ अनुमेय हो सकता है। ध्वनिकार ने तृतीय उद्योत मे इस प्रश्न को उठाकर इसका समाधान किया है। वे प्रश्न उठाते हैं—

यहाँ व्यञ्जकत्व को अस्वीकार करने का अवसर है। शब्दो का जो व्यञ्जकत्व है, वह ही गमकत्व है और वह लिङ्गत्व है। अत व्यङ्ग्य अर्थ की प्रतीति लिङ्गी की प्रतीति है। अत यहाँ शब्द और अर्थ मे लिङ्गलिङ्गिभाव है। व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव नही है। क्योकि ध्वनिकार द्वारा वक्ता के अभिप्राय की अपेक्षा से व्यञ्जकत्व प्रतिपादित किया गया है और वह वक्ता का अभिप्राय अनुमेय ही होता है।"

इसका ध्वनिकार उत्तर देते हैं—'यदि ऐसा भी है तो हमारा क्या बिगड गया। अभिधा और लक्षणा से अतिरिक्त व्यञ्जना नाम का व्यापार है, यह हमने स्वीकार किया है। उसको चाहे व्यञ्जकत्व कहलो या लिङ्गत्व कह लो। प्रसिद्ध अभिधा और लक्षणा से विलक्षण वह शब्द-व्यापार है। अत हमारा और आपका इस विषय मे विवाद नही हैं।

परन्तु यह उत्तर तो वास्तविक नही हुआ। वास्तविक उत्तर ध्वनिकार इस प्रकार देते हैं—"यह बात तथ्य नही है कि सब स्थानो पर व्यञ्जकत्व लिङ्गत्व ही हो और व्यङ्ग्य की प्रतीति लिङ्ग की प्रतीति हो। हमने जो यह कहा कि वक्ता का अभिप्राय ही व्यङ्ग्य की प्रतीति है तथा आपने हमारे उस कथन का अनुवाद कर दिया, तो इस विषय म स्थिति इस प्रकार है—

शब्दो के विषय दो प्रकार के होते हैं—अनुमेय और प्रतिपाद्य। इन अनुमेय विवक्षारूढ है और यह विवक्षा दो प्रकार की होती है—शब्द के स्वरूप के प्रकाशन की इच्छा और शब्द से अर्थ के प्रकाशक की इच्छा। इनमे पहली विवक्षा के शब्द व्यवहार (शाब्दबोध) की अग नही है। प्राणित्वमात्र की प्रतिपत्ति ही उसका फल है। दूसरी विवक्षा शब्द विशेष (वाचक आदि शब्द) के अवधारण से व्यवसित (समाप्त) एव व्यवहित होने पर भी शाब्दबोध के व्यवहार का अङ्ग होती है। शब्दो के ये दोनो विषय अनुमेय होते हैं।

प्रतिपाद्य विषय है—प्रयोक्ता की अर्थप्रतिपादन की इच्छा का विषयीभूत अर्थ। वह दो प्रकार का होता है—वाच्य और व्यङ्ग्य। प्रयोक्ता कभी तो अपने वाचक शब्द से अर्थ को प्रकाशित करना चाहता है और कभी किसी प्रयोजन विशेष के कारण अपने शब्द से अर्थ को प्रकाशित करना चाहता है और कभी किसी प्रयोजन विशेष के कारण अपने शब्द से अनभिधेय रूप से अर्थ को प्रकाशित करना चाहता है। शब्दो का यह दोनो प्रकार का प्रतिपाद्य विषय अनुमेय रूप से स्वत प्रकाशित नही होता, अपितु कृत्रिम सङ्केतादि रूप से और अकृत्रिम अभिधा व्यञ्जना रूप से प्रकाशित होता है। शब्दो के द्वारा इस अर्थ का विवक्षा विषयत्व तो अनुमेय रूप म प्रतीत हो सकता है, परन्तु इस अर्थ का स्वरूप अनुमेय रूप से प्रतीत नही होता।

यदि अर्थ के विषय मे शब्दो का व्यापार अनुमान के रूप से हो, तो शब्दो के अर्थ करने म सम्यक मिथ्या आदि प्रतीति क विवाद प्रवर्तित न हो, जिस प्रकार धूम से अग्नि के अनुमान करने म वे प्रवर्तित नही होते। परन्तु क्योकि वे विवाद होते है। अत शब्दो के अर्थ सदा अनुमेय नही होते।[1]

व्यङ्ग्य अर्थ वाच्य के सामर्थ्य स आक्षिप्त होने के कारण वाच्य के समान ही शब्द का भी सम्बन्ध होता है। यह सम्बन्ध साक्षात् रूप से या असाक्षात् (परम्परा) रूप से हो सकता है। व्यञ्जकत्व का आश्रय वाच्यवाचकभाव होता है। जब यह सम्बन्ध साक्षात् रूप से है, तब अर्थ अनुमेय हो सकता है, जब सम्बन्धान्तर हो तो यह व्यङ्ग्य ही होगा।

---

१. ब्रूयात्। अस्त्यतिसन्धानावसर। व्यञ्जकत्व शब्दाना गमकत्व तच्च लिङ्गत्वम्। अतश्च व्यङ्ग्यप्रतीतिर्लिङ्गिप्रतीतिरेवति लिङ्गलिङ्गिभाव एव तेषाम्, व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावोनापर कश्चित्। अतश्चैतदवश्यमेव बोद्धव्य यस्माद्वक्त्रभिप्रायापेक्षया व्यञ्जकत्वमिदानीमेव त्वया प्रतिपादितम्। वक्त्रभिप्रायश्चानुमेयरूप एव।

अत्रोच्यते। नन्वेवमपि यदि स्यात तत्किन्नश्छिन्नम्। वाचकत्वगुणवृत्तिव्यतिरिक्तो *व्यञ्जकत्वलक्षण शब्दव्यापारोऽस्तीत्यस्माभिरभ्युपगतम्। तस्य चैवमपि* न काचित् क्षति। तद्धि व्यञ्जकत्व लिङ्गत्वमस्तु अन्यद्वा। सवथा प्रसिद्धशाब्दप्रकारविलक्षणत्व शब्दव्यापारविषयत्व तस्यास्तीति नास्त्येवावयोर्विवाद।

न पुनरय परमार्थो यद् व्यञ्जकत्व लिङ्गत्वमेव सवत्र, व्यङ्ग्यप्रतीतिश्च लिङ्गिप्रतीतिरेवेति।

यदपि स्वपक्षसिद्धयेऽस्मदुक्तमनूदितम्, त्वया वक्त्रभिप्रायस्य व्यङ्ग्यत्वेनाभ्युपगमात् तत्प्रकाशने शब्दाना लिङ्गत्वमेवेति तदेतद् यथास्माभिरभिहित तद्विभज्य प्रतिपाद्यते।

द्विविधो विषयः शब्दानाम्। अनुमेय प्रतिपाद्यश्च। तत्रानुमेयो विवक्षालक्षण। विवक्षा च शब्दस्वरूपप्रकाशनेच्छा शब्दनार्थप्रकाशनेच्छा चेति द्विप्रकारा। तत्राद्या न *शाब्दव्यवहाराङ्गम्। सा हि प्राणित्वमात्रप्रतिपत्तिफला। द्वितीया तु शब्दविशेषावधारण*-व्यवसितव्यवहितापि शब्दकरणव्यवहारनिबन्धनम्। ते तु द्वे अप्यनुमेयो विषय. शब्दानाम्।

प्रतिपाद्यस्तु प्रयोक्तुरर्थप्रतिपादनसमीहाविषयीकृतोऽर्थः। स च द्विविधो वाच्यो व्यङ्ग्यश्च। प्रयोक्ता हि कदाचित् स्वशब्देनार्थं प्रकाशयितु समीहते, कदाचित् स्वशब्दानभिधेयत्वेन प्रयोजनापेक्षया कदाचित्। स तु द्विविधोऽपि प्रतिपाद्यो विषयः शब्दाना न लिङ्गीतया स्वरूपेण प्रकाशते, अपितु कृत्रिमेणाकृत्रिमेण वा सम्बन्धान्तरेण। विवक्षाविषयत्व हि तस्यार्थस्य शब्दैर्लिङ्गितया प्रतीयते न तु स्वरूपम्।

यदि हि लिङ्गितया तत्र शब्दाना व्यापार स्यात् तच्छब्दार्थे सम्यङ्मिथ्यात्वादिविवादा एव न प्रवर्तेरन्, धूमादिलिङ्गानुमितानुमेयान्तरवत्।

ध्वन्यालोक १.१३ की वृत्ति से।

काव्यो मे व्यङ्ग्य की प्रतीति होने पर उसके सत्य और असत्य की परीक्षा, असत्य प्रमाणो से नही की जाती । अत लिङ्गी की प्रतीति ही सब स्थानो पर व्यङ्ग्य की प्रतीति है, ऐसा कहना उचित नही है ।[1]

शब्दो की व्यञ्जकता अनुमेय रूप व्यङ्ग्य का विषय है, यह बात ध्वनि के व्यवहार की प्रयोजक नही है । इसके अतिरिक्त शब्द-अर्थ के सम्बन्ध को औत्पत्तिक (नित्य) मानने वाले मीमासकों को भी शब्दो के व्यञ्जकत्व रूप व्यापार को स्वीकार करना चाहिए । यह व्यञ्जकत्व कभी तो लिङ्गरूप से और कभी अन्य रूप से (अभिव्यक्ति रूप से) वाचक और अवाचक सभी शब्दों का होता है, इसे हमको स्वीकार करना चाहिये ।

इस प्रकार आनन्दवर्धन ने 'ध्वन्यालोक' म प्रतीयमान अर्थ को अनुमेय प्रतिपादित करने का खण्डन किया । आनन्दवधन के पश्चात् महिमभट्ट ने जो अनुमान के अन्तर्गत ध्वनि को प्रतिपादित करन का प्रयत्न किया था, उसका खण्डन मम्मट, विश्वनाथ आदि आचार्यों ने किया । इस प्रकार आनन्दवर्धन ने काव्य की समालोचना मे जिस ध्वनि के मार्ग को प्रवर्तित किया था, उसका समर्थन तथा उनके विरोधियो का खण्डन होकर ध्वनि के सिद्धान्त को सर्वसम्मत रूप से स्वीकार कर लिया गया ।

८. ध्वनि की मूल प्रेरणा

ध्वनि के सिद्धान्त की मूल प्रेरणा ध्वनिकार ने वैयाकरणों के स्फोट सिद्धान्त से ग्रहण की थी । ध्वनि के लक्षण (१.१०) मे 'सूरिभि कथित' पदो की व्याख्या करते हुये आनन्दवर्धन का कहना है कि यह ध्वनि का सिद्धान्त यो ही अप्रामाणिक रूप से प्रचलित नही हो गया है, परन्तु विद्वानो ने इस उक्ति को प्रारम्भ किया था । सबसे प्रधान विद्वान् वैयाकरण है । वे सुनाई देने वाले वर्णों म ध्वनि सज्ञा का व्यवहार करते हैं । वैयाकरणो के मत का अनुसरण करन वाले काव्यार्थतत्त्वविद् समालोचको ने उनके अनुसार ही वाच्य, वाचक, सम्मिश्र (व्यङ्ग्य अथ), व्यञ्जना व्यापार (शब्दात्मा) और काव्य इन सबको ध्वनि कहा है ।[2]

वैयाकरणो से ही ध्वनिवादियो ने ध्वनि के सिद्धान्त को ग्रहण किया था,

---

१ काव्यविषये च व्यङ्ग्यप्रतीतीना सत्यासत्यनिरूपणस्याप्रयोजकत्वमेवेति तत्र प्रमाणान्तरव्यापारपरीक्षोपहासायैव सम्पद्यते । तस्माल्लिङ्गिप्रतीरेव सर्वत्र व्यङ्ग्यप्रतीतिरिति न शक्यते वक्तुम् ।

ध्वन्यालोक ३.३३ की वृत्ति से ।

२ सूरिभि कथित इति विद्वदुपज्ञेयमुक्ति, न तु यथाकथञ्चित् प्रवृत्तेति प्रतिपाद्यते । प्रथमे हि विद्वासो वैयाकरणा, व्याकरणमूलत्वात् सर्वविद्यानाम् । ते च श्रूयमाणेषु वर्णेषु ध्वनिरिति व्यवहरन्ति । तथैवान्यैस्तन्मतानुसारिभि काव्यतत्वार्थदर्शिभिर्वाच्यवाचकसम्मिश्र शब्दात्मा काव्यमिति व्यपदेश्यो व्यञ्जकत्वसाम्याद् ध्वनिरित्युक्त । ध्वन्यालोक १.१३ की वृत्ति से ।

इसकी पुष्टि आचार्य मम्मट ने 'काव्यप्रकाश' में की थी। 'बुधै कथित' की व्याख्या करते हुये उन्होंने लिखा—बुध का अभिप्राय वैयाकरणों से है। उन्होंने प्रधानभूत स्फोटरूप व्यङ्ग्य को व्यञ्जित करने वाले शब्द को ध्वनि कहा। तदनन्तर उनके मत का अनुसरण करने वाले दूसरे साहित्यशास्त्रियों ने भी वाच्य अर्थ का तिरस्कार करने वाले व्यङ्ग्य अर्थ के व्यञ्जक शब्दार्थयुगल को ध्वनि कहा।[2]

प्राचीन काल से ही व्याकरण को सब शास्त्रों का मूल कहा जाता रहा है और किसी भी शास्त्र का अध्ययन करने से पूर्व व्याकरण का अध्ययन अनिवार्य रहा है। भर्तृहरि के अनुसार व्याकरण सब शास्त्रों का दीपक है।[3] इन वैयाकरणों ने सुनाई देने वाले शब्दों को ध्वनि माना तथा ध्वनिवादियों ने शब्दार्थयुगल को।

ध्वनि का आधार स्फोटवाद' से प्रारम्भ होता है। स्फोट पद की व्युत्पत्ति है—'स्फुट्यति अर्थः अस्मादिति स्फोटः।" अर्थात् जिससे अर्थ स्फुटित होता है, वह स्फोट है। स्फोटवाद एक दर्शन कहा जाता है। इसके प्रारम्भ को निश्चय से नहीं कहा जा सकता। तथापि पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' के सूत्र "अवङ्स्फोटायनस्य" (६.१.१२३) के द्वारा स्फोटायन आचार्य को इसका प्रथम प्रतिपादक कहा जाता है। स्फोटायन की व्याख्या 'काशिका' की 'पदमञ्जरी' टीका में हरदत्त ने इस प्रकार की है—"स्फोटोऽयनं पारायणं यस्य स स्फोटायनः स्फोटप्रतिपादनपरो वैयाकरणाचार्यः।"

स्फोटवाद के अनुसार शब्द नित्य है तथा पाणिनि, यास्क, कात्यायन और पतञ्जलि ने भी शब्द की नित्यता को स्वीकार किया है वैयाकरण शब्द को नित्य, एक और अखण्ड मानते हैं।[4]

पतञ्जलि के अनुसार शब्दों का ग्रहण बुद्धि द्वारा होता है और श्रोत्र के द्वारा प्राप्त होता है जो कि आकाश का स्थान है।[5] हमारे कर्णप्रदेश में जो आकाश है, उसी में शब्द की प्राप्ति होती है। परन्तु इस प्रसङ्ग में एक प्रश्न उत्पन्न होता है। किसी भी शब्द की रचना वर्णों द्वारा होती है। शब्द का उच्चारण करने पर क्रमशः वर्णों का उच्चारण होता है और वे वर्ण क्रमशः कर्ण के आकाश देश में पहुँचते हुये

---

१. काव्यप्रकाश १.४ ॥

२. इदमितिकाव्य बुधैर्वैयाकरणैः प्रधानभूतस्फोटरूपव्यङ्ग्यव्यञ्जकस्य शब्दस्य ध्वनिरिति व्यवहारः कृतः। ततस्तन्मतानुसारिभिरन्यैरपि न्यग्भावितवाच्यव्यङ्ग्यव्यञ्जनक्षमस्य शब्दार्थयुगलस्य। का० प्र० १.४ की वृत्ति ॥

३. उपासनीयं यत्नेन शास्त्रं व्याकरणं महत्।
प्रदीपभूतं सर्वासां विद्यानां यदवस्थितम् ॥ वाक्यपदीय ॥

४. नित्याश्च शब्दाः। महाभाष्य आह्निक–२ ॥

५. श्रोत्रोपलब्धिर्बुद्धिनिर्ग्राह्यः प्रयोगेणाभिज्वलित आकाशदेशः शब्दः। ...च पुनराकाशम्। महाभाष्य आह्निक-२ ॥

बुद्धि द्वारा गृहीत होते हैं। परन्तु प्रथम वर्ण के पहुचने के पश्चात् द्वितीय वर्ण के पहुचने पर प्रथम वर्ण नष्ट होता जाता है। इस प्रकार शब्द का उच्चारण करने पर अन्तिम वर्ण ही शेष रह जाता है। इस अन्तिम वर्ण से शब्द के अर्थ की प्रतीति कैसे हो ? यदि यह कहा जाये कि इस अन्तिम वर्ण से ही अर्थ की प्रतीति होती है, तो पूर्व वर्णों की व्यर्थता सिद्ध होती है, तथा यह कहा जावे कि सभी वर्णों के समुदाय से अर्थ की प्रतीति होती है, तो शब्द का उच्चारण करने पर सब वर्ण उपस्थित नही रहते। उदाहरण के रूप म 'गौ' शब्द को ले सकते है।

'गौ.' पद मे तीन वर्ण हैं—'ग', 'औ' और 'विसर्ग (:)'। उच्चारण करने पर इनकी स्थिति एक साथ नही हो सकती। 'ग्' का उच्चारण करने के बाद 'औ' वर्ण का उच्चारण करने पर 'ग्' वर्ण नष्ट हो जाता है तथा विसर्ग (.) का उच्चारण करने पर 'औ' वर्ण नष्ट हो जाता है। इस विसर्ग से अर्थ की प्रतीति कैसे हो सकती है ? इसका उत्तर 'स्फोटवाद' द्वारा दिया गया है। शब्द क्योकि बुद्धि से ग्रहण किये जाते हैं, अत 'ग' और 'औ' का उच्चारण करन के अनन्तर 'विसर्ग ( )' का उच्चारण करने पर इन पहले वर्णों के नष्ट हो जाने पर भी इनका सस्कार बुद्धि मे बना रहता है। अन्तिम वर्ण का अनुमान पूर्व वर्णों के सस्कारो के साथ मिल कर सम्पूर्ण शब्द को उपस्थित करके अर्थ को अभिव्यक्त कर देता है। पतञ्जलि के अनुसार यह शब्द स्फोट है तथा ध्वनि उसका गुण है। आचार्य भर्तृहरि ने ग्रहीता शब्दो मे दो शब्द माने हैं, एक तो निमित्त है तथा दूसरा अर्थ को प्रयुक्त करता है।[1]

अभिप्राय यह है कि श्रोता की बुद्धि मे अन्तिम वर्ण सहित सम्पूर्ण शब्द स्फोट रूप म विद्यमान रहता है, यह ध्वनि रूप शब्द का उपादान कारण है, यह ध्वनि स्फोट की व्यञ्जक है और अर्थ बोध कराती है। स्फोट व्यङ्ग्य होता है तथा ध्वनि व्यञ्जक है। यदि इसको सूक्ष्मता से देखा जावे तो अन्तिम वर्ण का अनुरणन ही ध्वनि है, जो कि पूर्व वर्णों के सस्कार सहित अन्तिम वर्ण क उच्चारण के साथ सम्पूर्ण शब्द के अर्थ का बोध कराती है।

स्फोट और ध्वनि के स्वरूप को भर्तृहरि ने और भी अधिक स्पष्ट किया है—

"जो इन्द्रियो के (जिह्वा आदि के) सयोग और वियोग से उत्पन्न होता है, वह शब्द स्फोट है और इस स्फोट रूप शब्द स उत्पन्न शब्द ध्वनि कहलाते हैं[2]।"

इसको हम इस प्रकार स्पष्ट कर सकते हैं। शब्दो की उत्पत्ति इन्द्रियो के सयोग या वियोग से होती है। मुख म जिह्वा, तालु, होठ आदि इन्द्रिया के परस्पर टकराने या अलग होन स शब्द उच्चरित होते हैं। परन्तु जिस शब्द का उच्चारण

१. द्वावुपादानशब्देषु शब्दौ शब्दविदा विदु ।
एको निमित्त शब्दानामपरोऽर्थो प्रयुज्यते ॥

२. य सयोगविभागाभ्या करणैरुपजायते ।

किया जाता है, वह श्रूयमाण नही होता। उच्चरित शब्द उत्पन्न होते ही नष्ट हो जाता है, परन्तु नष्ट होने से पूर्व यह तरङ्गो के रूप मे एक नये शब्द को उत्पन्न कर देता है, जो कि चारो ओर फैल जाती है। यह शब्द नष्ट होकर और अधिक व्यापक शब्द तरङ्ग को उत्पन्न करता है। इस प्रकार इन शब्द तरङ्गो का विस्तार क्रमशः बढता जाता है, जो कि अन्त मे श्रोता के कर्णविवर मे प्रवेश करती है। यह स्थिति उसी प्रकार की है, जैसे जलाशय मे पत्थर फेंकने पर एक जलतरङ्ग का घेरा उत्पन्न होता है, वह घेरा और बडी जलतरङ्ग के घेरे को उत्पन्न करता है, और अन्त मे वर्तुलाकार जलतरङ्ग सम्पूर्ण सरोवर को व्याप्त कर लेती है। इसको 'वीचीसन्तानन्याय' कहते हैं। इस प्रकार से घण्टे के अनुरणन रूप यह ध्वनि स्फोट रूप शब्द के अर्थ को प्रकट करती है। इसी को भर्तृहरि ने और भी स्पष्ट किया है—

अनिर्वचनीय, एवं व्यक्तरूप स्फोट के ग्रहण के अनुकूल प्रत्ययो से ध्वनि के द्वारा स्फोट रूप शब्द के प्रकाशित हो जाने पर उसके स्वरूप का अवधारण किया जाता है[1]।

अभिप्राय यह है कि स्फोट श्रूयमाण वर्णरूप ध्वनियो से ग्रहण के अनुकूल है और अनिर्वचनीय प्रत्ययो द्वारा ग्रहण करके प्रकाशित किया जाता है और इससे स्फोट के स्वरूप का अवधारण होता है। इस प्रकार वैयाकरण स्फोट के स्वरूप को प्रकाशित करने वाले शब्द को ध्वनि कहते हैं। स्फोट व्यङ्ग्य है एवं ध्वनि व्यञ्जक है। इनके अनुकरण मे आलङ्कारिक शब्द और अर्थ दोनो के व्यञ्जक होने के कारण दोनो को ध्वनि कहते हैं।

स्फोट की स्थिति बुद्धि में उसी प्रकार रहती है, जिस प्रकार लकडी मे अग्नि स्थित रहती है। जिह्वा, कण्ठ, तालु आदि इन्द्रियो के सयोग एवं वियोग से अभिव्यक्त होकर यह ध्वनि की स्थिति मे आता है। जिस प्रकार काष्ठ की रगड से उत्पन्न अग्नि स्वय को प्रकाशित करता हुआ अन्य वस्तुओ को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार ध्वनि द्वारा व्यञ्जित स्फोट अपने को प्रकाशित करके अर्थ को भी प्रकाशित करता है। स्फोट और ध्वनि मे तादात्म्य है, इसीलिये विशिष्ट ध्वनि से विशिष्ट स्फोट रूप शब्द का प्रकाशन होता है। स्फोट मे स्वय मे क्रम तथा भेद नही होता इसमे क्रम और भेद की प्रतीति ध्वनि द्वारा होती है।

वैयाकरणो ने ध्वनि के दो भेद किये है प्राकृत और वैकृत। प्राकृत ध्वनि मौलिक ध्वनि है तथा वैकृत ध्वनि उसका अनुरणन रूप है। प्राकृत ध्वनि मे वर्णों के ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत, आदि स्वरूप रहते हैं, परन्तु उसमे कालभेद का आरोप वैकृत ध्वनि से होता है। कभी शब्दो को तीव्र गति से (द्रुत), कभी मध्यम गति से (मध्य) और कभी धीरे धीरे (विलम्बित) पढ़ा जाता है। ये द्रुत, मध्य और विलम्बित

---

१ प्रत्ययैरनुपाख्येयैर्ग्रहणानुगुणैस्तथा।
ध्वनिप्रकाशिते शब्दे स्वरूपमवधार्यते ॥ वाक्यपदीय ॥

गतियाँ वैकृत ध्वनि के रूप में होती हैं। प्राकृत ध्वनि से स्फोट का ग्रहण होता है, जो कि काल भेद से रहित है तथा इसको स्फोट का प्रतिबिम्ब कहा गया है। प्राकृत ध्वनि के पश्चात् उत्पन्न होने वाली काल भेद से युक्त वैकृत ध्वनि उत्पन्न होती है[1]।

इस प्रकार वैयाकरणों ने स्फोट रूप शब्द को अभिव्यक्त करने वाले ध्वनि रूप शब्द को जो कि प्राकृत और वैकृत दो प्रकार का है ध्वनि कहा। उनका अनुकरण करते हुए वैयाकरणों ने प्रसिद्ध अभिधा एवं लक्षणा नामक व्यापारों से भिन्न प्रतीयमान अर्थ के अभिव्यञ्जक व्यञ्जना व्यापार को ध्वनि कहा, इसके साथ ही वाचक शब्द वाच्य अर्थ एवं व्यङ्ग्य अर्थ द्वारा भी प्रतीयमान अर्थ की अभिव्यञ्जना करने के कारण इनको ध्वनि कहा। काव्य में क्योंकि ये सभी तत्व समुदाय रूप में रहते हैं अतः उसको भी ध्वनि कहा गया।

६ ध्वनि शब्द का अर्थ

ध्वनि शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार की जा सकती है—

(१) ध्वनति इति ध्वनि।

(२) ध्वन्यते इति ध्वनि।

(३) ध्वनन ध्वनि।

प्रथम व्युत्पत्ति के अनुसार प्रतीयमान अर्थ को अभिव्यक्त करने वाले वाचक शब्द और वाच्य अर्थ ध्वनि कहलाते हैं। दूसरी व्युत्पत्ति के अनुसार व्यङ्ग्य अर्थ ध्वनि है और तीसरी व्युत्पत्ति के अनुसार व्यञ्जना व्यापार ध्वनि है। ये चारों प्रकार की ध्वनियाँ क्योंकि काव्य में रहती हैं अतः काव्य को भी ध्वनि कहा जाता है। आनन्दवर्धन ने इन पाँचों को ध्वनि नाम दिया है[2]।

इन पाञ्च प्रकार की ध्वनियों की व्याख्या अभिनवगुप्त ने इस प्रकार की है—

इसलिए वाच्य अर्थ भी ध्वनि है और वाचक शब्द भी ध्वनि है, क्योंकि दोनों का व्यञ्जकत्व ध्वनन व्यापार करता है। विभाव अनुभाव आदि के संवलन से जो सम्मिश्रित होता है वह व्यङ्ग्य अर्थ भी ध्वनि है क्योंकि वह ध्वनित किया जाता है। शब्दन शब्द अर्थात् शब्द का व्यापार भी ध्वनि है जो कि अभिधा आदि के स्वरूप वाला नहीं है, अपितु आत्मभूत है। काव्य नाम वाला पदार्थ भी ध्वनि है क्योंकि उसमें पूर्वोक्त ध्वनि के चारों प्रकार निहित रहते हैं[3]।

---

१ स्फोटस्य ग्रहणे हेतु प्राकृतो ध्वनिरिष्यते।
वृत्तिभेदे निमित्तत्वं वैकृत प्रतिपद्यते॥ वाक्यपदीय॥

२ वाच्यवाचकसम्मिश्रः शब्दात्मा काव्यमिति व्यपदेश्यो व्यञ्जकत्वसाम्याद् ध्वनिरित्युक्त। ध्वन्यालोक १ १३ की वृत्ति से।

३ तेन वाच्योऽपि ध्वनि वाचकोऽपि शब्दो ध्वनि द्वयोरपि व्यञ्जकत्वं ध्वनतीति कृत्वा। सम्मिश्र्यते विभावानुभावसंवलनयेति व्यङ्ग्योऽपि ध्वनि ध्वन्यते इति कृत्वा। शब्दनं शब्द शब्दव्यापार न चासावभिधादिरूप अपितु आत्मभूत, सोऽपि ध्वनि। काव्यमिति व्यपदेश्यश्च योऽर्थ सोऽपि ध्वनि उक्तप्रकारध्वनिचतुष्टयमयत्वात्॥ ध्वन्यालोक १ १३ की वृत्ति की लोचनटीका से॥

इस प्रकार यहाँ ध्वनि की संज्ञा केवल काव्य को नही, अपितु शब्द, अर्थ, व्यङ्ग्य अर्थ व्यञ्जना व्यापार और काव्य इन पाँचो को दी गई है। आचार्य विश्वेश्वर ने इन पाँचो मे ध्वनित्व की व्युत्पत्ति इस प्रकार दिखाई है[१]—

(१) ध्वनति ध्वनयति वा यः स व्यञ्जक. शब्द. ध्वनि.—जो ध्वनित करे या कराये वह व्यञ्जक शब्द ध्वनि है।

(२) ध्वनति ध्वनयति वा य. स व्यञ्जकोऽर्थः ध्वनिः—जो ध्वनित करे या कराये, वह व्यञ्जक अर्थ ध्वनि है।

(३) ध्वन्यते इति ध्वनि·—जो ध्वनित किया जावे वह ध्वनि है। इसमे रस, अलङ्कार और वस्तु—व्यङ्ग्य अर्थ के ये तीनो रूप आ जाते हैं।

(४) ध्वन्यते अनेन इति ध्वनिः—जिसके द्वारा ध्वनित किया जावे, वह ध्वनि है। इससे शब्द अर्थ के व्यापार व्यञ्जना आदि शक्तियो का बोध होता है।

(५) ध्वन्यतेऽस्मिन्निति ध्वनि—जिसमे वस्तु, अलङ्कार, रसादि ध्वनित हो, उस काव्य को ध्वनि करते हैं।

शब्द, अर्थ, व्यङ्ग्य अर्थ, व्यञ्जना व्यापार और काव्य इन पाँचो को ध्वनि सज्ञा से व्यवहृत करते हुये भी ध्वनिकार ने ध्वनि की परिभाषा मे काव्य को मुख्य माना है। इसका कथन है कि जहाँ वाचक शब्द स्वय को और अपने अर्थ को तथा वाच्य अर्थ स्वय को गुणीभूत करके उस प्रतीयमान अथ को अभिव्यक्त करते हैं, उस काव्य को ध्वनि कहते है[२]। ध्वनिकार के इस प्रतिपादन का समर्थन उत्तरवर्ती मम्मट, विश्वनाथ आदि आचार्यो ने किया था। इन आचार्यों के अनुसार ध्वनि वह काव्य होता है, जहाँ वाच्य अर्थ की अपेक्षा प्रतीयमान अर्थ का अतिशय होता है। ध्वन्यालोक के ध्वनिकाव्य के लक्षण (१.१३) की व्याख्या करते हुये अभिनवगुप्त ने भी काव्य को ही मुख्य रूप से ध्वनि प्रतिपादित किया है[३]।

इस प्रकार ध्वनिकार के अनुसार बाचक शब्द, वाच्य अर्थ, व्यङ्ग्य अर्थ, व्यञ्जना व्यापार और काव्य इन पाँचो को ध्वनि कहा गया है और इनमे भी काव्य को मुख्य रूप से ध्वनि कहा गया है।

१०. ध्वनिकाव्य का लक्षण

ध्वनिकाव्य की परिभाषा सबसे प्रथम आनन्दवर्धन ने की थी। यह इस प्रकार है—

---

१. आचार्य विश्वेश्वरकृत ध्वन्यालोक टीका की भूमिका पृ० ३।।

२. यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ ।
व्यक्त काव्यविशेष· स ध्वनिरिति सूरिभि. कथितः।। ध्वन्यालोक १.१३।।

३. अर्थो वा शब्दो वा व्यापारो वा। अर्थोऽपि वाच्यो वा ध्वनतीति, शब्दोऽप्येवम्। व्यङ्ग्यो वा ध्वन्यत इति व्यापारो वा शब्दार्थयोर्ध्वननमिति। कारिकया तु प्राधान्येन समुदाय एव काव्यरूपो मुख्यतया ध्वनिरिति प्रतिपादितम्।
ध्वन्यालोक १.१३ वृत्ति लाचनटीका से।

यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ ।
व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः ॥

इसी की आगे वे व्याख्या करते हैं यत्रार्थो वाच्यविशेष, वाचकविशेष शब्दो वा, तमर्थं व्यङ्क्त स काव्यविशेषो ध्वनिरिति ।

जहाँ वाचक शब्द अपने आपको तथा अपने अर्थ को और वाच्य अर्थ अपने अर्थ को गुणीभूत करके उस प्रतीयमान अर्थ को अभिव्यक्त करते हैं, उस काव्य विशेष को ध्वनि कहा जाता है ।

आचार्य आनन्दवर्धन के अनुसार ध्वनि का लक्षण प्रतीयमान और वाच्य अर्थ के अतिशय के आधार पर किया जाना चाहिये । काव्य में दो प्रकार के मुख्य अर्थ होते हैं—वाच्य और प्रतीयमान । यदि वाच्य अर्थ की अपेक्षा प्रतीयमान अर्थ अतिशयित है, तब वह काव्य ध्वनि होगा । यदि वह अतिशयित नहीं है तब वह काव्य ध्वनि नहीं होगा, उसको गुणीभूत व्यङ्ग्य काव्य कहेंगे[1] । यद्यपि वाच्य और प्रतीयमान दोनों ही अर्थ सहृदय श्लाघ्य हैं[2] तथापि इन दोनों में प्रतीयमान अर्थ का अधिक महत्त्व है और यह काव्य के प्रसिद्ध अंग शब्द और अर्थ से भिन्न कोई अलौकिक ही वस्तु है, जो कि काव्य में उसी प्रकार निहित रहता है, जिस प्रकार अंगनाओं में लावण्य निहित रहता है ।[3]

वाच्य अर्थ की अपेक्षा व्यङ्ग्य अर्थ के अतिशयित होने का अभिप्राय यह है कि जहाँ वाच्य अर्थ की अपेक्षा व्यङ्ग्य अर्थ में चमत्कार का चारुत्व का अतिशय होता है । इसको ध्वनिकार ने इस प्रकार स्पष्ट किया है—

'चारुत्वोत्कर्षनिबन्धना हि वाच्यव्यङ्ग्ययोः प्राधान्यविवक्षा ।"

वाच्य और व्यङ्ग्य अर्थों में प्रधानता या अतिशयता उनके चारुत्व के अतिशय के कारण होती है । अर्थात् जहाँ वाच्य अर्थ का चारुत्व अधिक हो वहाँ वाच्य अर्थ अतिशयित होता है और जहाँ व्यङ्ग्य अर्थ का चारुत्व अधिक हो, वहाँ व्यङ्ग्य अर्थ अतिशयित होता है ।

ध्वनिकार ने इस प्रकार प्रतीयमान अर्थ के अतिशय के आधार पर काव्य के दो मुख्य भेद किये थे—ध्वनि और गुणीभूत व्यङ्ग्य । उन्होंने यह भी बताया कि जिस काव्य में प्रतीयमान अर्थ की विवक्षा नहीं है, अपितु शब्दालङ्कारों या अर्थालङ्कारों का चमत्कार प्रदर्शित करने के लिये कवि काव्य की रचना करता है, वह चित्र काव्य होता

१. प्रकारोऽन्यो गुणीभूतव्यङ्ग्यः काव्यस्य दृश्यते ।
यत्र व्यङ्ग्यान्वये वाच्यचारुत्वं स्यात् प्रकर्षवत् ॥ ध्वन्यालोक ३.३५ ॥

२. योऽर्थः सहृदयश्लाघ्यः काव्यात्मेति व्यवस्थितः ।
वाच्यप्रतीयमानाख्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ ॥ ध्वन्यालोक १.२ ॥

३. प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम् ।
यत्तत् प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु ॥
ध्वन्यालोक १.४ ॥

है। वस्तुतः आनन्दवर्धन चित्र काव्य को काव्य की संज्ञा नहीं देना चाहते, उसको वे काव्य की अनुकृतिमात्र समझते हैं तथा ध्वनि और गुणीभूतव्यंग्य को ही काव्य प्रतिपादित करते हैं[1]।

आनन्दवर्धन ने जिस प्रकार ध्वनि का लक्षण किया था, उत्तरवर्ती ध्वनिवादी आचार्यों ने उसका प्रायः अनुसरण किया। इनमें मम्मट ने ध्वनि का लक्षण इस प्रकार किया—

इदमुत्तममतिशयिनि व्यंग्ये वाच्याद् ध्वनिर्बुधैः कथितः। का० प्र० १.४॥

जब वाच्य अर्थ की अपेक्षा व्यंग्य अर्थ अतिशयित होता है, तो वह उत्तमकाव्य कहलाता है तथा इसी को विद्वान् मनुष्य ध्वनि कहते हैं। इसकी व्याख्या करते हुये वे कहते हैं—"न्यग्भावितवाच्यव्यंग्यव्यञ्जनक्षमस्य शब्दार्थयुगलस्य ध्वनिरिति व्यवहारः कृतः"। अर्थात् वाच्य अर्थ को तिरस्कृत करने वाले व्यंग्य अर्थ को व्यञ्जित करने में समर्थ शब्दार्थयुगल को ध्वनि कहा जाता है।

प्रतीयमान अर्थ के अतिशय के आधार पर ही मम्मट ने काव्य के तीन भेद किये हैं। जहाँ वाच्य अर्थ की अपेक्षा प्रतीयमान अर्थ अतिशयित है, वह उत्तम, ध्वनि काव्य है। जहाँ वाच्य अर्थ की अपेक्षा प्रतीयमान अर्थ अतिशयित नहीं होता, अर्थात् वाच्य अर्थ का चारुत्व अधिक है या दोनों अर्थों का चारुत्व समान है, वह मध्यम, गुणीभूतव्यंग्य काव्य है[2]। जहाँ प्रतीयमान अर्थ की विवक्षा नहीं है शब्दालंकार या अर्थालङ्कार के चमत्कार को प्रदर्शित किया गया है, उसको चित्रकाव्य कहते हैं, जो शब्दचित्र एवं वाच्यचित्र दो प्रकार का है और अधम कहा गया है[3]।

इस प्रकार मम्मट ने प्रतीयमान अर्थ के आधार पर काव्य के स्पष्ट रूप से तीन भेद—ध्वनि (उत्तम काव्य), गुणीभूतव्यंग्य (मध्यम काव्य) तथा चित्र (अधम) काव्य स्वीकार किये हैं।

पण्डितराज जगन्नाथ ने काव्य के भेद प्रदर्शित करने में प्रतीयमान अर्थ का आधार लेकर मम्मट का अनुसरण तो किया, परन्तु कुछ भेद भी कर दिया है। उन्होंने काव्य के तीन के स्थान पर चार भेद किये। जहाँ शब्द और अर्थ अपने को अभिव्यक्त करते हैं, वह प्रथम उत्तमोत्तम ध्वनि काव्य है। जहाँ व्यंग्य अर्थ अप्रधान रहकर ही चमत्कार को उत्पन्न करता है, वह दूसरा उत्तम गुणीभूत व्यंग्य काव्य है। जहाँ व्यंग्य के चमत्कार का समानाधिकरण न होकर वाच्य अलङ्कार चमत्कृति का हेतु है, वह तीसरा मध्यम अर्थचित्र काव्य है। जहाँ अर्थ के चमत्कार से उपस्कृत

---

१. ततोऽन्यद्रसभावादितात्पर्यरहितं व्यंग्यार्थविशेषप्रकाशनशक्तिशून्यं च काव्यं केवलवाच्यवाचकवैचित्र्यमात्राश्रयेणोपनिबद्धमालेख्यप्रख्यं यदाभासते तच्चित्रम्। न तन्मुख्यं काव्यम्। काव्यानुकारो ह्यसौ॥ ध्वन्यालोक ३.४३ की वृत्ति से।

२. अतादृशि गुणीभूतव्यंग्यं व्यंग्ये तु मध्यमम्॥ का० प्र० १.५॥

३. शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यंग्यं त्ववरं स्मृतम्॥ का० प्र० १.५॥

शब्दालकार की चमत्कृति है, वह चौथा अधम शब्दचित्र काव्य है[1]।

विश्वनाथ ने भी काव्य के भेद प्रतिपादित करने मे आनन्दवर्धन का अनुकरण करते हुये प्रतीयमान अर्थ को आधार बनाया। उसके अनुसार उत्तम काव्य वह है, जहाँ व्यङ्ग्य अर्थ वाच्य अर्थ की अपेक्षा अतिशयित होता है। उसी को ध्वनि कहते हैं[2]। दूसरा काव्य गुणीभूत व्यङ्ग्य है, जहाँ कि व्यङ्ग्य अर्थ वाच्य अर्थ की अपेक्षा अधिक चमत्कारकारी नही है[3]।

विश्वनाथ ने काव्य के दो ही भेद स्वीकार किये हैं—ध्वनि और गुणीभूत-व्यङ्ग्य। विश्वनाथ के अनुसार काव्य वह वाक्य है, जो रसात्मक है[4]। चित्रकाव्य मे अलङ्कारो का ही चमत्कार होने के कारण रसात्मकता नही होती। अत उन्होंने चित्र-काव्य मे काव्यत्व नही माना होगा। परन्तु ध्वनि और गुणीभूतव्यंग्य, इन दोनो प्रकार के काव्यो मे रस के व्यंग्य होने से रसात्मकता विद्यमान रहती है, अत इन दोनो मे काव्य व निहित रहता है। इस प्रकार काव्य के ध्वनि और गुणीभूतव्यंग्य, इन दो भेदो के करने मे विश्वनाथ ने ध्वनिकार का ही आश्रय लिया है।

विश्वनाथ ने रसात्मक काव्य को काव्य कहा है तथा उसके ध्वनि और गुणी-भूतव्यंग्य दो भेद किये हैं। अर्थात् इन दोनो ही काव्यों मे रसात्मकता होती है। इस पर यह आक्षेप किया जाता है कि जिस काव्य मे वाक्य का जीवनाधायक तत्त्व रस है, उसमे व्यंग्य के वाच्य की अपेक्षा अतिशयित होने या न होने की बात निस्सार सी है। वह काव्य स्वय ही रसाभिव्यञ्जक होने के कारण चाहे ध्वनि कहा जावे या गुणीभूत-व्यंग्य कहा जावे सहृदयाह्लादक होगा। अतः विश्वनाथ द्वारा काव्य के इन दो भेदो का प्रतिपादन प्राचीनकाव्यशास्त्र की परम्परा का अनुसरण मात्र ही है। वस्तुतः रस आदि के तात्पर्य से जब काव्य का निबन्धन किया जाता है तो गुणीभूतव्यंग्य और ध्वनि रूप मे भेद ही क्या रह जाता है रसादि के तात्पर्य की दृष्टि से गुणीभूतव्यंग्य काव्य को भी आनन्दवर्धन ने ध्वनि रूप ही कहा है[5]। ध्वनि के तीन भेद हैं—वस्तुध्वनि, अलङ्कारध्वनि और रसध्वनि। आनन्दवर्धन की दृष्टि मे काव्य के ध्वनि और गुणी-भूतव्यंग्य भेद वस्तुध्वनि और अलङ्कारध्वनि से ही हो सकते हैं। जहाँ रसध्वनि है, अर्थात् जिस काव्य की रचना रसादि के तात्पर्य से नियोजित होती है, वह सदा ध्वनि होता है।

१ शब्दार्थौ यत्र गुणीभावितात्मानौ कमप्यर्थमभिव्यङ्क्तस्तदाद्यम्। यत्र व्यङ्ग्यम-प्रधानमेव सच्चमत्कारकारणं तद् द्वितीयम्। यत्र व्यङ्ग्यचमत्कारासमानाधिकरणो वाच्य-चमत्कारस्तद् तृतीयम्। यत्रार्थचमत्कृत्युपस्कृता शब्दचमत्कृतिः प्रधानं तदधमं चतुर्थम्।
रसगंगाधर प्रथम आनन॥

२. वाच्यातिशयिनि व्यङ्ग्ये ध्वनिस्तत्काव्यमुत्तमम्॥ सा० द० ४.१॥

३. अपरं तु गुणीभूतव्यङ्ग्यं वाच्यादनुत्तमे व्यङ्ग्ये॥ सा० द० ४.१३॥

४. वाक्यं रसात्मकं काव्यम्॥ सा० द० १.३॥

५ प्रकारोऽयं गुणीभूतव्यङ्ग्योऽपि ध्वनिरूपताम्।
धत्ते रसादितात्पर्यपर्यालोचनया पुनः॥ध्वन्यालोक ३.४१॥

आनन्दवर्धन ने ध्वनिकाव्य का जो लक्षण किया, उसी का अनुसरण उत्तरवर्ती आचार्यों ने किया तथा उनके अनुसार ध्वनिकाव्य वह है, जिस काव्य में वाच्य अर्थ की अपेक्षा व्यङ्ग्य अर्थ का अतिशय अभिव्यञ्जित होता है। यह अतिशय चारुत्व के उत्कर्ष की अपेक्षा से विवक्षित होता है। जहाँ वाच्य अर्थ की अपेक्षा व्यङ्ग्य अर्थ का चारुत्व अधिक है, वह काव्य ध्वनिकाव्य कहलाता है। परन्तु जो काव्य रसादि के तात्पर्य से निबन्धित होता है वह सदा ध्वनिरूप ही होता है।

११. ध्वन्यालोक ग्रन्थ का स्वरूप तथा इसका प्रतिपाद्य विषय

'ध्वन्यालोक' ग्रन्थ को चार विभागों (उद्योतों) में विभक्त किया गया है। विषय के प्रतिपादन के लिये इसका लेखन तीन प्रकार से है—कारिकायें वृत्ति और उदाहरण। 'ध्वन्यालोक' में कितनी कारिकायें है यह विवादास्पद है। काव्यमाला प्रथम संस्करण के अनुसार इसमे १२६ कारिकायें है। परन्तु चौखम्बा संस्कृत सीरीज के संस्करण मे ११६ कारिकायें व्यवस्थित की गई हैं। इनमें चौखम्बा संस्करण अधिक शुद्ध और मान्य रहा है। इसके अनुसार प्रथम उद्योत मे १६, द्वितीय उद्योत मे ३३, तृतीय उद्योत मे ४७ तथा चतुर्थ उद्योत मे १७ कारिकायें हैं।

'ध्वन्यालोक' मे मूल सिद्धान्त कारिकाओं म दिये गये हैं। इन सिद्धान्तो की व्याख्या तथा विवेचना वृत्ति मे की गई है और उनको उदाहरणों द्वारा पुष्ट किया गया है। वृत्ति भाग मे कुछ स्थानो पर परिकर श्लोक, सक्षेप श्लोक और संग्रह श्लोक भी हैं। इनमे वृत्ति भाग के व्याख्यात अर्थ को पुन कहा गया है।

'ध्वन्यालोक' मे अनेक पाठभेद मिलते है। कारिका और वृत्ति के शुद्ध पाठों के सम्बन्ध मे मतभेद है। इसके अतिरिक्त कुछ विद्वान् ध्वन्यालोक की सम्पूर्ण कारिकाओं की रचना एक साथ नही मानते। प्रो० शिवप्रसाद भट्टाचार्य का कथन है कि चतुर्थ उद्योत की कारिकायें बाद मे जोड़ी गई हैं। प्रस्तुत व्याख्या मे पाठभेदो पर प्रकाश नही डाला गया, क्योंकि उन पर विचार करना अधिक महत्वपूर्ण नहीं समझा गया। इसमे चौखम्बा सीरीज के पाठ को शुद्ध मानकर उसी का प्रयोग किया गया है।

'ध्वन्यालोक' ग्रन्थ का मुख्य उद्देश्य ध्वनि के सिद्धान्त की स्थापना करना है। इसमे ध्वनिकार ने काव्य के एक सार्वभौम सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। उन्होंने ध्वनि के सिद्धान्त मे उपस्थित हो सकने वाली सभी आपत्तियों का निवारण करके ध्वनि के सिद्धान्त की स्थापना की। उनकी मान्यता है कि काव्य मे वाच्य और प्रतीयमान नाम के दो अर्थ होते हैं। काव्य मे वास्तविक सौन्दर्य प्रतीयमान अर्थ का है जहाँ वाच्य अर्थ की अपेक्षा प्रतीयमान अर्थ मे अधिक चारुत्व की निष्पत्ति होती है, वह काव्य ध्वनि कहलाता है। इस ग्रन्थ मे ध्वनिकार ने ध्वनि के लक्षण तथा भेदो-प्रभेदो का विस्तृत वर्णन किया है, तथा बताया है कि यह ध्वनिकाव्य ही सहृदयों के हृदयो को आकर्षित करने वाला है।

ध्वनि की स्थापना करते हुये ध्वनिकार ने इस काव्य मे प्रसङ्ग से प्राप्त कुछ अन्य अलङ्कारशास्त्रीय सिद्धान्तो—गुण, रीति, अलङ्कार, पदसंघटना आदि पर भी

विचार किया है। इस स्थान पर उद्योत क्रम से ध्वन्यालोक के प्रतिपाद्य विषय पर विचार करना उपयोगी होगा।

'ध्वन्यालोक' के प्रथम उद्योत मे ध्वनिकार ने ध्वनि की स्थापना करने के लिये सबसे पहले ध्वनि को काव्य की आत्मा बताकर ध्वनिविरोधियो के तीन मुख्य पक्षो को प्रस्तुत किया—अभाववादी, भक्तिवादी और अलक्षणीयतावादी। पुनः अभाववादियो के तीन पक्ष कहे गये हैं। ध्वनि के इन विराधियो की युक्तियों को कह कर ध्वनिकार ने उनका खण्डन किया है और बताया है कि ध्वनि का अन्तर्भाव अभिधा मे, अलङ्कारो मे, या लक्षण मे नही किया जा सकता। ध्वनि का क्योकि लक्षण किया गया है। अतः इसको अलक्षणीय या अनिर्देश्य भी नही कह सकते।

काव्य मे दो प्रकार के अर्थ होते हैं—वाच्य और प्रतीयमान। वाच्य अर्थ का बोध शब्दशास्त्र के ज्ञान से होता है तथा प्रतीयमान अर्थ सहृदयसवेद्य है। यह अर्थ ही काव्य मे अधिक चारुत्व का हेतु है। जिस काव्य मे प्रतीयमान अर्थ वाच्य अर्थ की अपेक्षा प्रधान, अतिशयित या चारुत्व के आधिक्य से युक्त होता है, उस काव्य को ध्वनि कहते हैं। प्रतीयमान अर्थ तीन प्रकार का होता है—वस्तु अलङ्कार, और रस। यद्यपि अनेक अलङ्कार ऐसे हैं, जिनमे प्रतीयमान अर्थ भी होता है, परन्तु ध्वनि का अन्तर्भाव उनमे नही हो सकता। उन समासोक्ति, आक्षेप, अप्रस्तुतप्रशसा, विशेषोक्ति आदि अलङ्कारो मे प्रतीयमान अर्थ के होते हुये भी वाच्य अर्थ की प्रधानता होती है, अत वहाँ ध्वनि नही होती। यदि किसी अलङ्कार मे प्रतीयमान अर्थ की प्रधानता हो भी, जैसे कि पर्यायोक्त अलङ्कार मे कभी होती है, तो उसका ध्वनि मे अन्तर्भाव हो सकता है, परन्तु ध्वनि का उसमे नहीं।

ध्वनिकाव्य के दो मुख्य भेद हैं—अविवक्षितवाच्य और विवक्षितान्यपरवाच्य। अविवक्षितवाच्य लक्षणामूल ध्वनि है, जहाँ वाच्य अर्थ विवक्षित नही होता। विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि अभिधामूल है। इसमे वाच्य अर्थ विवक्षित होने पर भी अन्य प्रतीयमान अर्थ का प्रधान रूप से बोध कराता है।

द्वितीय उद्योत मे ध्वनि के भेदो का स्वरूप उदाहरण सहित बताया गया है। अविवक्षितवाच्य ध्वनि के दो भेद होते हैं—अर्थान्तरसक्रमित और अत्यन्ततिरस्कृत। इसी प्रकार विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि के दो भेद मुख्य भेद हैं—असलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य और सलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य।

असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावशान्ति, भावोदय, भावसन्धि और भावशबलता के भेद से अनेक प्रकार की है। इनमें भी रसो और भावो के भेद से यह पुन असख्य प्रकार की हो जाती है। इसी प्रसङ्ग मे ग्रन्थकार ने गुणो और अलङ्कारो के स्वरूप को बताकर उनके भेद को भी बताया है।

इस प्रकरण मे आनन्दवर्धन ने प्राचीन गुणसम्बन्धी मन्तव्यों का तिरस्कार करके गुणो की सख्या तीन निर्धारित की और इनको रसो का आश्रित एव उपकारक

प्रतिपादित किया। उन्होंने यह भी बताया कि कौनसा गुण किस रस के आश्रित रहता है।

ध्वनिकार के अनुसार जब रसादि प्रधान रूप से अभिव्यक्त होते हैं तो वहाँ रसादि ध्वनि होती है और जब ये अप्रधान या अङ्गरूप होते हैं तो रसवदादि अलङ्कार होते हैं। रसादि ध्वनि के प्रसङ्ग मे ही यह भी बताया गया है कि इनकी योजना मे अलङ्कारों का प्रयोग किस प्रकार करना चाहिये।

असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि का निरूपण करके संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि का निरूपण किया गया है। यह दो प्रकार की होती है—शब्दशक्त्युद्भव और अर्थशक्त्युद्भव। उत्तरवर्ती आचार्यों ने उभयशक्त्युद्भव ध्वनि का भी संयोजन इसमे किया, परन्तु आनन्दवर्धन ने संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि के ये ही दो मुख्य भेद बताये। परन्तु कारिका २.२३ मे तथा उसकी वृत्ति मे उभयशक्त्युद्भव ध्वनि का संकेत अवश्य है।[1] शब्दशक्त्युद्भव ध्वनि मे आचार्य ने अनेक अलङ्कारध्वनियो के उदाहरण दिये हैं, परन्तु वस्तुध्वनि का निर्देश नही किया। उत्तरवर्ती आचार्यों ने शब्दशक्त्युद्भव के दो भेद—वस्तुध्वनि एवं अलङ्कार ध्वनि किये।

अर्थशक्तिमूल के प्रमुख भेद है—प्रौढोक्तिमात्र निष्पन्न शरीर और स्वतःसम्भवी। प्रौढोक्तिमात्र निष्पन्न भी दो प्रकार का है—कविप्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्न शरीर और कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीर। इनके भी वस्तुध्वनि और अलङ्कारध्वनि भेद से दो दो भेद हो सकते हैं।

संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि के प्रसङ्ग मे ग्रन्थकार ने श्लेष और शब्दशक्तिमूल ध्वनि का भेद प्रदर्शित किया है और सभी ध्वनियो की सोदाहरण व्याख्या की है।

ध्वनिकार ने तृतीय उद्योत मे ध्वनि के भेदो की व्याख्या व्यञ्जक के भेद से की है जबकि द्वितीय उद्योत मे व्यङ्ग्य के भेद से की थी। अविवक्षित वाच्य ध्वनि के दो भेद हैं पदप्रकाश्य और वाक्यप्रकाश्य। इसी प्रकार विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि मे संलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य ध्वनि के दो भेद हैं—पदप्रकाश्य और वाक्यप्रकाश्य।

असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य की अभिव्यक्ति वर्ण पद वाक्य, संघटना और प्रबन्ध से होती है। यहाँ यह बताया गया है कि किस प्रकार के वर्णों से पदो से, पदो के अवयवो से तथा वाक्यो से रसादि की अभिव्यक्ति होती है।

अब ध्वनिकार ने संघटना व्यञ्जकता का विस्तार से वर्णन किया है। संघटना तीन प्रकार की होती है—असमासा, मध्यमसमासा और दीर्घसमासा। यह संघटना गुणो का आश्रय लेकर स्थित होती हुई रसो को अभिव्यक्त करती है। यहाँ आचार्य ने बताया है कि गुणो और संघटनाओ का क्या सम्बन्ध है तथा संघटना

१ शब्दार्थशक्त्याक्षिप्तोऽपि व्यङ्ग्योऽर्थः कविना पुनः।
यत्राविष्क्रियते स्वोक्त्या सान्यैवालङ्कृतिर्ध्वनेः॥ ध्वन्यालोक २.२३॥
उभयशक्त्या यथा। २.२३ की वृत्ति से।

का आधार वक्ता, अर्थ, विषय तथा रस की अनुरूपता है। ध्वनिकार के अनुसार रस-बन्ध का औचित्य सर्वत्र आवश्यक है।

संघटना की प्रकाश्यता का वर्णन करके प्रबन्ध की प्रकाश्यता का विस्तार से वर्णन है। रस आदि की व्यञ्जकता के अनुसार प्रबन्धरूप अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि का नियोजन किस प्रकार करना चाहिये इस तथ्य को यहाँ भली प्रकार समझाया गया है। इस प्रकरण मे रसो की अभिव्यक्ति तथा चर्वणा विभिन्न रसो के सहायक अलङ्कार कथावस्तु और उसका रस के साथ सम्बन्ध विभक्ति क्रिया, वचन सम्बन्ध (षष्ठी विभक्ति) कारक कृद तद्धित और समास की अलक्ष्यक्रमद्योत्यता, रसाभिव्यक्ति के विरोध का परिहार काव्य मे एक रस का प्रधान होना तथा अन्य रसो का उससे अङ्ग रूप मे रहना तथा रस के अनुगुण शब्दार्थ योजना करना, इन विषयो का सम्यक् प्रकार से प्रतिपादन किया गया है।

ध्वनिकार ने अब रस आदि अनुगुण वृत्तियो के प्रयोग का वर्णन किया है। ये दो प्रकार की होती हैं। वाच्य अर्थ के आश्रय से कैशिकी आदि वृत्तियाँ रहती है तथा वाचक शब्द के आश्रय से उपनागरिका आदि वृत्तियो का नियोजन किया जाता है। इसी प्रसङ्ग मे गुणवृत्ति और व्यङ्ग्य मे भेद की तथा व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव और अनुमान मे भेद की व्याख्या की गई है।

ध्वनिकाव्य का विस्तार से वर्णन करके आचार्य ने गुणीभूत व्यङ्ग्य काव्य की व्याख्या की है। वाच्य अर्थ की अपेक्षा व्यङ्ग्य अर्थ का अतिशय होने पर ध्वनिकाव्य होता है और अतिशय होने पर गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य होता है। ध्वनिकार का इस प्रसङ्ग मे यह भी कथन है कि यदि गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य की योजना रसादि के तात्पर्य से की जाती है तो यह भी ध्वनि रूप ही होता है।

ध्वनि और गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य का विशद चित्रण करके चित्रकाव्य का निदर्शन किया गया है। यह दो प्रकार का होता है—शब्द चित्र और अर्थचित्र। जहाँ व्यङ्ग्य अर्थ की प्रधानता या अप्रधानता हो वहाँ ध्वनि एव गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य होते हैं परन्तु जहाँ व्यङ्ग्य अर्थ की विवक्षा न हो केवल शब्दालङ्कारों या अर्थालङ्कारो का वैचित्र्य हो, वहाँ चित्रकाव्य होता है। आचार्य के अनुसार काव्य वस्तुत दो ही प्रकार के—ध्वनि और गुणीभूतव्यङ्ग्य होते हैं। चित्रकाव्य वस्तुत काव्य नही है, अपितु वह काव्य की अनुकृतिमात्र है।

ध्वनि गुणीभूतव्यङ्ग्य तथा चित्रकाव्यो के स्वरूप का निरूपण करके आचार्य ने बताया है कि इन काव्यो के परस्पर मिश्रण से ध्वनि के असख्य भेद और प्रभेद हो सकते हैं तथा सत्काव्य को जानने के लिये ध्वनि का स्वरूप जानना आवश्यक है। तदनन्तर रीतियो और वृत्तियो के सम्बन्ध म सक्षेप से ध्वनिकार का मत है।

चतुर्थ उद्योत म ध्वनिकार ने प्रतिभा के आनन्त्य का विस्तार से वर्णन किया है। साधारण वस्तु भी कवि की कल्पना के चमत्कार से अपूर्व नवीन रूप धारण कर लेती हैं। यद्यपि व्यङ्ग्य व्यञ्जक भाव अनेक प्रकार का है तथापि कवि को

रसादिमय काव्य की रचना करने में सावधान रहना चाहिये। रामायण करुण रस प्रधान काव्य है। महाभारत में शास्त्रत्व और काव्यत्व दोनों निहित हैं तथा उनमें शांत रस की प्रधानता है। यद्यपि परम्परा से असंख्य काव्यों की रचना होती आई है तथा कविता का क्षेत्र अनन्त है। कवियों के काव्यों में संवाद (साम्य) भी हो सकता है जो कि तीन प्रकार का होता है—प्राणियों के प्रतिबिम्ब के समान चित्र आकार के समान और तुल्यशरीरी के समान। इनमें प्रथम दो प्रकार का साम्य त्याज्य होता है तथा अन्तिम प्रकार का ग्राह्य होता है। अक्षर वे ही हैं। नवीन अक्षरों की योजना वाचस्पति भी नहीं कर सकते। नवीन काव्य में वे ही अक्षर और पद नवीनता का आधान करते हैं।

अन्त में ध्वनिकार यह कह कर कि भगवती सरस्वती ही कवि की सहायक होती है और उन्होंने सहृदयों की उन्नति के लिये उत्तम काव्य की रचना के लिये ध्वनि के मार्ग का उन्मीलन किया है, इस ग्रन्थ को समाप्त करते हैं।

१२ परिकर संग्रह और संक्षेप श्लोक

ध्वन्यालोक में कारिकाओं के अतिरिक्त कुछ व्याख्यानात्मक पद्य हैं जो कि वृत्ति के भाग में दिये गये हैं। इनको ध्वनिकार ने परिकर संग्रह और संक्षेप श्लोक कहा है। परिकर श्लोकों का उपयोग ध्वनिकार ने कारिकाओं के विषय की अधिक व्याख्या करने के लिये तथा उनसे अधिक अर्थ का बोध कराने के लिये किया है। अभिनवगुप्त ने परिकर श्लोक की व्याख्या इस प्रकार की है—

परिकरार्थं कारिकार्थस्याधिकावापं कर्तुं श्लोकः परिकरश्लोकः।

परिकर के लिए अर्थात् कारिका के अर्थ का अधिक विस्तार करने के लिये कारिका से अधिक अर्थ कहने के लिये जिस श्लोक की रचना की जाती है वह परिकर श्लोक कहा जाता है। यह श्लोक वृत्ति के अन्तर्गत मूल की व्याख्या करता है जैसे तृतीय उद्योत में निम्न परिकर श्लोक है—

अव्युत्पत्तिकृतो दोषः शक्त्या संव्रियते कवेः।
यस्त्वशक्तिकृतस्तस्य स झटित्यवभासते॥[1]

अव्युत्पत्ति के कारण उत्पन्न दोष कवि की शक्ति (प्रतिभा) के द्वारा ढक जाता है परन्तु अशक्ति के कारण जो दोष उत्पन्न होता है वह तुरन्त प्रतीत हो जाता है। ध्वनिकार इस प्रकरण में संघटना में उत्पन्न दोषों की व्याख्या कर रहे हैं कि दोष दो प्रकार का होता है अव्युत्पत्तिकृत और अशक्तिकृत। काव्य की रचना में कवि की शक्ति (प्रतिभा) मुख्य है। कारिका में इस बात को नहीं कहा गया था। अतः कारिका के अर्थ से अधिक अर्थ को प्रकट करने वाला यह श्लोक परिकर श्लोक है।

परिकर श्लोक के अतिरिक्त कुछ संग्रह तथा संक्षेप श्लोक हैं। ध्वनिकार ने कारिकाओं तथा वृत्ति में विस्तार से जिन तथ्यों और युक्तियों को कहा उनको एक साथ संक्षेप से संग्रहित करके इन श्लोकों की रचना की गई जैसे कि प्रथम उद्योत में

---

१ ध्वन्यालोक ३.६ की वृत्ति से।

अलङ्कारों में ध्वनि का अन्तर्भाव नहीं हो सकता इसकी विवेचना करके निम्न श्लोकों में ध्वनिकार ने सम्पूर्ण विवेचना को संक्षेप से प्रस्तुत कर दिया—

व्यङ्ग्यस्य यत्राप्राधान्यं वाच्यमात्रानुयायिनः ।
समासोक्त्यादयस्तत्र वाच्यालङ्कृतयः स्फुटाः ।
व्यङ्ग्यस्य प्रतिभामात्रे वाच्यार्थानुगमेऽपि वा ।
न ध्वनिर्यत्र वा तस्य प्राधान्यं न प्रतीयते ।।
तत्परावेव शब्दार्थौ यत्र व्यङ्ग्यं प्रतिस्थितौ ।
ध्वनेः स एव विषयो मन्तव्यः सङ्करोज्झितः ।।[1]

परिकर, एवं संग्रह श्लोकों के आधार पर विष्णुपद भट्टाचार्य ने ध्वनि कारिकाओं के लेखकत्व पर भी विचार किया है। उनका कहना है कि ध्वन्यालोक' की वृत्ति में आये संक्षेप श्लोक वृत्तिकार की रचना है। संग्रह श्लोकों में से कुछ के पहले वृत्तिकार ने 'मया उक्तम्' कहा है। तथा कुछ से पहले नहीं कहा। जिनसे पहले 'मया उक्तम्' कहा है, उनके विषय में अभिनवगुप्त की टिप्पणी है कि ये वृत्तिकार की स्वयं की रचना हैं। जिनके पहले इस प्रकार नहीं कहा गया, उनके सम्बन्ध में अभिनवगुप्त मौन रहते हैं। इसी प्रकार से परिकर श्लोकों के लेखकत्व के सम्बन्ध में अभिनवगुप्त कोई टिप्पणी नहीं करता इससे प्रतीत होता है कि संग्रह श्लोकों में से कुछ की रचना वृत्तिकार की है, तथा कुछ की नहीं है। इसके अतिरिक्त परिकर श्लोकों की रचना भी वृत्तिकार की नहीं है। यह सिद्ध होता है कि इन श्लोकों की रचना वृत्तिकार से भिन्न किसी अन्य विद्वान् ने की होगी।। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि कारिकाकार और वृत्तिकार के मध्य लम्बे समय का व्यवधान रहा होगा और इस बीच में किसी अन्य विद्वान् ने इनकी रचना की होगी।[2]

विष्णुपद भट्टाचार्य का यह कथन अत्यधिक भ्रामक ही है। कारिकाकार और वृत्तिकार को भिन्न व्यक्ति मानकर ही यह अनुमान लगाया गया है। पहले तो यही सिद्ध करना है कि कारिकाकार और वृत्तिकार भिन्न व्यक्ति थे। जब तक यह सिद्ध नहीं होता, तब तक इन संग्रह श्लोकों तथा परिकर श्लोकों को किसी अन्य विद्वान् की रचना कैसे कहा जा सकता है ?

१३ ध्वन्यालोक की टीकायें

'ध्वन्यालोक' की रचना के अनन्तर इसके विषय के गाम्भीर्य की व्याख्या करने के लिये अनेक टीकायें और व्याख्यायें प्राचीन काल से लिखी जाती रही हैं। इनके विषय में संक्षिप्त परिचय देना यहां उपयोगी होगा।

(२) आचार्य अभिनवगुप्त की लोचनटीका—

ध्वन्यालोक की टीकाओं में सबसे प्रसिद्ध और प्रामाणिक टीका अभिनवगुप्त

---

१ ध्वन्यालोक १·१३ की वृत्ति से।

२ विष्णुपद भट्टाचार्य कृत ध्वन्यालोक की अंग्रेजी व्याख्या की भूमिका पृ० XXXV—XXXVI ।।

की लोचनटीका समझी जाती है। हस्तलिखित प्रतियों में इस टीका के अनेक नाम मिलते हैं—सहृदयालोकलोचन, ध्वन्यालोकलोचन, अथवा काव्यालोकलोचन, परवर्ती आचार्यों ने अभिनवगुप्त को लोचनकार के नाम से स्मरण किया है। साहित्यशास्त्र में 'ध्वन्यालोक' पर 'लोचन टीका' का वही महत्त्व है, जो पाणिनीय 'अष्टाध्यायी' पर 'महाभाष्य' का है तथा ब्रह्मसूत्रों पर शाङ्करभाष्य' का है। आचार्य अभिनवगुप्त ने स्वयं इस टीका का 'लोचन' नाम दिया और इसको ध्वन्यालोक (आलोक) के रहस्य का उन्मीलन करने वाला बताया।[1]

अभिनवगुप्त—आचार्य अभिनवगुप्त यद्यपि काश्मीर के थे, तथापि इनके पूर्वजों का मूल स्थान काश्मीर नहीं था। अभिनवगुप्त का समय ६५० ई० से १०२५ ई० तक निश्चित किया गया है। इससे लगभग २०० वर्ष पूर्व आठवीं शताब्दी में इनके पूर्वज कन्नौज से काश्मीर गये थे। राजतरङ्गिणी के अनुसार आठवीं शताब्दी में कन्नौज का राजा यशोवर्मा (७३०–७४०) था और काश्मीर का राजा मुक्तापीड या ललितादित्य (७२५–७६१) था। दोनों के मध्य युद्ध हुआ, जिसमें कन्नौज का राजा पराजित हुआ। उस समय अन्तर्वेदी (गङ्गा–जमुना के मध्य का देश) में अत्रिगुप्त नाम के विद्वान् थे। उनकी विद्वत्ता से ललितादित्य बहुत प्रभावित हुआ तथा उनको उसने काश्मीर में बसाया।

अभिनवगुप्त के अन्य पूर्वजों का उल्लेख नहीं मिलता। अभिनवगुप्त के दादा वराहगुप्त थे। वराहगुप्त के पुत्र नृसिंहगुप्त हुए तथा नृसिंहगुप्त के पुत्र अभिनवगुप्त थे। अभिनवगुप्त के चाचा का नाम वामनगुप्त था। अभिनवगुप्त के अनेक चचेरे भाई क्षेमगुप्त, उत्पलगुप्त, अभिनवगुप्त, चक्रगुप्त और पद्मगुप्त थे। इनकी माता का नाम विमला या विमलाकला था।

अभिनवगुप्त की प्रतिभा बहुमुखी थी। इन्होंने विविध प्रकार की रचनाओं का निर्माण किया। इनकी कुछ रचनाओं को तन्त्रों के वर्ग में, कुछ को स्तोत्रों के वर्ग में, कुछ को काव्यशास्त्र एवं नाट्यशास्त्र के वर्ग में तथा कुछ को शैवाद्वैतदर्शन (प्रत्यभिज्ञादर्शन) के वर्ग में रखा जा सकता है। अपने विभिन्न ग्रन्थों में अभिनवगुप्त ने अपने अनेक गुरुओं का श्रद्धापूर्वक उल्लेख किया है। विभिन्न गुरुओं से इन्होंने विभिन्न शास्त्रों का अध्ययन किया था। इनके साहित्यशास्त्र के गुरु भट्टेन्दुराज थे, जिनका इन्होंने बहुत आदर के साथ उल्लेख किया है। सम्भवतः भट्टेन्दुराज ने ही अभिनवगुप्त को 'ध्वन्यालोक' की शिक्षा दी थी। 'लोचन टीका' में अभिनवगुप्त ने जिस प्रकार भट्टेन्दुराज का स्मरण किया है, इससे कुछ समालोचकों ने यह अनुमान किया है कि भट्टेन्दुराज ने भी 'ध्वन्यालोक' पर कोई टीका लिखी होगी।

अभिनवगुप्त के साहित्यशास्त्र के गुरु भट्टतौत भी थे। इनसे इन्होंने

---

१. किं लोचनं विनालोको भाति चन्द्रिकयापि हि।
तेनाभिनवगुप्तोऽत्र लोचनोन्मीलनं व्यधात् ॥

नाट्यशास्त्र का अध्ययन किया था। नाट्यशास्त्र की अभिनवभारती टीका के अन्त में इन्होंने अपने गुरु का स्मरण किया है[1]। भट्टतौत ने 'काव्यकौतुक' नामक ग्रन्थ भी लिखा था जिस पर अभिनवगुप्त ने विवरण नाम से टीका लिखी थी। इसका उल्लेख उन्होंने लोचन टीका में शान्त रस के नियोजन की उपयोगिता को बतलाते हुये किया है[2]।

प्रतीत होता है कि अभिनवगुप्त आजीवन ब्रह्मचारी रहे। इन्होंने अपने परिवार का कोई उल्लेख नहीं किया। ये शिव के परम भक्त थे तथा इन्होंने उत्पलगुप्त द्वारा प्रतिपादित प्रत्यभिज्ञादर्शन का विकास किया था। काशी की एक परम्परा के अनुसार अभिनवगुप्त अपने १२०० शिष्यों सहित भैरवी स्तोत्र का पाठ करते हुये एक गुफा में प्रविष्ट हुए तथा अन्तर्धान हो गये। डा० ब्रियर्सन के अनुसार यह गुफा श्रीनगर से १३ मील दक्षिण पश्चिम की ओर है और बीरु नामक स्थान (प्राचीन नाम बहुरूपा) में स्थित है।

अभिनवगुप्त के जीवन और कृतित्व के सम्बन्ध में बहुत विस्तृत सामग्री उपलब्ध है। परन्तु इस प्रकरण में उसके अधिक उपयोगी न होने से उसको प्रस्तुत नहीं किया गया। इस विषय पर श्री जे० सी० चटर्जी लिखित 'काश्मीर शैविज्म' डा० भाण्डारकर लिखित 'वैष्णविज्म तथा शैविज्म' और डा० के० सी० पाण्डे लिखित शोधप्रबन्ध 'अभिनवगुप्त' को विस्तृत विवेचन के लिये देखा जा सकता है।

'ध्वन्यालोक' पर लोचनटीका से उसके रहस्य की तथा मन्तव्यों की समुचित रूप से व्याख्या होती है। इसमें अभिनवगुप्त ने अनेक आचार्यों तथा कवियों का उल्लेख किया है। टीका के अन्त में उन्होंने यह ठीक ही लिखा है—आनन्दवर्धन के विवेक से विकसित काव्यालोक के अर्थों के तत्त्वों की घटना करने से जिसके सार का अनुमान किया जा सकता है, जो प्रकाशमान सम्पूर्ण विषयों को प्रकाशित करने वाला है वह अभिनवगुप्त का विशिष्ट 'लोचन' व्यापारित हुआ है।[3]

(२) चन्द्रिकाटीका—

अभिनवगुप्त से पूर्व ध्वन्यालोक पर चन्द्रिका नाम की एक व्याख्या लिखी जा चुकी थी। अभिनवगुप्त ने लोचनटीका में कई स्थानों पर इस टीका का उल्लेख

१ द्विजवरतौत निर्मितसन्दध्यायार्थतत्त्वघटनेयम्।
अभिनवगुप्तेन कृता शिवचरणाम्भोजमधुपेन ॥

२ मोक्षफलत्वेन चायं परमपुरुषार्थनिष्ठत्वात्सर्वरसेभ्यः प्रधानतमः। स चायमस्मदुपाध्यायभट्टतौतेन काव्यकौतुके अस्माभिश्च तद्विवरणे बहुतरकृतनिर्णयपूर्वपक्ष सिद्धान्त इत्यलं बहुना। ध्वन्यालोक ३ २६ कारिका की वृत्ति की लोचन टीका से।

३ आनन्दवर्धनविवेकविकासिकाव्या—
लोकार्थतत्त्वघटनादनुमेयसारम्।
यत्प्रोन्मिषत्सकलसद्विषयप्रकाशि—
व्यापार्यताभिनवगुप्तविलोचनं तत् ॥

किया है। इन उल्लेखो से यह भी प्रतीत होता है कि यह टीका इन के किसी पूर्वज ने लिखी होगी। ये उल्लेख डा० काणे द्वारा इस प्रकार उद्धृत किये गये है[1]—

(१) यस्तु व्याचष्टे'''इत्यलं निजपूर्वजसगोत्रैः साकं विवादेन। पृष्ठ—(१५०–१५१)।

(२) यस्तु व्याचष्टे'''एतच्चापेक्षितविभावादिग्रन्थो'''इत्यलं पूर्ववंश्यैः सह बहुना सलापेन। (पृष्ठ २१६–२१७)।

(३) यत्तु त्रिष्वपि लोकेषु प्रतीयमानस्यैव रमाद्वय व्याचष्टे स्म सदेव विद्वीय तद् यात्रोत्सवमकार्षीत्। इत्यलं पूर्ववंश्यैः सह विवादेन। (पृष्ठ २६६)।

अभिनवगुप्त द्वारा प्रथम तथा तृतीय उद्योत के अन्त में जो श्लोक लिखा गया है, उससे भी यह प्रतीत होता है कि उसने लोचन टीका को लिखने मे चन्द्रिका टीका की सहायता ली थी। यह इस प्रकार है—

किं लोचनं विनालोको भाति चन्द्रिकयापि हि।

जिस प्रकार चादनी के होने हुए भी चन्द्रमा बिना आंखो के प्रकाशित नहीं होता, उसी प्रकार चन्द्रिका नाम की टीका से शोभित होते हुए भी यह 'ध्वन्यालोक' लोचनटीका से बिना शोभायमान नही होता।

लोचनकार के इस वाक्य से यह स्पष्ट है कि उनसे पूर्व चन्द्रिका नाम की टीका उनके किसी पूर्वज ने की थी। अभिनवगुप्त ने इस टीका से सहायता लेते हुये भी अनेक स्थानो पर अपना मतभेद प्रकट किया है।

चन्द्रिका टिका से 'व्यक्तिविवेक' के रचयिता महिमभट्ट जो कि अभिनवगुप्त से पहले हुये, परिचित रहे होगे। उन्होने अपने ग्रन्थ मे इस टीका का उल्लेख प्रस्तावना के पाञ्चवे श्लोक मे किया है।[2] अतः चन्द्रिका टीका की रचना का समय ९००–९५० ई० के मध्य माना जा सकता है।

(३) कौमुदी टीका—प्राचीन टीकाओ मे कौमुदी नामक टीका भी प्रसिद्ध है। यह टीका साक्षात् रूप से 'ध्वन्यालोक' पर न लिखी जाकर 'ध्वन्यालोक' की लोचन टीका पर लिखी गई है। इस टीका को केरल निवासी उदयोत्तुङ्ग नामक विद्वान् ने लिखा था। यह टीका केवल प्रथम उद्योत तक ही उपलब्ध होती है, जिनको सबसे पहले महामहोपाध्याय कुप्पुस्वामी तथा उनके दो सहयोगियों ने मिलकर १९४४ ई० मे प्रकाशित कराया था। कौमुदीकार ने 'मयूर सन्देश' नामक काव्य की भी रचना की थी। इसके आधार पर समालोचकों ने उदयोत्तुङ्ग का समय १४८० ई० निर्धारित किया है।

(४) रत्नाकर ने अपनी ध्वनिगाथापञ्जिका में 'ध्वन्यालोक' की प्राकृत गाथाओं की व्याख्या की है। रत्नाकर का समय अभिनवगुप्त के बाद का रहा होगा,

१. संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास—पी० वी० काणे (१९६६) पृ० २५८॥
२. ध्वनिवर्त्मन्यतिगहने स्खलितं वाण्या पदे पदे सुलभम्।
रभसेन यत्प्रवृत्ता प्रकाशकं चन्द्रिकाद्यदृष्ट्वैव ॥२॥

क्योंकि इन्होंने इस व्याख्या में अभिनवगुप्त का अनुकरण किया है। 'ध्वन्यालोक' में ४६ प्राकृत गाथायें हैं।

ध्वन्यालोक की कुछ आधुनिक टीकायें इस प्रकार हैं—

(५) डा० जैकोबी ने 'ध्वन्यालोक' को तृतीय उद्योत तक जर्मन भाषा में अनुवाद करके प्रकाशित कराया था।

(६) चौखम्बा संस्कृत सीरिज़ा बनारस से सम्पूर्ण 'ध्वन्यालोक' एवं उसकी 'लोचनटीका' आधुनिक बालप्रिया एवं दिव्याञ्जना टीका सहित १६४० ई० में प्रकाशित हुआ था। इसका सम्पादन श्री पट्टाभिराम शास्त्री ने किया था। पुनः इसी प्रकाशन से पं० बदरीनाथझा की दीधिति टीका केवल मूल 'ध्वन्यालोक' पर प्रकाशित हुई थी।

(७) डा० के० कृष्णमूर्ति ने 'ध्वन्यालोक' का अंग्रेजी अनुवाद भूमिका सहित किया था, जो कि १६५५ ई० में पूना से प्रकाशित हुआ।

(८) डा० विष्णुपद भट्टाचार्य ने इस ग्रन्थ का अंग्रेजी अनुवाद विस्तृत व्याख्या सहित किया, जिसमें लोचनटीका तथा कौमुदीटीका का पूरा उपयोग किया गया है। इसमें विस्तृत भूमिका भी दी गई है इसके प्रथम उद्योत का पहला संस्करण १६५६ में प्रकाशित किया गया।

(६) आचार्य विश्वेश्वर ने ध्वन्यालोक की व्याख्या भूमिका सहित लिखी। इसका प्रकाशन ज्ञानमण्डल लिमिटेड वाराणसी द्वारा किया गया। प्रथम संस्करण २०१६ वि० में प्रकाशित हुआ।

(१०) 'ध्वन्यालोक' की अन्य व्याख्यायें भी लिखी गईं और प्रकाशित हुईं। इनमें आचार्य जगन्नाथ पाठक की व्याख्या अच्छी है, जो कि 'ध्वन्यालोक' एवं 'लोचन टीका' दोनों पर है। इसका प्रथम संस्करण २०२१ वि० में चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी से हुआ।

१४. 'ध्वन्यालोक' का युगप्रवर्तन एवं परिवर्ती साहित्यशास्त्र पर प्रभाव

साहित्यशास्त्र के इतिहास में 'ध्वन्यालोक' एक युगप्रवर्तक ग्रन्थ रहा। संस्कृत के समालोचना जगत् में इस ग्रन्थ ने आमूलचूल परिवर्तन उपस्थित किया और प्राचीन काल से चली आ रही समालोचनागत भ्रान्तियों और सिद्धान्तों को नये साँचे में ढाल दिया। आनन्दवर्धन ने समालोचना के जिन सिद्धान्तों को स्थिर किया था, उत्तरवर्ती आचार्यों ने उनको स्वीकार करके उन्हीं के आधार पर अपने ग्रन्थों की रचना की

आनन्दवर्धन ने ध्वनि के सिद्धान्त की स्थापना की थी। 'ध्वन्यालोक' की कारिकाओं के अनुसार यह सत्य है कि ध्वनिकार से पूर्व भी ध्वनि की विद्वानों में चर्चा हुआ करती थी और इस सिद्धान्त को कुछ समालोचकों ने स्वीकार कर लिया था, तथापि आनन्दवर्धन ही पहले आचार्य थे, जिन्होंने व्यवस्थित रूप में इस सिद्धान्त को ग्रन्थ के अन्दर निबद्ध किया। आनन्दवर्धन ने इससे भी बढ़कर एक कार्य यह किया कि अपने से पहले प्रचलित काव्यशास्त्रीय समालोचना के सिद्धान्तों का पुनर्मूल्यांकन

किया और अलंकार, गुण, रीति, वृत्ति, दोष, रस आदि से सम्बन्धित विचारधाराओं को ध्वनि के सिद्धान्त के अन्तर्गत समाविष्ट कर लिया। इन पर एक-एक करके विचार करना उपयोगी होगा।

'ध्वन्यालोक' की रचना से पहले काव्यों में इसको बहुत महत्त्व दिया गया था। भरत ने नाट्यशास्त्र में लिखा था—'न हि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते'। इसके बिना कोई भी अर्थ प्रवर्तित नहीं होता। 'ध्वन्यालोक' की रचना के पश्चात् भी काव्य में रस का महत्त्व व्यापक एवं असन्दिग्ध रूप से स्थापित रहा। ध्वनिकार ने रस का समावेश ध्वनि के अन्दर कर लिया। उसने कहा कि ध्वनि तीन प्रकार की है वस्तु ध्वनि, अलङ्कारध्वनि और रस ध्वनि।

परन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिये कि आनन्दवर्धन ने इसके महत्त्व को कुछ कम कर दिया। वस्तुतः वे इस सिद्धान्त के सबसे प्रबल समर्थक थे। इसको प्रतीयमान अर्थ का ही एक रूप देकर उन्होंने रस की अद्वितीयता प्रतिपादित की। भरत ने काव्यों में रस की अनिवार्यता तो प्रतिपादित की, परन्तु यह नहीं बताया कि काव्य में उसका नियोजन किस प्रकार करना चाहिये। आनन्दवर्धन ने यह निर्देशित किया कि रस को स्वशब्दवाच्य न होकर प्रतीयमान अर्थ के रूप में होना चाहिये। यह ही रस ध्वनि होती है और यह ही मुख्य रूप में काव्य की आत्मा है[1]।

रस का ध्वनि में समावेश करके और ध्वनि के तीन भेद करके भी आनन्दवर्धन ने रसध्वनि को सबसे अधिक महत्त्व दिया था और उसी को मुख्य रूप से काव्य की आत्मा कहा था। उनका मन्तव्य था कि वस्तु और अलङ्कार ध्वनियाँ भी रस के प्रति पर्यवसित होती हैं। अतः सामान्यतः जब ध्वनि को काव्य की आत्मा कहा गया है तो वस्तुतः रसध्वनि ही काव्य की आत्मा है। गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य का लक्षण करते हुये आनन्दवर्धन ने अपने इस अभिप्राय को अधिक स्पष्ट रूप से व्यक्त किया है जबकि वे कहते हैं कि रसादि के तात्पर्य से नियोजित किये जाने पर गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य भी ध्वनिरूप होता।[2] रसादि की योजना काव्य में न होने पर वे उस रचना को काव्य ही नहीं मानते[3]। इस कारण उन्होंने चित्रकाव्य न कहकर काव्य की अनुकृति कहा[4]।

---

१. यस्तु स्वप्नेऽपि न स्वशब्दवाच्यो न लौकिकव्यवहारपतितः, किन्तु शब्दसमर्प्यमाणहृदयसंवादसुन्दरविभावानुभावसमुचितप्राग्विनिविष्टरत्यादिवासनानुरागसुकुमारस्वसंविदानन्दचर्वणाव्यापाररसनीयरूपो रसः स काव्यव्यापारैकगोचरो रसध्वनिरीति, स च रसध्वनिरेवेति, स एव मुख्यतयात्मेति।

२. प्रकारोऽयं गुणीभूतव्यङ्ग्योऽपि ध्वनिरूपताम्।
धत्ते रसादितात्पर्यपर्यालोचनया पुनः॥ ध्वन्यालोक ३.४१

३. यत्र रसादीनामविषयत्वं स काव्यप्रकारो न सम्भवत्येव। यस्मादवस्तुसंस्पर्शिता काव्यस्य नोपपद्यते। वस्तु च सर्वमेव जगद्गतमवश्यं कस्यचिद् रसस्य भावस्य वाङ्गत्वं प्रतिपद्यते। ध्वन्यालोक ३.४३ की वृत्ति से।

४. न तन्मुख्यं काव्यम्। काव्यानुकारो ह्यसौ। ध्वन्यालोक ३.४३ की वृत्ति से।

आनन्दवर्धन से पूर्व काव्यों में अलङ्कारों को अधिक महत्त्व प्राप्त था। अलङ्कारवादियों ने रस आदि को भी अलङ्कारों मे अन्तर्भावित करके रसवदलङ्कार आदि का प्रतिपादन किया था। उनके अनुसार काव्य मे जब रस की स्थिति है तो रसवदलङ्कार है तथा भाव की स्थिति होने पर प्रेयोऽलङ्कार होता है। आनन्दवर्धन ने रस को अलकारों की जकड़ से मुक्त किया और कहा कि जहाँ काव्य की रचना रस के तात्पर्य से होती है और रस प्रधान होता है, वहाँ रसध्वनि होती है[1] और जहाँ रस अप्रधान रूप से रहता है, वहाँ रसवदादि अलकार होते हैं।[2]

आनन्दवर्धन ने ध्वनि सिद्धान्त मे अलकारों का भी समावेश कर लिया था। उन्होंने कहा कि उपमा, रूपक आदि अलंकारों का काव्य मे नियोजन रस की अपेक्षा से करना चाहिये। जो अलंकार बिना किसी अन्य प्रयास के स्वाभाविक रूप से आक्षिप्त विभाव आदि की रचना में आ जाता है, वह ही अलकार मान्य होता है।[3] इससे भिन्न अलङ्कार की योजना काव्य नही है, अपितु उक्तिवैचित्र्यमात्र है। इसी कारण उन्होंने चित्रकाव्य को नही माना। द्वितीय उद्योत मे ध्वनिकार ने ध्वनिकाव्य में अलकारों की योजना के कुछ विशेष नियमों का निर्देश किया है।[4]

रसों की योजना के अनुसार ही अलंकारों का निवेशन करना चाहिये तभी वे काव्य के सौन्दर्य के हेतु होते हैं, यह ध्वनिकार का मन्तव्य था। उन्होंने यमक आदि क्लिष्ट और प्रयत्नसाध्य अलंकारों के नियोजन का ध्वनिकाव्य मे निषेध किया था[5]। इस प्रकार भामह आदि आलंकारियों ने जिन अलकारों को काव्य सौन्दर्याधायक आत्मतत्त्व के रूप में निश्चित किया। उसने कहा कि ये अलकार काव्य के शरीर शब्द-अर्थ को उसी प्रकार सुशोभित करते हैं, जिस प्रकार युवती के शरीर को कुण्डल आदि

१. वाच्यवाचकचारुत्वहेतूनां विविधात्मनाम्।
रसादिपरता यत्र सध्वनेर्विषयोभवेत् ॥ ध्वन्यालोक २.४ ॥

२. प्रधानेऽन्यत्र वाक्यार्थे यत्राङ्गं तु रसादयः।
काव्येतस्मिन्नलङ्कारो रसादिरिति मे मतिः ॥ ध्वन्यालोक २.५ ॥

३. रसाक्षिप्ततया यस्य बन्धः शक्यक्रियो भवेत्।
अपृथग्यत्ननिर्वर्त्यः सोऽलङ्कारो ध्वनौ मतः ॥ ध्वन्यालोक २.१६ ॥

४. विवक्षा तत्परत्वेन नाङ्गित्वेन कदाचन।
काले च ग्रहणत्यागौ नातिनिर्वहणैषिता ॥
निर्व्यूढावपि चाङ्गत्वे यत्नेन प्रत्यवेक्षणम्।
रूपकादिरलङ्कार वर्गस्याङ्गत्वसाधनम् ॥ ध्वन्यालोक २.१८-१९ ॥

५. ध्वन्यात्मभूते शृङ्गारे यमकादिनिबन्धनम्।
शक्तावपि प्रमादित्वं विप्रलम्भे विशेषतः ॥ ध्वन्यालोक २.१५ ॥

तेन वीराद्भुतादिरसेष्वपि यमकादि कवेः प्रतिपत्तुश्च रसविघ्नकार्येव।
ध्वन्यालोक २.१६ पर लोचनटीका।

अलङ्कार सुशोभित करते है[1]। अलकारो के सम्बन्ध मे आनन्दवर्धन की इस स्थापना को उत्तरवर्ती आचार्यों ने स्वीकार कर लिया।

गुणों के सम्बन्ध मे भी ध्वनिकार ने नई दिशा प्रदर्शित की। प्राचीन अलकार-वादी आचार्यों—दण्डी, भामह, वामन आदि ने गुणो को काव्य में यद्यपि महत्वपूर्ण स्थान दिया था, तथापि वे अलकारो से अधिक भिन्न नही समझे गये थे। वे शब्द और अर्थ के सौन्दर्य मे उसी प्रकार से वृद्धि करते थे जिस प्रकार अलकार। यद्यपि काव्य मे उनका अलकारो की अपेक्षा अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध समझा गया था।

काव्य मे अलकारो और गुणो के परस्पर सम्बन्ध के विषय मे प्राचीन काल से विवाद चला आता था। भामह ने अलकारो एव गुणो के इस सम्बन्ध पर विचार किया था और कहा कि इनको बहुत भिन्न नही समझना चाहिये। ओज आदि गुण तथा अनुप्रास एव उपमा आदि अलकार इनकी स्थिति काव्य मे समवाय रूप से ही रहती है। दोनो मे भेद का कहना ठीक नहीं। भेडचाल के कारण ही लोगो ने इनमे भेद कहना प्रारम्भ कर दिया है[2]। इसी प्रकार वामन ने अलकारो और गुणो का सम्बन्ध इस प्रकार बताया कि काव्य मे सौन्दर्य का आधान करने वाले अलकार हैं, तथा सौन्दर्य का अतिशय करने वाले गुण हैं।[3]

ध्वनिकार ने प्राचीन आचार्यों के इन मन्तव्यो का खण्डन किया। उनने कहा कि अलकार तो काव्य के सौन्दर्य के बाह्य उपादान है, तथा गुण अन्तरग उपादान हैं गुण तो प्रधानभूत रस का आश्रय लेकर स्थित रहते हैं और अलकार अङ्गभूत शब्द और अर्थ का आश्रय लेते है। जिस प्रकार शरीर मे शौर्य आदि गुण आत्मा के आश्रय से रहते है, उसी प्रकार काव्य मे रस आदि अङ्गी का आश्रय लेकर गुणो की स्थिति होती है और जिस प्रकार शरीर के अङ्गो की शोभा बढ़ाने वाले अलकार उन अङ्गो के आश्रय मे रहते हैं, उसी प्रकार अलकार काव्य के अग शब्द-अर्थ का आश्रय लेकर रहते हैं।[4]

---

१. तमर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिन ते गुणा स्मृता।
अङ्गाश्रितास्त्वलंकारा मन्तव्याः कटकादिवत्॥ ध्वन्यालोक २.६॥

२ भामह के काव्यालकार पर भट्टोद्भट की विवरण टीका को उद्धृत करते हुये मम्मट ने इस प्रकार लिखा—"एव च समवायवृत्त्या शौर्यादय सयोगवृत्त्या च हारादय इत्यस्तु गुणालकाराणा भेदः, ओज प्रभृतीनामनुप्रासोपमादीनां चोभयेषामपि समवायवृत्त्या स्थितिरिति गड्डलिकाप्रवाहेणैषां भेदः, इत्यभिधानमसत्।
काव्यप्रकाश ८.६७ की वृत्ति।

३. काव्यशोभाया कर्तारो गुणास्तदतिशयहेतवस्त्वलकारा—वामन।

४. तमर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिन ते गुणाः स्मृता।
अङ्गाश्रितास्त्वलङ्कारा मन्तव्याः कटकादिवत्॥ध्वन्यालोक २.६॥

ये तमर्थं रसादिलक्षणमङ्गिन सन्तमवलम्बन्ते ते गुणा शौर्यादिवत्। वाच्य-वाचकलक्षणान्यङ्गानि ये पुनस्तदाश्रितास्तेऽलङ्कारा मन्तव्या. कटकादिवत्। उपरोक्त की वृत्ति।

गुणों और अलङ्कारों के इस सम्बन्ध को मम्मट ने भी स्वीकार किया। उसने कहा कि गुण तो काव्य के आत्मारूप अङ्गी रस के धर्म हैं तथा उसका निश्चय रूप से उत्कर्ष करते हैं। काव्य में इनकी स्थिति इसी प्रकार है, जैसे शरीर में शौर्य की।[1] इसके विपरीत अलङ्कार काव्य के शरीर शब्द-अर्थ के आश्रय से रहते हैं वे रस का उपकार भी कर सकते हैं, नहीं भी कर सकते। परन्तु जब उपकार करते हैं तो शब्द के द्वारा ही करते हैं। काव्य में उनकी स्थिति इसी प्रकार है, जैसे शरीर पर हार आदि अलङ्कारों की होती है[2]। 'साहित्यदर्पण' में भी गुणों और अलङ्कारों के इसी सम्बन्ध को स्वीकार किया गया है।

काव्य में गुणों की स्थिति का प्रतिपादन करके आनन्दवर्धन ने यह भी बताया कि किस गुण का आश्रय कौन सा रस है। इनकी स्थितिइस प्रकार है—

मधुर—सयोग और विप्रलम्भ शृङ्गार; करुण और शान्त[3]।
ओज—रौद्र आदि[4] (रौद्र, वीर और अद्भुत)।
प्रसाद—सभी रस[5]।

उत्तरवर्ती आचार्यों ने गुणों के इस रसाश्रयत्व को स्वीकार किया था। आनन्दवर्धन ने न केवल गुणों और अलङ्कारों के परस्पर सम्बन्ध तथा गुणों के आश्रयत्व पर ही नवीन सिद्धान्त स्थिर किये, अपितु गुणों की संख्या पर भी विचार किया। उसने गुणों की सख्या केवल तीन निर्धारित की—माधुर्य, ओज और प्रसाद गुणों की संख्या को निर्धारित करने मे आनन्दवर्धन ने भामह का अनुसरण किया था[6], यद्यपि गुणों की प्रकृति के निर्धारण में भामह से उनका मतभेद था। वामन ने दस शब्दगुण और दस अर्थगुण बताये थे, परन्तु ध्वनिकार ने काव्य में तीन गुण

---

१. ये रसस्याङ्गिनोधर्माः शौर्यादय इवात्मनः।
उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः॥ काव्यप्रकाश ८.६६॥

२. उपकुर्वन्ति त सन्त येऽङ्गद्वारेण जातुचित्।
हारादिवदलङ्कारास्तेऽनुप्रासोपमादयः॥ काव्यप्रकाश ८.६७॥

३. शृङ्गार एव मधुरः परः प्रह्लादनो रसः।
तन्मयं काव्यमाश्रित्य माधुर्यं प्रतितिष्ठति॥
शृङ्गारे विप्रलम्भाख्ये करुणे च प्रकर्षवत्।
माधुर्यमार्द्रतां याति यतस्तत्राधिक मनः॥ ध्वन्यालोक २.७-८॥

४. रौद्रादयो रसा दीप्त्या लक्ष्यन्ते काव्यवर्तिनः।
तद्व्यक्तिहेतू शब्दार्थावाश्रित्यौजो व्यवस्थितम्॥ ध्वन्यालोक २.९॥

५. समर्पकत्वं काव्यस्य यत्तु सर्वरसान् प्रति।
स प्रसादो गुणो ज्ञेयः सर्वसाधारणक्रियः॥ ध्वन्यालोक २.१०॥

६. एवं माधुर्यौजःप्रसादा एव त्रयो गुणा उपपन्ना भामहाभिप्रायेण। ते च प्रतिपत्रास्वादमयाः तत्र आस्वाद्ये उपचारिता रसे ततस्तद्व्यञ्जकयोः शब्दार्थयोरिति तात्पर्यम्॥ ध्वन्यालोक २.१० पर लोचनटीका।

ही माने। यदि मे मम्मट ने वामन के दश अर्थगुणो का खण्डन किया और दस शब्दगुणो को इन तीन गुणो मे ही अन्तर्भावित किया[1]।

आनन्दवर्धन ने दोष, रीति, वृत्ति आदि काव्य-तत्वो पर भी नवीन दृष्टिकोण से विचार किया था। प्राचीन भामह आदि आचार्यों ने दोषो के जो दो विभाग-नित्यदोष और अनित्यदोष किये थे, आनन्दवर्धन के अनुसार यह विभाजन रसध्वनि के आधार पर ही हो सकता है। वामन ने रीति को काव्य की आत्मा स्वीकार किया था। उसने वैदर्भी, गौडी और पाञ्चाली तीन तीन रीतियाँ प्रतिपादित करके उनमे गुणो की स्थिति सिद्ध की थी।[2] परन्तु ध्वनिकार ने कहा कि रीतियाँ काव्य का बहिरग तत्व हैं। इनका नियोजन रस की दृष्टि से करना चाहिये। प्राचीन वामन आदि आचार्य इस ध्वनिरूप काव्यतत्व को ठीक प्रकार से व्याख्या नही कर पाये थे, अतः उन्होंने रीतियो को प्रवर्तित किया था।[3] अब काव्य के तत्व को स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया जाने के कारण रीतियो का लक्षण देने की आवश्यकता नही है।

'ध्वन्यालोक' से पूर्व काव्यो मे वृत्तियो का भी महत्त्व प्रतिपादित किया गया था। ये दो प्रकार की थी—अर्थवृत्तियाँ और शब्दवृत्तियाँ। भरत ने 'नाट्यशास्त्र' मे भारती, आरभटी, सात्वती और कैशिकी, ये चार प्रकार की वृत्तियाँ बताई हैं, जो कि अभिनयात्मक होती हैं। दशरूपककार के अनुसार पात्रो का व्यवहार वृत्ति है। ध्वनिकार ने भी व्यवहार को वृत्ति कहा है।[4] इन वृत्तियो का सम्बन्ध रस से है, अत इनको अर्थाश्रित वृत्ति कहा गया है। उद्भट आदि विद्वानो ने उपनागरिका आदि चार प्रकार की वृत्तियाँ प्रतिपादित की हैं, जिनका सम्बन्ध शब्दयोजना से है। आनन्दवर्धन ने इनको शब्दाश्रित वृत्ति माना हैं। इन दानो प्रकार की वृत्तियो के सम्बन्ध मे उनका कहना है कि इनकी पृथक् रूप से व्याख्या करने की आवश्यकता नही है। वृत्तियो की व्याख्या करने का प्रयोजन यही था कि सहृदयो के हृदयो मे चमत्कारविशेष का अनुभव उत्पन्न हो सके। परन्तु उस समय तक ध्वनि के सिद्धान्त का स्पष्ट रूप से आविर्भाव नहीं हो सका था। ध्वनि का प्रयोजन भी यही है। अत काव्य के लक्षणरूप इस

---

१. माधुर्यौजःप्रसादाख्यास्त्रयस्ते न पुनर्दश ॥ का० प्र० ८ ६८ ॥
केचिदन्तर्भवन्त्येषु दोषत्यागात्परेश्रिता ।
अन्ये भजन्ति दोषत्व कुत्रचिन्न ततो दश ॥
तेन नार्थगुणा वाच्या ॥ का० प्र० ८ ७२–७३ ॥

२. रीतिरात्मा काव्यस्य ॥ विशिष्टा पदरचना रीति ॥ विशेषो गुणात्मा ॥ *सा त्रिधा–वैदर्भी गौडीया पाञ्चाली च ॥ समग्रगुणोपेता वैदर्भी ॥ ओज कान्तिमती* गौडीया । माधुर्यसौकुमार्योपपन्ना पाञ्चाली ॥ वामन ॥

३ अस्फुटस्फुरित काव्यतत्त्वमेतद्यथोदितम् ।
अशक्नुवद्भिर्व्याकर्तुं रीतय सम्प्रवर्तिता ॥ ध्वन्यालोक ३ ४७ ॥

४. व्यवहारो हि वृत्तिरित्युच्यते ॥ ध्वन्यालोक ३ ३३ की वृत्ति ॥

ध्वनि के जान लेने पर शब्दाश्रित एवं अर्थाश्रित वृत्तियों के स्वरूप की व्याख्या करने की आवश्यकता नहीं रही, वे स्वयं प्रकाशित हो जाती है।[1]

ध्वनिकार ने ध्वनि के सिद्धान्त की स्थापना करके पूर्ववर्ती समालोचकों की मान्यताओं और सिद्धान्तों का अन्तर्भाव ध्वनि में ही कर लिया था। रस का प्रतीयमान प्रतिपादित करके उन्होंने इसका अन्तर्भाव भी यद्यपि ध्वनि के अन्तर्गत किया था, तथापि वे भरत के रससिद्धान्त के सबसे बड़े समर्थक थे। ध्वनि के तीन भेदों—वस्तुध्वनि, अलङ्कार-ध्वनि और रसध्वनि का विभाजन करके भी उन्होंने रसध्वनि को ही सबसे मुख्य काव्य की आत्मा माना। वस्तुध्वनि एवं अलङ्कारध्वनि की योजना भी रस के अभिप्राय से ही होती है, ऐसा उनका मत था।

ध्वनिसिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुये ध्वनिकार ने जिन मन्तव्यों का प्रतिपादन किया, रस, अलङ्कार, गुण, दोष, रीति, वृति आदि के सम्बन्ध में उन्होंने जो धारणायें स्थिर की, उत्तरवर्ती आचार्यों—अभिनवगुप्त, मम्मट, विश्वनाथ, पण्डितराज जगन्नाथ आदि ने उनका समर्थन किया और अपने समालोचना ग्रन्थो में उनको आधार बनाया। 'ध्वन्यालोक' की रचना के बाद भी ध्वनि के सिद्धान्त पर अनेक आपत्तियों का निवारण करके ध्वनि-सिद्धान्त की निर्विघ्न तथा निस्सन्दिग्ध स्थापना की। पण्डितराज जगन्नाथ ने सत्य ही उनको आलङ्कारिकों के ध्वनि मार्ग की व्यवस्था करने वाला कहा है।

---

१. शब्दतत्त्वाश्रयाः काश्चिदर्थतत्त्वयुजोऽपराः।
वृत्तयोऽपि प्रकाशन्ते ज्ञातेऽस्मिन् काव्यलक्षणे ॥

ध्वन्यालोक ३.४८ ॥

श्रीमदानन्दवर्धनाचार्यप्रणीतो

ध्वन्यालोकः

प्रथम उद्योतः

स्वेच्छाकेसरिणः स्वच्छस्वच्छायायासितेन्दवः
त्रायन्तां वो मधुरिपोः प्रपन्नार्तिच्छिदो नखाः ॥१॥

भारतीय परम्परा के अनुसार किसी भी शुभ कार्य के प्रारम्भ मे मङ्गलाचरण के रूप में भगवान् का स्मरण किया जाता है। किसी भी ग्रन्थ के लिखने का आरम्भ करना अतिशुभ कार्य है। ग्रन्थ के लिखने में किसी प्रकार का विघ्न उपस्थित न हो तथा ग्रन्थ की समाप्ति निर्विघ्न रूप से हो सके। इस उद्देश्य से लेखक ग्रन्थ के आरम्भ मे अपने इष्टदेव भगवान् का स्मरण करता है। संस्कृत साहित्य में यह परम्परा अति प्राचीन काल से चली आ रही है कि लेखक ग्रन्थ की रचना को प्रारम्भ करते हुये सबसे प्रथम भगवान् का स्मरण करे। वह स्वयं भगवान् का आशीर्वाद प्राप्त करे तथा पाठकों के लिये मङ्गलकामना करे। संस्कृत के सभी ग्रन्थों में इस परम्परा का पालन किया गया है।

यह मङ्गलाचरण तीन प्रकार से किया जा सकता है—आशीर्वादात्मक, नमस्कारात्मक अथवा वस्तुनिर्देशात्मक। 'ध्वन्यालोक' के रचयिता आचार्य आनन्दवर्धन ने अपने ग्रन्थ की रचना को प्रारम्भ करते हुये प्राचीन परम्परा का पालन करके "आपकी रक्षा करें", इसप्रकार आशीर्वादात्मक मङ्गलाचरण किया है और अपने इष्टदेव नरसिंहावतारधारी भगवान् विष्णु का स्मरण किया है।

अन्वय—स्वेच्छाकेसरिणः मधुरिपोः स्वच्छस्वच्छायायासितेन्दवः प्रपन्नार्तिच्छिदः नखाः वः त्रायन्ताम्।

हिन्दी अर्थ—अपनी इच्छा से ही सिंह (नृसिंह) का रूप धारण करने वाले मधु नामक असुर के शत्रु भगवान् विष्णु के, अपनी निर्मल कान्ति से चन्द्रमा को लज्जित कर देने वाले और शरण में आने वालों के कष्टों को काट देने वाले, नाखून तुम सबकी, व्याख्याताओं और श्रोताओं की रक्षा करें।

स्वेच्छाकेसरिणः—स्वस्य इच्छया केसरिणः।

स्वच्छस्वच्छायायासितेन्दव.—स्वच्छया स्वस्य छायया आयासित इन्दु यै ते।

मधुरिपो—मधो एतन्नाम्नोऽसुरस्य रिपो ।

प्रपन्नार्तिच्छिद:—प्रपन्नानाम् आर्ति छिन्दन्ति इति ते।

इस मङ्गलाचरण रूप श्लोक की व्याख्या करते हुये लोचनकार अभिनवगुप्त का कथन है कि आचार्य आनन्दवर्धन ने यहाँ तीनो प्रकारों के प्रतीयमान अर्थो—रस, वस्तु और अलकार को ध्वनित किया है। इनकी स्थिति यहाँ इस प्रकार है—

रस—मधुरिपोर्नखा वो युष्मान् व्याख्यातृश्रोतॄन् त्रायन्ताम्, तेषामेव सम्बोधनयोग्यत्वात् । सम्बोधनसारो हि युष्मदर्थ । त्राण चाभीष्टलाभ प्रति साहायकाचरण, तच्च प्रतिद्वन्द्विविघ्नापसारणादिना भवतीति, इयदत्र त्राण विवक्षितम् । नित्योद्योगिनश्च भगवतोऽसम्मोहाध्यावसाययोगित्वेन उत्साहप्रतीतेर्वीररसो ध्वन्यते।

मधु नामक असुर का विनाश करने वाले भगवान् विष्णु के नख तुम सब व्याख्याताओ और श्रोताओ की रक्षा करे। वे ही सम्बोधन के योग्य है। 'युष्मद्' का अर्थ सम्बोधन का सार है। अभीष्ट के लाभ के प्रति 'रक्षा करना' सहायता करता है, और वह रक्षा प्रतिद्वन्द्वी विघ्नो को दूर कर देने आदि से होती है, तथा यही रक्षा यहाँ विवक्षित है। नित्य उद्योग करने वाले भगवान् विष्णु के सम्मोह से रहित होने और अध्यवसाय से युक्त होने के कारण यहाँ उत्साह की प्रतीति होती है और इससे वीर रस ध्वनित होता है।

वस्तु—नखाना प्रहरणत्वेन प्रहरणेन च रक्षणे कर्तव्ये नखानामव्यतिरिक्तत्वेन करणत्वात् सातिशयशक्तिता कर्तृत्वेन सूचिता, ध्वनितश्च परमेश्वरस्य व्यतिरिक्तकरणापेक्षाविरह । मधुरिपोरित्यनेन तस्य सदैव जगत्त्रासापसारणोद्यम उक्त । कीदृशस्य मधुरिपो ? स्वेच्छयाकेसरिण:, न तु कर्मपारतन्त्र्येण नाप्यन्यदीयेच्छया । अपितु विशिष्टदानवहननोचिततथाविधेच्छापरिग्रहौचित्यादेव स्वीकृतसिहरूपस्येत्यर्थ । कीदृशा नखा ? प्रपन्नानामार्ति ये च्छिन्दन्ति । नखाना छेदकत्वमुचितम् । आर्ते पुनश्छेद्यत्व नखान्प्रत्यसम्भावनीयमपि तदीयाना नखाना स्वेच्छानिर्माणौचित्यात्सम्भाव्यत एवेति भाव । ······किं च ते नखा स्वच्छेन स्वच्छतागुणेन नैर्मल्येन, स्वच्छमृदुप्रभृतयो हि मुख्यतया भाववृत्तय एव, स्वच्छयया च वक्रहृद्यरूपयाऽऽकृत्याऽऽयासित श्वेदित इन्दुर्यै । अत्र अर्थशक्तिमूलेन ध्वनिना बालचन्द्रत्व ध्वन्यते।

नख प्रहार करने के साधन हैं और प्रहार का साधन रक्षा के कर्तव्य को पूरा करता है, अत नख नियत रूप से रक्षा के साधन है। इससे उनमे शक्ति का अतिशय सूचित होता है। इससे यह भी सूचित होता है कि भगवान् विष्णु को अपने से भिन्न किसी अन्य साधन की अपेक्षा नही है। मधुरिपु शब्द से यह व्यक्त होता है कि भगवान् विष्णु सदा ही ससार के त्रास को दूर करने मे उद्यमशील रहते हैं। स्वेच्छा के सरिण शब्द से व्यक्त होता है कि भगवान् विष्णु ने न तो कर्मो के बन्धनो के कारण और नाही किसी अन्य की इच्छा से नृसिंह रूप धारण किया था, अपितु उन्होंने विशेष दानव हिरण्यकशिपु का वध करने के लिये योग्य प्रकार के सिंह के रूप

काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नातपूर्व—
स्तस्याभावं जगदुरपरे भाक्तमाहुस्तमन्ये।
केचिद् वाचां स्थितमविषये तत्त्वमूचुस्तदीयं
तेन ब्रूमः सहृदयमनः प्रीतये तत्स्वरूपम् ॥१॥

को स्वीकृत किया था। नाखून कैसे हैं? जो कि शरण में आये हुओं के कष्टों को काटते हैं। नाखूनों में छेदकता का कथन करना ही योग्य है। यद्यपि कष्टों को काटना, यह कथन असम्भावित है, तथापि उन नखों के अपनी इच्छा से निर्मित होने के औचित्य से यह सम्भावित हो सकता है।······*क्योंकि वे नख अपनी निर्मलता से,* वक्र और सुन्दर रूप वाली आकृति से चन्द्रमा को लज्जित करते है, अतः यहाँ अर्थ-शक्तिमूल ध्वनि से चन्द्रमा का वालत्व ध्वनित होता है।

अलङ्कार—किञ्चाहं पूर्वमेक एव असाधारणवैशद्यहृद्याकारयोगात् समस्त-जनाभिलषणीयताभाजनमभवम्, अद्य पुनरेवंविधा नखा दश बालचन्द्राकाराः सन्तापार्ति-च्छेदकुशलाश्चेति तानेव लोको बालेन्दुबहुमानेन पश्यति, न तु मामित्याकलयन् बालेन्दुरवि-रतमायासमनुभवतीत्युत्प्रेक्षापह्नुतिध्वनिरपि।

पहले मैं अकेला ही असाधारण स्वच्छता और सुन्दरता के कारण सभी मनुष्यों की अभिलाषाओं का पात्र था, आज पुनः इस प्रकार के ये दस नख, जो कि बालचन्द्र के आकार के हैं तथा दुःखों और कष्टों को काटने में कुशल हो गये हैं, और संसार उनका ही बालचन्द्र के रूप में बहुत आदर करता है, मेरा नहीं, इस प्रकार बालचन्द्रमा निरन्तर खेद का अनुभव करता है। इस प्रकार यहाँ उत्प्रेक्षा और अपह्नुति की ध्वनि है।

इस प्रकार अभिनवगुप्त का कथन है कि इस श्लोक में हमारे गुरु जी ने वस्तु, अलङ्कार और रस भेद से तीन प्रकार की ध्वनि की व्याख्या की है।

अन्वय—काव्यस्य आत्मा ध्वनिः इति बुधैः यः समाम्नातपूर्वः, अपरे तस्य अभावं जगदुः, अन्ये तं भाक्तम् आहुः, केचित् तदीयं तत्त्वं वाचाम् अविषये स्थितम् ऊचुः। तेन सहृदयमनःप्रीतये तत्स्वरूपं ब्रूमः।

हिन्दी अर्थ—काव्य की आत्मा ध्वनि है, इस प्रकार विद्वानों ने जिस ध्वनि का पहले कथन किया था, दूसरे विद्वान् उस ध्वनि का अभाव कहते हैं। अन्य विद्वान् *उस ध्वनि को भाक्त (लक्षणागम्य) कहते हैं। कुछ विद्वानों का कथन है कि उस ध्वनि* का तत्त्व वाणी का विषय नहीं है। इस कारण से सहृदयों के मन की प्रसन्नता के लिये उस ध्वनि के स्वरूप को कहते हैं ॥१॥

समाम्नातपूर्वः—सम् = सम्यक्, आ = समन्तात्, म्नातः प्रकटितः पूर्वं यः सः। इस पद से यह विदित होता है कि आनन्दवर्धन ने ध्वनि के सिद्धान्त को अपने से पूर्ववर्ती स्वीकार किया है। परन्तु आनन्दवर्धन से पूर्व यह सिद्धान्त किसी प्राचीन ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं है। इससे यह प्रतीत होता है कि आनन्दवर्धन से पहले ध्वनि

बुधैः काव्यतत्त्वविद्भिः काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति संज्ञितः, परम्परया यः समाम्नातपूर्वः सम्यक् आ समन्ताद् म्नातः प्रकटितः, तस्य सहृदयजन मनः प्रकाशमानस्याप्यभावमन्ये जगदुः।

तदभाववादिनां चामी विकल्पाः सम्भवन्ति।

भक्ति ही ध्वनि है। यदि व्यङ्ग्य अर्थ है भी तो वह अभिधा वृत्ति से आक्षिप्त अर्थ के सामर्थ्य से आकृष्ट होता है, इस कारण भाक्त (गौण, लक्षणागम्य) है।

(३) अलक्षणीयतावादी—अनिर्वाच्योध्वनिरिति। तदनाक्षिप्तमपि वा न वक्तुं शक्यं कुमारीष्विव भर्तृसुखमतद्वित्सु। ध्वनि अनिर्वाच्य है। यदि वह आक्षिप्त न भी माना जावे तो भी वाणी द्वारा उसी प्रकार नहीं कहा जा सकता, जिस प्रकार कुमारी कन्यायें पति के सुख के विषय में नहीं कह सकतीं।

आनन्दवर्धन ने ध्वनिविरोधियों के मतों को इन तीन वर्गों में विभक्त करके उनका खण्डन किया है। परन्तु जयरथ ने रुय्यककृत 'अलङ्कारसर्वस्व' ग्रन्थ की अपनी विमर्शिनी नामक टीका में लिखा है कि ध्वनिकार के समय में ध्वनिविरोधी १२ मत प्रचलित थे। ध्वनिकार ने अपने ग्रन्थ की इस पहली कारिका में केवल तीन मतों को इसलिये उद्धृत किया, क्योंकि ये तीन मत ही सबसे प्रमुख थे। जयरथ के अनुसार ध्वनिविरोधी १२ मत इस प्रकार थे—

तात्पर्यशक्तिरभिधा लक्षणाऽनुमिती द्विधा।
अर्थापत्तिः क्वचित्तन्त्रं समासोक्त्याद्यलंकृतिः॥
रसस्य कार्यताभोगो व्यापारान्तरबाधनम्।
द्वादशेत्थं ध्वनेरस्य स्थिता विप्रतिपत्तयः॥

आनन्दवर्धन द्वारा कहे गये ध्वनिविरोधी मतों में पहला मत विपर्ययमूलक है, दूसरा मत सन्देहमूलक है और तीसरा मत अज्ञानमूलक है। इनमें पहले मत में ध्वनि का सर्वथा अभाव कहा गया है अतः यह सबसे निकृष्ट है। दूसरे मत में लक्षणा के द्वारा ध्वनि का स्पर्श तो किया है, परन्तु उसका स्पष्ट लक्षण नहीं किया गया, अतः यह मध्यम पक्ष है। तीसरा पक्ष ध्वनि को स्वीकार तो करता है, परन्तु उसका लक्षण नहीं करता, अतः यह सबसे कम दोषयुक्त है। ध्वनिकार ने इसी क्रम से इन मतों का उल्लेख करके आगे वृत्ति में इनका खण्डन किया है।

हिन्दी अर्थ—बुधों ने अर्थात् काव्य के तत्त्व को जानने वालों ने काव्य की आत्मा आधारभूत तत्त्व को ध्वनि यह संज्ञा दी है और जिसको परम्परा से पहले ही समाम्नात किया है अर्थात् अच्छी प्रकार से विशद रूप से पुनः पुनः प्रकट किया है, सहृदय व्यक्तियों के मनों में प्रकाशित होते हुये भी उस ध्वनि का कुछ विद्वानों का कथन है कि अभाव है।

तो अभाववादियों के ये तीन विकल्प हो सकते हैं।

आचार्य आनन्दवर्धन के इस वाक्य से यह सिद्ध हो जाता है कि उनसे पूर्व यद्यपि 'ध्वनि की चर्चा होने लगी थी और इसको अनेक विद्वान् काव्य की आत्मा के रूप मे स्वीकार कर चुके थे, तथापि इस विषय पर किसी सिद्धान्त ग्रन्थ की रचना नही हुई थी। सहृदय मनुष्यो के मनो मे यह सिद्धान्त प्रकाशित हो चुका था तथा आनन्दवर्धन ने सबसे पहले इस विषय पर ग्रन्थ की रचना की। 'व्यक्तिविवेक' मे काव्य के दोषो के उदाहरण के रूप म महिमभट्ट न निम्न श्लोक दिया है—

सत्काव्यतत्वनयवर्त्मचिरप्रसुप्त-
कल्प मन सु परिपक्वधिया यदासीत्।
तद् व्याकरोत् सहृदयोदयलाभहतो-
रानन्दवधन इति प्रथिताभिधान ॥

महिमभट्ट के अनुसार यह कारिका चतुथ उद्यात के अन्त म है। इससे प्रतीत होता है कि ध्वनि सिद्धान्त यद्यपि आनन्दवधन स पूव प्रचलित हो चुका था तथापि उसको ग्रन्थ के रूप म उसने ही सबसे प्रथम निबद्ध किया।

सहृदयजनमन प्रकाशमानस्य—सहृदयाना जनाना मन सु प्रकाशमानस्य। 'ध्वन्यालोक' ग्रन्थ म सहृदय शब्द का प्रयोग अनेक स्थानो पर किया गया है। इसमे प्रो० सोवानी ने यह अनुमान लगाया कि इस ग्रन्थ की कारिकाओ की रचना सहृदय नामक किसी विद्वान् न की थी तथा वृत्ति की रचना आनन्दवधन ने की परन्तु यह अनुमान भ्रामक है। वास्तव म सहृदय उनको कहा गया है, जो कि काव्य के मर्म को अच्छी प्रकार से अनुभव कर सकते है। इसको अभिनवगुप्त न इस प्रकार स्पष्ट किया है—येषा काव्यानुशीलनाभ्यासवशाद् विशदीभूत मनोमुकुर वर्णनीयतन्मयीभवनयोग्यता ते स्वहृदयसवादभाज सहृदया। यथोक्तम्—

योऽर्थो हृदयसवादी तस्य भावो रसोद्भव।
शरीर व्याप्यते तेन शुष्क काष्ठमिवाग्निना ॥

अर्थात् काव्या के अनुशीलन का अभ्यास करने के कारण जिनके स्वच्छ हुये मन रूपी दर्पण म वर्णनीय वस्तु के साथ तन्मय हो जाने की योग्यता हो जाती है, अपने हृदय के साथ सवाद (आनन्द की स्थिति) का प्राप्त कर लेने वाले व्यक्ति सहृदय हैं। जैसा कि कहा गया है—

जो अर्थ हृदय के साथ सवाद का प्राप्त करने वाला है, उसका ही भाव रस रूप अभिव्यक्ति को प्राप्त होता है। वह सहृदय के शरीर को उसी प्रकार व्याप्त कर लेता है, जिस प्रकार सूखे काष्ठ को अग्नि व्याप्त करती है।

तत्र केचिदाचक्षीरन् शब्दार्थशरीरं तावत् काव्यम् । तत्र च शब्दगताश्चारुत्वहेतवोऽनुप्रासादयः प्रसिद्धा एव । अर्थगताश्चोपमादयः । वर्णसंघटनाधर्माश्च ये माधुर्यादयस्तेऽपि प्रतीयन्ते । तदनतिरिक्तवृत्तयो वृत्तयोऽपि याः कैश्चिदुपनागरिकाद्याः प्रकाशिताः, ता अपि गताः श्रवणगोचरम् ॥ रीतयश्च वैदर्भीप्रभृतयः । तद्व्यतिरिक्तः कोऽयं ध्वनिर्नामेति ।

ध्वनि के विरोधी मतो को ध्वनिकार ने तीन वर्गों मे विभक्त किया है। उनमे पहला मत अभाववादियों का है। ध्वनिकार के अनुसार अभाववादियों के तीन विकल्प हो सकते हैं। पहला विकल्प इस प्रकार है—

हिन्दी अर्थ—इस विषय मे कुछ अभाववादी कह सकते हैं कि काव्य का शरीर शब्द और अर्थ से निर्मित हैं। उसमे सौन्दर्य के हेतु अनुप्रास आदि अलङ्कार प्रसिद्ध हो हैं। अर्थगत सौन्दर्य के हेतु उपमा आदि अलङ्कार प्रसिद्ध हैं। वर्णों की सघटना के धर्म जो माधुर्य आदि गुण हैं, वे भी प्रतीत होते हैं। उन अलङ्कारो और गुणों से अभिन्न रहने वाली जो उपनागरिका आदि वृत्तियां जिन्हें विद्वानों द्वारा प्रकाशित की गई हैं, वे भी श्रवणगोचर हुई हैं। वैदर्भी आदि रीतियां भी प्रसिद्ध हैं। इन सबसे भिन्न ध्वनि नाम वाली यह कौन सी नई वस्तु हो सकती है ?

अभाववादियो के तीन विकल्प ध्वनिकार ने प्रस्तुत किये हैं—(१) काव्य का सौन्दर्य अलङ्कार, गुण, वृत्ति और रीति द्वारा ही प्रकट हो जाता है। काव्य की शोभा का अन्य कोई हेतु नहीं है। (२) काव्य के सौन्दर्य के जिन हेतुओं की गणना हो चुकी है, उससे भिन्न अन्य कोई हेतु नहीं हो सकता। (३) यदि अन्य कोई हेतु हो भी तो उसकी गणना भी इन अलङ्कार आदि हेतुओं मे हो जावेगी। इस प्रकार ध्वनि नाम की कोई अपूर्व पृथक् वस्तु नहीं है, ऐसा अभाववादियों का मत है।

ध्वनिकार ने अभाववादियो के प्रथम मत को इस प्रकार स्पष्ट किया है काव्य का तत्व उसमे निहित सौन्दर्य ही है। काव्य का शरीर शब्द और अर्थ से निर्मित होता है, अत. शब्द और अर्थ के सौन्दर्य के हेतु ही काव्य के तत्व या आत्मा होंगे। शब्दो का सौन्दर्य अनुप्रास आदि अलङ्कारो से होता है और अर्थों का सौन्दर्य उपमा आदि अलङ्कारो को काव्य की आत्मा कहा जाना चाहिये। शब्दो की रचना वर्णों से होती है और वर्णों का सौन्दर्य माधुर्य आदि गुणो से है। अतः माधुर्य आदि गुणो को काव्य की आत्मा कहा जा सकता है। कुछ समालोचको ने उपनागरिका आदि तीन वृत्तियों को, जो कि वर्णों के सौन्दर्य को ही प्रदर्शित करती हैं, काव्य की आत्मा माना है। अन्य विद्वानो ने रीतियों को काव्य की आत्मा माना है। इस प्रकार आनन्दवर्धन ने अभाववादियो के प्रथम विकल्प के चार मत प्रस्तुत किये हैं—अलङ्कारवादी, गुणवादी, वृत्तिवादी तथा रीतिवादी। इन विद्वानो के अनुसार इनको ही काव्य की आत्मा स्वीकार करना चाहिये। इनसे भिन्न ध्वनि नाम की कोई वस्तु नहीं है।

काव्य का शरीर—अधिकाश समालोचको ने शब्द और अर्थ दोनो को अथवा अर्थ से युक्त शब्द को काव्य स्वीकार किया है। जैसे दण्डी ने—"शरीर तावदिष्टा-

र्थव्यवच्छिन्ना पदावली" और पण्डितराज जगन्नाथ ने—"रमणीयार्थप्रतिपादक शब्द काव्यम्" कहकर अर्थ से युक्त शब्द को काव्य माना है। भामह ने—"शब्दार्थों सहितौ काव्यम्" और मम्मट ने—"तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुन क्वापि" कह कर शब्द और अर्थ दोनो को काव्य का शरीर स्वीकार किया है। इसमे आनन्दवर्धन को भी कोई आपत्ति नही है, जो कि तावत् शब्द से स्पष्ट है।

अलकारवादी—दण्डी आदि विद्वानो ने अलकारो को काव्य की शोभा का आधायक माना है—

✓काव्यशोभाकरान् धर्मानलङ्कारान् प्रचक्षते।
ते चाद्यापि विकल्प्यन्ते कस्तान् कार्त्स्न्येन वक्ष्यति ॥
काश्चिन्मार्गविभागार्थमुक्ता प्रागप्यलक्रिया।
साधारणमलकारजातमन्यत् प्रदर्श्यते ॥

इस प्रकार अलकार ही काव्य की शोभा के आधायक है तथा ये शब्द और अर्थ की शोभा को प्रकट करते हैं।

गुणवादी—कुछ आचार्यों का कथन है कि काव्य मे गुण चमत्कार के आधायक है। प्राचीन आचार्यों मे वामन ने २० गुणो की (१० शब्दगत गुण और १० अर्थगत गुण) गणना की थी। भोज ने २४ गुण बताये। परन्तु मम्मट ने इन सब गुणो को माधुर्य, ओज और प्रसाद मे अन्तर्भावित करके तीन गुण कहे। शब्दो का सघटन वर्णों से होता है तथा वर्णो का सौन्दर्य गुणो द्वारा प्रकट होता है। इसीलिये आनन्दवर्धन ने इनको वर्णसघटनाधर्म कहा। उद्भट, भामह आदि ने गुण और अलङ्कार मे साम्य बताकर इनमे भेद का खण्डन किया था, परन्तु मम्मट ने इनकी उक्ति का निम्न शब्दो से कहकर साम्य का खण्डन करके दोनो की अलग-अलग स्थिति बताई—

'एव च समवायवृत्त्या शौर्यादय सयोगवृत्त्या हारादय इत्यस्तु गुणालङ्काराणा भेद। ओजप्रभृतीनामनुप्रास प्रभृतीना च उभयेषा समवायवृत्त्या स्थिति—इत्यभिधानमसत्"।

मम्मट ने अलङ्कारो की शब्द और अर्थ मे तथा गुणो की रसो मे स्थिति प्रतिपादित की है। परन्तु प्राचीन अलङ्कारवादी आचार्य गुणो को शब्दो का, जो कि वर्णों से निर्मित हैं, धर्म मानते है। वे इन्ही को काव्य का चमत्कार-आधायक तत्व स्वीकार करते हैं।

वृत्तिवादी—कुछ प्राचीन आचार्यों ने वृत्तियों का काव्य की आत्मा प्रतिपादित किया है। ये वृत्तियाँ तीन हैं—परुषा, उपनागरिका और ग्राम्या। इन्ही को नागरिका, ललिता या कोमला कहा गया है। उद्भट के अनुसार इन वृत्तियो के लक्षण इस प्रकार हैं—

परुषा—शषाभ्या रेफसयोगैष्टवर्गेण च योजिता।
परुषा नाम वृत्ति स्यात् ह्लह्वह्याद्यैश्च सयुता ॥

उपनागरिका—सरूपसयोगयुता मुर्ध्नि वर्गान्त्ययागिभि ।
स्पर्शैर्युता च मन्यन्ते उपनागरिका बुधा ॥

ग्राम्या—शेषैर्वर्णैर्यथायोग कथिता कोमलाख्यया ।
ग्राम्या वृत्ति प्रशसन्ति काव्योप्वादृतबुद्धय ॥

रुद्रट ने 'काव्यालङ्कार' मे पाँच प्रकार की वृत्तियाँ कही है तथा उनको अनुप्रास का ही भेद कहा है—

"अनुप्रासस्य पञ्चवृत्तयो भवन्ति। मधुरा, प्रौढा, परपा, ललिता, भद्रेति वृत्तय पञ्च।

आनन्दवर्धन का कथन है कि ये वृत्तियाँ अलकारा और गुणो से पृथक् नही है। 'तदनतिरिक्तवृत्तय' पद के द्वारा उन्हाने वृत्तियो तथा अलकारा मे एकता प्रतिपादित की है। अभिनवगुप्त का भी कथन है—

नैव वृत्तिरातीना तद्व्यतिरिक्तत्व सिद्धम्। तथाहि अनुप्रासानामेव दीप्तमसृण-मध्यमवर्णनीयोपयोगितया परुपत्वमसृणत्वमध्यमत्वस्वरूपविवेचनाय वर्गत्रय सम्पादनार्थं तिस्रोऽनुप्रासजातयो वृत्तय इत्युक्ता, वर्तन्तेऽनुप्रासभेदा आसु इति। यदाह—

सरूपव्यञ्जनन्यास तिसृष्वेतासु वृत्तिपु ।
पृथकपृथगनुप्रासमुशन्ति कवय सदा ॥

वृत्तिया और रीतियो की उनसे भिन्नता सिद्ध नही होती। जैसे कि अनुप्रास आदि अलङ्कारो मे कठोर, कोमल और मध्यम वर्णो का उपयोग होन के अनुसार परुपत्व, ललितत्व और मध्यमत्व स्वरूप का विवेचन करने के लिये तीन वर्गो का सम्पादन करने के लिये तीन वृत्तियाँ, जो कि अनुप्रास की जाति की है, कही गई है। इनम अनुप्रास के भेद ही वर्तमान है। क्योकि कहा गया है—

इन तीन वृत्तियो म सजातीय व्यञ्जनो को समायोजित किया गया है। अत कवि सदा इनमे पृथक्-पृथक् अनुप्रास को चाहते है। अर्थात् नागरिका वृत्ति मे परुप अनुप्रास है, उपनागरिका वृत्ति म ललित अनुप्रास है और ग्राम्यावृत्ति म कोमल अनुप्रास है। इस प्रकार वृत्तियाँ अनुप्रास की जाति की ही है। कुछ आचार्य इन वृत्तिया को ही काव्य का चमत्कार-आधायक तत्व मानते हैं। उनके अनुसार ध्वनि नाम का कोई पदार्थ नही है।

रीतिवादी—वामन आदि आचार्यों ने रीति को काव्य की आत्मा प्रतिपादित किया है। वामन का कथन है—"रीतिरात्मा काव्यस्य"। अर्थात् रीति ही काव्य की आत्मा है। रीति का लक्षण वे करते है—"विशिष्टपदरचनारीतिः"। पदा का विशिष्ट रचना ही रीति है। वामन ने तीन रीतियाँ प्रतिपादित की—वैदर्भी, गौडी और पाञ्चाली। दण्डी ने भी 'काव्यादर्श' म इनका सकेत किया है। परन्तु वह इनको रीति न कहकर मार्ग कहता है। उत्तरकाल मे चार रीतियाँ—वैदर्भी, गौडी, पाञ्चाली और लाटी कहा गई। रीतिवादियो का कथन है कि काव्य की आत्मा रीति ही है तया

अन्ये ब्रूयुः—नास्त्येव ध्वनिः। प्रसिद्धप्रस्थानव्यतिरेकिणः काव्यप्रकारस्य काव्यत्वहाने। सहृदयहृदयाह्लादिशब्दार्थमयत्वमेव काव्यलक्षणम्। न चोक्तप्रस्थानातिरेकिणो मार्गस्य तत् सम्भवति। न च तत्समयान्तःपातिनः सहृदयान् कांश्चित् परिकल्प्य तत्प्रसिद्ध्या ध्वनौ काव्यव्यपदेशः प्रवर्तितोऽपि सकलविद्वन्मनोग्राहितामवलम्बते।

ध्वनि नाम की अन्य कोई वस्तु नही है। आनन्दवर्धन ने रीति को भी शब्दो तथा वर्णो का धर्म कहकर इनका अन्तर्भाव शब्दालकारो तथा गुणो म माना है।

आनन्दवर्धन के अनुसार अभाववादियो के प्रथम विकल्प मे चार मत हैं—अलकारवादी, गुणवादी, वृत्तिवादी और रीतिवादी। इनका मन्तव्य है कि काव्य की आत्मा ये तत्व ही हो सकते है। इनसे भिन्न ध्वनि नाम की अन्य कोई वस्तु नही है, जिसको काव्य की आत्मा माना जा सके।

हिन्दी अर्थ—दूसरे अभाववादी कह सकते हैं—ध्वनि निश्चित रूप से नहीं है। प्रसिद्ध प्रस्थान (काव्य का मार्ग) का उल्लघन करने वाले काव्य के प्रकार मे काव्यत्व की हानि होगी। जो शब्द और अर्थ सहृदयो के हृदयो को आह्लादित करते हैं उनसे निर्मित होना ही काव्य का लक्षण है। और इस कहे गये मार्ग का उल्लघन करने वाले काव्य के मार्ग मे यह काव्य का लक्षण सम्भव नहीं हो सकता। और उस सम्प्रदाय के अन्तर्गत ही यदि किन्हीं को सहृदय मानकर उनके अनुसार प्रसिद्ध करके ध्वनि मे काव्य नाम का प्रचलन भी किया जावे तो वह सभी विद्वानो के मतो का स्वीकार नहीं हो सकता।

अभाववादियो के प्रथम विकल्प का कथन करके ध्वनिकार ने दूसरे विकल्प का कथन किया है। दूसरे विद्वानो का कथन है कि ध्वनि को किसी भी प्रकार स्वीकार नही किया जा सकता। काव्य के लक्षण प्राचीन आचार्यों ने किये है तथा उन्होंने अलङ्कार आदियो को काव्य की आत्मा, चमत्कार आधायक तत्व सिद्ध किया है। काव्य का यही मार्ग प्रसिद्ध है। इस प्रसिद्ध मार्ग का उल्लघन करके अन्य किसी वस्तु ध्वनि म काव्यत्व को स्वीकार नही किया जा सकता। काव्य शब्द और अर्थ से निर्मित है। जो शब्द और अर्थ सहृदयो के हृदयो को आह्लादित करते है, उन्ही मे काव्यत्व होता है। इसी मार्ग को स्वीकार करना चाहिये। इनसे भिन्न मार्ग मे काव्यत्व हो ही नही सकता। यदि कुछ व्यक्ति ध्वनि को काव्य की आत्मा मानते हैं और अपने को सहृदय समझते हैं तथा इस प्रकार से प्रसिद्ध करके ध्वनि को काव्य का नाम देते हैं, तो इस नाम को प्रचलित कर देने पर भी सभी विद्वानो को उनका यह मतव्य स्वीकार नहीं हो सकता।

प्रसिद्धप्रस्थानव्यतिरेकिण—प्रतिष्ठन्ते परम्परया व्यवहरन्ति येन मार्गेण तत् प्रस्थानम्। प्रसिद्ध सकललोकविदितं यत् प्रस्थानं मार्गं शब्दार्थौ तद्गुणालङ्कारश्चेति तस्य व्यतिरेकिण अतिक्रमण कुर्वाणस्य।

पुनरपरे तस्याभावमन्यथा कथयेयु न सम्भवत्येव ध्वनिर्नामापूर्वः कश्चित्। कामनीयकमनतिवर्तमानस्य तस्योक्तेष्वेव चारुत्वहेतुष्वन्तर्भावात्। तेषामन्यतमस्यैव वा अपूर्वसमाख्यामात्रकरणे यत्किंचन कथन स्यात्।

सहृदयहृदयाह्लादि—सहृदयाना काव्यरसभिज्ञाना जनाना हृदयानि आह्लादयति इति तत्।

उक्तप्रस्थानातिरेकिण.—उक्तस्य पूवम् अलङ्कारादिरूपण कथितस्य प्रस्थानस्य काव्यमार्गस्य अतिरकिण।

तत्समयान्त पातिन—तस्य ध्वनिवादिभि कथितस्य समयस्य सकेतितस्य ध्वनिमार्गस्य अन्त पातिन अन्तर्वातिन।

काव्यव्यपदेश—काव्यस्य व्यपदश नामकरणम्।

सकलविद्वन्मनोग्राहिताम्—सकलेपा विदुषा मनोभि ग्राहिताम्।

ध्वनिकार द्वारा अभाववादियो के दूसरे विकल्प का कथन इस वाक्य म किया गया है। प्राचीन आचार्यो—दण्डी, भामह, रुद्रट, वामन आदि विद्वानो ने अलङ्कार आदि म काव्यत्व को स्वीकार किया है। काव्य का सौन्दर्य—अलङ्कार, गुण, वृत्ति और रीतियो से निष्पन्न होता है। जहाँ इनका अस्तित्व होगा, वही काव्यत्व होगा। इनसे भिन्न स्थान पर काव्यत्व नही होगा। यदि वहाँ काव्य माना भी जायेगा, तो इससे काव्यत्व की हानि होगी। जैसे कि "गतोऽस्तमर्क" वाक्य म वाच्य की अपेक्षा व्यङ्ग्य अर्थ प्रधान है और ध्वनिवादियो के अनुसार यह ध्वनि है। इसम अलङ्कार आदि के न होने पर भी ध्वनिवादियो के अनुसार काव्यत्व मानना होगा। परन्तु वस्तुत यहाँ काव्यत्व नही है। यह तो वार्तामात्र है, यदि ध्वनिवादी इसमे काव्यत्व को स्वीकार भी करेंगे, तो भी अन्य सब विद्वान् इसम काव्यत्व को किसी भी प्रकार स्वीकार नही कर सकते। अत ध्वनि को किसी भी प्रकार नही माना जा सकता।

हिन्दी अर्थ—अन्य तीसरे अभाववादी उस ध्वनि के अभाव का अन्य प्रकार से कह सकते हैं। ध्वनि नाम की किसी अपूर्व वस्तु का होना सम्भव नहीं है। क्योंकि यह ध्वनि कमनीयता का अतिक्रमण नहीं करती, इसलिये उसका अन्तर्भाव प्राचीन आचार्यों द्वारा पहले कहे गये गुण, अलकार आदि चारुत्व के हेतुओ मे ही हो जायेगा। उन गुण, अलङ्कार आदि मे से किसी एक का ही अपूर्व नामकरण+ध्वनि के रूप मे कर देने मात्र से कौन सा कथन होगा। अर्थात् यह बडा तुच्छ सा कथन होगा।

अभाववादियो के दो विकल्पो का कथन करके आचार्य आनन्दवधन ने तीसर विकल्प का कथन किया है कि तीसरे अभाववादी ध्वनि के अभाव को अन्य प्रकार से कहते हैं। वे ध्वनि का अन्तर्भाव गुण या अलङ्कार मे ही कर लेते हैं। उनका कहना है कि काव्य की आत्मा वही है, जो कि उसमे चारुत्व या कमनीयता का आधान कर सके। ध्वनिवादी भी इसको स्वीकार करते हैं। जबकि अलङ्कार आदि तत्व कमनीयता के हेतु हैं तथा ध्वनि भी कमनीयता की हेतु है, तो ध्वनि का अन्तर्भाव भी अलङ्कार

किं च वाग्विकल्पानामानन्त्यात् सम्भवत्यपि वा कस्मिंश्चित् काव्य-लक्षणविधायिभिः प्रसिद्धैरप्रदर्शिते प्रकारलेशे ध्वनिर्ध्वनिरिति यदेतदलीक-सहृदयत्वभावनामुकुलितलोचनैर्नृत्यते, तत्र हेतुं न विद्मः। सहस्रशो हि महात्मभिरन्यैरलङ्कारप्रकारा प्रकाशिता प्रकाश्यन्ते च। न च तेषामेषा दशा श्रूयते। तस्मात् प्रवादमात्रं ध्वनिः। न त्वस्य क्षोदक्षमं तत्त्वं किञ्चिदपि प्रकाशयितुं शक्यम्।

आदि चारुत्व हेतुओं में हो जायगा। यह कोई नया पदार्थ नहीं है। प्राचीन आचार्यों ने अनेक अलङ्कारों का नामकरण किया है। उनमें यदि ध्वनि को नहीं गिनाया है तो इस नये नामकरण को करने में, जिसका कि अन्तर्भाव अलङ्कार आदि चारुत्व हेतुओं में है, कौन सा विशेष कथन हो जायेगा। अतः ध्वनि को पृथक् रूप से मानना आवश्यक नहीं है।

अभाववादियों के तृतीय विकल्प के पक्ष को अभिनवगुप्त ने इस प्रकार उठाया है—

ननु भवत्वसौ चारुत्वहेतुः शब्दार्थगुणालङ्कारान्तर्भूतश्च। तथापि ध्वनिरित्यमुया भाषया जीवितमित्यसौ न केनचिदुक्त इत्यभिप्रायमाशङ्क्य तृतीयमभाववादमुपन्यस्यति। अर्थात् माना कि यह ध्वनि चारुत्व का हेतु हो सकता है, और वह शब्दगत और अर्थगत गुणों और अलङ्कारों के अन्तर्भूत है। तथापि वह 'ध्वनि' इस नाम के द्वारा काव्य का जीवित है, ऐसा किसी ने नहीं कहा। इस अभिप्राय की आशङ्का करके अभाववादियों के तीसरे पक्ष को प्रस्तुत करते हैं। भाव यह है कि तीसरे अभाववादी ध्वनि को काव्य की कमनीयता का हेतु स्वीकार तो करते हैं, परन्तु उसका अन्तर्भाव गुणों और अलङ्कारों में करते हैं।

हिन्दी अर्थ—कथन की शैलियों के अनन्त होने के कारण, लोक में प्रसिद्ध काव्य लक्षणकारों के द्वारा जिसको प्रकाशित नहीं किया गया, ऐसे तुच्छ से प्रकार के सम्भव होने पर भी, यह ध्वनि है यह ध्वनि है, इस प्रकार से यह जो आप मिथ्या सहृदयत्व की भावना से आँखों को बन्द करके नाच रहे हैं, इसका हम कोई कारण नहीं जान रहे हैं। महात्मा विद्वानों ने हजारों अलङ्कारों के प्रकार निश्चय ही प्रकाशित किये हैं और प्रकाशित कर रहे हैं। परन्तु उनकी ऐसी दशा नहीं सुनी जा रही। इस कारण से यह ध्वनि प्रवादमात्र है। इस ध्वनि में विचार करने योग्य कुछ भी तत्त्व ऐसा नहीं है, जिसको प्रकाशित किया जा सके।

वाग्विकल्पानाम्—वक्ति इति वाक् = शब्द। उच्यते इति वाक् = अर्थः। उच्यते-ऽनया इति वाक् = अभिधाव्यापार। वाक् शब्द से शब्द, अर्थ और अभिधा वृत्ति इन तीनों का ग्रहण होता है। तात्पर्य यह है कि वाणी की, शब्द-अर्थ अभिधाव्यापार की शैलियाँ अनन्त होती हैं।

तथा चान्येन कृत एवात्र श्लोक —

> **यस्मिन्नस्ति न वस्तु किञ्चन मन प्रह्लादि सालङ्कृति**
> **व्युत्पन्नै रचित चैव वचनैवक्रोक्तिशून्य च यत।**
> **काव्य तदध्वनिना समन्वितमिति प्रीत्या प्रशसन् जडो**
> **नो विद्मोऽभिदधाति किं सुमतिना पृष्ट स्वरूप ध्वने ॥**

अलीकसहृदयत्वभावनामुकुलितलोचन —अलीकस्य सहृदयत्वस्य भावनया मुकुलितानि लोचनानि यथा तै ।

सहस्रशो हि अलङ्कारप्रकारा प्रकाशिता —आचार्यों का कथन है कि अलङ्कारो के अनेक भेद हैं जिनमे से कुछ कह दिये हैं कुछ की स्वय कल्पना करनी चाहिये । जैसे—

दण्डी— काव्यशोभाकरान् धर्मानलङ्कारान् प्रचक्षते ।
ते चाद्यापि विकल्प्यन्ते कस्तान् कार्त्स्न्येन वक्ष्यति ॥

भामह— इति निगदितास्तास्ता वाचामलङ्कृतयो मया ।
बहुविधकृतीह दृष्ट्वाऽन्येषा स्वय परितर्क्य च ॥

प्रवादमात्र ध्वनि —इस शब्द के द्वारा आचार्य ने अभाववादियो के कथन का उपसहार किया है कि वे ध्वनि को बकवास मात्र समझते है और यह आलोचना की कसौटी पर नही ठहर सकती । इसमे जरा सी भी तत्त्व की बात नही है जिसको कि प्रकाशित किया जा सके ।

हिन्दी अर्थ—और किसी दूसरे ने इस प्रकार से श्लोक की रचना की है—जिस काव्य मे अलङ्कारो से युक्त और मन को आह्लादित करने वाली कोई वस्तु (काव्य तत्त्व) नहीं है जो काव्य व्युत्पन्न वचनो से नहीं रचा गया है और जो वक्रोक्ति से रहित है वह काव्य ध्वनि से युक्त है इस प्रकार से प्रेम से प्रशसा करते हुये मूर्ख से यदि कोई बुद्धिमान मनुष्य ध्वनि का स्वरूप पूछे तो वह क्या कहेगा यह हम नहीं जानते ।

अन्येन कृत —अभिनवगुप्त का कथन है कि यह अन्य शब्द का अभिप्राय मनोरथ नाम के कवि से है । यह श्लोक आनन्दवर्धन के समकालीन कवि मनोरथ की रचना है । वे लिखते हैं—

तथा चान्येनेति । ग्रन्थकृत्समानकालभाविना मनोरथनाम्ना कविना ।

सालङ्कृति—इस पद से अर्थालङ्कारो का अभाव कहा गया है ।

व्युत्पन्नै वचन —इन पदो से शब्दालङ्कारो का अभाव कहा गया है ।

वक्रोक्तिशून्यम्—वक्रोक्ति उत्कृष्टा सघटना । इस पद से शब्द और अर्थ के गुणो का अभाव कहा गया है ।

भाक्तमाहुस्तमन्ये। अन्ये तं ध्वनिसंज्ञितं काव्यात्मानं गुणवृत्तिरित्याहुः।

हिन्दी अर्थ—दूसरे विद्वान उस ध्वनि को भाक्त कहते हैं। अर्थात् अन्य विद्वान ध्वनि नाम वाली काव्य की आत्मा गुणवृत्ति है, इस प्रकार से कहते हैं।

आहु —ध्वनिकार ने कारिका म अभाववादियो के लिये 'जगदु' तथा अलक्षणीयतावादियो के लिये 'ऊचु', इस प्रकार भूतकालवाचक लिट् लकार का प्रयोग किया है, परन्तु भक्तिवादियो के लिये वर्तमानकाल वाचक लट् लकार का प्रयोग किया है। इसका अभिप्राय यह है कि अभाववादी तथा अलक्षणीयतावादी, ये दोनो पक्ष सम्भावित पक्ष हैं, जिनका विवेचन अन्य ग्रन्थों म नही है। परन्तु भक्तिवादी पक्ष अविच्छिन्न रूप से पुस्तको मे, भामह के 'काव्यालकार', उद्भट के 'भामह विवरण' आदि ग्रन्थों मे अविच्छिन्न रूप से विद्यमान है। अत इसके लिये लट् लकार का प्रयोग उचित है। इस सम्बन्ध म अभिनवगुप्त ने लिखा है—

'अभाववादस्य सम्भावनाप्राणत्वेन भूतत्वयुक्तम्। भाक्तवादस्त्वविच्छिन्न पुस्तकेषु दृष्यभिप्रायेण 'भाक्तमाहुरिति नित्यप्रवृत्तवर्तमानापेक्षतयाभिधानम्।

भाक्तम्—भाक्त पद की व्युत्पत्ति अभिनवगुप्त ने इस प्रकार की है—

"भज्यत सव्यत पदार्थेन प्रसिद्धतयोत्प्रेक्ष्यत इति भक्तिर्धर्म अभिधेयेन सामीप्यादि, तत आगतो भाक्तो लाक्षणिकोऽर्थ।

जो पद के अर्थ के द्वारा सेवित होता है, प्रसिद्ध होने के कारण उत्प्रेक्षित होता है, वह भक्ति है, वह अभिधावृत्तिप्रतिपाद्य अर्थ के द्वारा बोधित सामीप्य आदि धर्म है। अभिधावृत्तिपाद्य अर्थ मे प्रतीत वह लाक्षणिक अर्थ भाक्त है। यह लक्षणा पाँच प्रकार की है—

अभिधेयेन सामीप्यात्सारूप्यात्समवायत।
वैपरीत्यात्क्रियायोगाल्लक्षणा पञ्चधा मता॥

अभिधेय के द्वारा सामीप्य सम्बन्ध से, सारूप्य सम्बन्ध से, समवाय सम्बन्ध से, वैपरीत्य सम्बन्ध से और क्रिया के योग के सम्बन्ध से लक्षणा पाँच प्रकार की होती है।

आलकारिकों के अनुसार लक्षणा वहाँ होती है, जहाँ मुख्यार्थबाध, मुख्यार्थयोग तथा प्रयोजन ये तीन स्थितियाँ विद्यमान हो। उदाहरण के लिये 'गगाया घोष" पद है। यहाँ 'गगायाम्" पद का मुख्य अर्थ (अभिधेय) गगा का प्रवाह है। गगा के प्रवाह मे घोष की स्थिति असम्भव होने से मुख्यार्थबाध होता है, अत इस पद का अर्थ गगातट किया जाता है, जो कि मुख्य अर्थ गगा के प्रवाह के समीप होने से उससे सम्बन्धित है। अत मुख्यार्थयोग की स्थिति है। 'गगातटे' न कहकर 'गगायाम्' कहने का प्रयोजन यह है कि घोष म गंगा के पावनत्व आदि गुणो की प्रतीति हो सके। इस प्रकार इस पद म मुख्यार्थबाध, मुख्यार्थयोग और प्रयोजन इन तीन स्थितियो के होने के कारण 'गगायाम्' पद से अभिधा द्वारा मुख्य अर्थ 'गगा का प्रवाह' बोधित न होकर लक्षणा द्वारा लक्ष्य अर्थ 'गगातट' बोधित होता है।

आलकारिको ने लक्षणा दो प्रकार की कही है—शुद्धा और गौणी। जहाँ

सामीप्य आदि सम्बन्ध होता है वहाँ शुद्धा लक्षणा होती है। अन्यत्र गौणी लक्षणा होती है। 'गगाया घोष' मे सामीप्य सम्बन्ध के होने से शुद्धा लक्षणा है। 'गौर्वाहीक' पद मे गौणी लक्षणा है। यहाँ वाहीक को गौ कहा गया है। यहाँ 'गौ' के मुख्य अर्थ 'गौ नामक पशु' के बाधित होने के कारण गोगत जडत्व आदि अर्थ का बोध होता है, जिनकी प्रतीति वाहीक म होती है।

मीमासको ने गौणी वृत्ति को अलग रूप से स्वीकार किया है। भक्तिवाद मे प्रयुक्त 'भक्ति' पद से आलकारिको की लक्षणा वृत्ति (शुद्धा और गौणी) का तथा मीमासको की गौणी वृत्ति का, दोनो का ग्रहण होता है। लक्षणा के लिये तीन स्थितियाँ अनिवाय होन स 'भक्ति' पद की व्याख्या तीन प्रकार से की गई है—

(१) मुख्याथस्य भङ्ग भक्ति। मुख्य अर्थ का बाधित होना भक्ति है। इससे मुख्यार्थबाध सूचित होता है।

(२) भज्यते सेव्यते पदार्थेन इति समीप्यादिधर्म भक्ति। पद के अर्थ के द्वारा सामीप्य आदि धर्म का सेवित होना भक्ति है। इससे मुख्यार्थयोग सूचित होता है।

(३) प्रतिपाद्ये सामीप्यतैक्ष्ण्यादौ श्रद्धातिशय भक्ति। प्रतिपादनीय सामीप्य, तीक्ष्णता आदि धम म अतिशय श्रद्धा का होना भक्ति है। इससे प्रयोजन सूचित होता है।

इस प्रकार 'भक्ति' पद से लक्षणा के लिये तीनो अनिवार्य अवस्थाये मुख्यार्थ-बाध, मुख्यार्थ योग और प्रयोजन सूचित हो जाती है। तदनन्तर 'भाक्त' पद की व्युत्पत्ति है—

'तत आगत भाक्त'

जो अर्थ भक्ति से अर्थात् मुख्यार्थबाध, मुख्यार्थयोग एव प्रयोजन से प्रतीत हो, वह भाक्त है। लक्षणावादी विद्वान् ध्वनि का अन्तर्भाव लक्षणा के अन्तर्गत कर लेते हैं, अत वे ध्वनि को भाक्त कहते हैं।

ध्वनि—जिस प्रकार भक्ति पद की व्युत्पत्ति तीन प्रकार से की गई है, उसी प्रकार ध्वनि पद की व्युत्पत्ति तीन प्रकार से की गई है—

(१) ध्वनति इति ध्वनि। इससे व्यञ्जक शब्द सूचित होता है।

(२) ध्वन्यते इति ध्वनि। इससे व्यङ्ग्य अर्थ सूचित होता है।

(३) ध्वन्यते अनया इति ध्वनि। इसस व्यञ्जना वृत्ति सूचित होती है।

इस प्रकार ध्वनि पद—व्यञ्जक शब्द, व्यङ्ग्य अर्थ और व्यञ्जना व्यापार तीनो का सूचक है। जिस काव्य म इस ध्वनि का प्राधान्य होता है। उस काव्य को ध्वनि नाम दिया गया है।

काव्यात्मानम्—ध्वनिकार ने काव्य म ध्वनि को सर्वश्रेष्ठ माना है, अत व इसको काव्य की आत्मा कहते हैं।

गुणवृत्तिम्—जिस प्रकार भक्ति और ध्वनि पद शब्द, अर्थ एव व्यापार तीनो के सूचक है, उसी प्रकार गुणवृत्ति पद भी तीनो की सूचना देता है—

(१) गुणै सामीप्यादिभिस्तैक्ष्ण्यादिभिर्वोपायैरर्थान्तर वृत्तिर्यस्य स गुणवृत्ति शब्द। जो शब्द सामीप्य आदि या तैक्ष्ण्य आदि उपायो से दूसरे अर्थ का बोध कराता है वह गुणवृत्ति शब्द है।

यद्यपि ध्वनिशब्दसंकीर्तनेन काव्यलक्षणविधायिभिर्गुणवृत्तिरन्यो वा न कश्चित् प्रकारः प्रकाशित, तथाऽपि अमुख्यवृत्या काव्येषु व्यवहारं दर्शयता ध्वनिमार्गो मनाक् स्पृष्टोऽपि न लक्षित इति परिकल्प्यैवमुक्तम्, भाक्तमाहुस्तमन्ये ।

---

(२) तैरपायैं शब्दस्य वृत्तिर्यत्र सोऽर्थो गुणवृत्ति । जो अर्थ इन सामीप्य आदि और तैक्ष्ण्य आदि उपायों से बोधित होता है, वह गुणवृत्ति अर्थ है ।

(३) गुणद्वारेण वर्तन वा गुणवृत्तिरमुख्योऽभिधाव्यापार । जो व्यापार गुण के द्वारा प्रवर्तित होता है, वह अमुख्य अभिधा व्यापार गुणवृत्ति है ।

इस प्रकार लक्षणवादी विद्वान् व्यङ्ग्य अर्थ को लक्षण द्वारा ही बोधित मानकर ध्वनि को लक्षणप्रतिपाद्य सिद्ध करते है ।

इस वाक्य मे 'भाक्तम्' और त ध्वनिसंज्ञित काव्यात्मानम्' पदो मे समान विभक्ति-वचन-लिङ्ग का प्रयोग करके इनको समानाधिकरण रखा गया है । इन पदों को समानाधिकरण रखने का अभिप्राय यह है कि भक्तिवादी भक्तिप्रतिपाद्य अर्थ तथा ध्वनि का तादात्म्य या अभेद रूप से प्रतिपादित करते हैं। जिस प्रकार 'नीलम् उत्पलम्' का समान अधिकरण म कहने स नील और उत्पल म अभेद या तादातम्य प्रतिपादित होता है, उसी प्रकार भाक्तम् और ध्वनिसज्ञित काव्यात्मानम् को समान अधिकरण म कहने से इनम अभेद और तादात्म्य का प्रतिपादन भक्तिवादियों के अनुसार सिद्ध होता है। ध्वनिकार का सिद्धान्त पक्ष इनके तादात्म्य का खण्डन करता है। यद्यपि कुछ स्थानो पर लक्षण और ध्वनि दोनो साथ-साथ हो सकते हैं, तथापि अन्य स्थलो पर लक्षण के अभाव म भी ध्वनि होती है। ध्वनिकार का कथन यही है कि लक्षण और ध्वनि दोना एक नही है अपितु अलग-अलग हैं ।

हिन्दी अर्थ—यद्यपि काव्य का लक्षण करने वाले विद्वानो ने ध्वनि शब्द का उल्लेख करके 'गुणवृत्ति' अथवा अन्य किसी प्रकार के काव्य को प्रकाशित नहीं किया है, तो भी उन्होने काव्यों मे अमुख्य वृत्ति (गुणवृत्ति) का व्यवहार प्रदर्शित करके ध्वनि के मार्ग का थोडा सा स्पर्श करके भी उसका लक्षण नहीं किया । इस प्रकार की कल्पना करके ही हमने कहा—दूसरे इस ध्वनि को भाक्त कहते हैं ।

यहाँ ध्वनिकार के कहने का अभिप्राय यह है कि प्राचीन आचार्यों ने भट्टोद्भट वामन आदि ने अपने ग्रन्थो मे ध्वनि का उल्लेख नहीं किया है तथा ध्वनि काव्य गुणवृत्ति काव्य है इस प्रकार नही कहा है। तथापि इन्होंने यह स्वीकार किया है कि काव्यो म मुख्य अभिधा व्यापार के अतिरिक्त एक अन्य अमुख्य व्यापार गुणवृत्ति व्यापार भी है । भामह ने "शब्दाश्छन्दोऽभिधानार्थां" की व्याख्या के प्रसङ्ग मे अमुख्य वृत्ति को स्वीकार किया है । भट्टोद्भट ने "शब्दानामभिधानमभिधाव्यापारो मुख्यो गुणवृत्तिश्च" कहकर यह प्रतिपादित किया है कि शब्दो का अर्थ मुख्य अभिधा व्यापार म तथा अमुख्य गुणवृत्ति म किया जाता है। वामन ने भी कहा है—'सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्ति'। सादृश्य से जो लक्षणा होती है, वह वक्रोक्ति कहलाती है।

केचित् पुनर्लक्षणकरणशालीनबुद्धयो ध्वनेस्तत्त्वं गिरामगोचरं सहृदयहृदयसवेद्यमेव समाख्यातवन्तः।

प्रयोजनतेनैवंविधासु विमतिषु स्थितासु सहृदयमनःप्रीतये तत्स्वरूपं ब्रूमः।

इस प्रकार ये आचार्य काव्यो म अभिधा व्यापार मुख्यवृत्ति से आगे गुणवृत्ति अमुख्य व्यापार तक पहुँच गये थे तथा इन्होने ध्वनि के मार्ग का कुछ स्पर्श करके उसका कुछ उन्मीलन किया था। परन्तु वे ध्वनि का लक्षण नही कर पाये। इसके विपरीत वे लक्ष्य अर्थ के आगे प्रतीत होने वाले अर्थ का व्यङ्ग्य अर्थ (ध्वनि) का विरोध करने लगे। जिस प्रकार नारियल की गिरि को प्राप्त करने के लिये पहले नारियल के ऊपर की छाल को छीलकर तदनन्तर खोल को फोड देना पडता है, तदनन्तर ही अन्दर की गिरि प्राप्त होती है। केवल छाल को छील देने से कोई लाभ नही है। इस प्रकार से भक्तिआदियो ने अमुख्य व्यापार लक्षणा को तो स्वीकार कर लिया, परन्तु उससे आगे के व्यञ्जना व्यापार का विरोध किया और ध्वनि के मार्ग का यत्किञ्चित् स्पर्श करके भी वे उसका लक्षण नही कर सके। वे ध्वनि को लक्षणावृत्ति प्रतिपाद्य अर्थात् भाक्त कहने लगे।

हिन्दी अर्थ—काव्य का लक्षण करने मे अप्रगल्भ बुद्धि वाले कुछ विद्वानो ने कहा कि ध्वनि का तत्त्व वाणी से अगोचर है। वे केवल सहृदयो के हृदय द्वारा सवेद्य है।

इस कारण से इसप्रकार को विभिन्न विपरीत मतियो के स्थित होने पर हम सहृदयों के मनो की प्रसन्नता के लिये उस ध्वनि के स्वरूप को कहते हैं।

ध्वनि विरोधियों ने अभाववादी तथा भक्तिवादी मतो को प्रस्तुत करके ध्वनिकार अब तीसरे पक्ष अलक्षणीयतावादियो को प्रस्तुत करते हैं। इनका कहना है कि ध्वनि नामक तत्त्व है तो, पर वाणी द्वारा उसका लक्षण या व्याख्या नही की जा सकती। सहृदय व्यक्तियो के हृदय उसका अनुभव मात्र कर सकते हैं। अत ध्वनि का लक्षण करने का प्रयास व्यर्थ है।

इस प्रकार ध्वनिकार ने ध्वनिविरोधियो के तीन मत—अभाववादी, भक्तिवादी और अलक्षणीयतावादी प्रस्तुत किये हैं। अभिनवगुप्त का कथन है कि इनमे पहले की अपेक्षा बाद का मत अधिक श्रेष्ठ है। व लिखते है—

"एते च त्रय उत्तरोत्तर भव्यबुद्धय । प्राच्या हि विपर्यस्ता एव सर्वथा। मध्यमास्तु तद्रूप जानाना अपि सन्देहेनापह्नुवते। अन्त्यास्त्वनपह्नुवाना अपि लक्षयितु न जानन्ति इति क्रमेण विपर्याससन्देहाज्ञानप्राधान्यमतेषाम्"।

अर्थात् ये तीनो मत उत्तरोत्तर अधिक श्रेष्ठ बुद्धि वाले हैं। पहले अभाववादी विपर्यय बुद्धि वाले है अर्थात् वे ध्वनि के तत्त्व को जानते ही नहीं हैं। दूसरे भक्तिवादी ध्वनि के रूप को जानते तो हैं, परन्तु सन्देह के कारण उसको छिपाते हैं। तीसरे अलक्षणीयतावादी ध्वनि को छिपाते तो नहीं, परन्तु उसका लक्षण करना नहीं जानते। इस प्रकार इन तीनो मतो म क्रमश विपर्यय, सन्देह और अज्ञान का प्राधान्य है।

तस्य हि ध्वनेः स्वरूपं सकलसत्कविकाव्योपनिषद्भूतम्, अतिरमणीयम्, अणीयसीभिरपि चिरन्तनकाव्यलक्षणविधायिनां बुद्धिभिरनुन्मीलितपूर्वम्। अथ च रामायणमहाभारतप्रभृतिनि लक्ष्ये सर्वत्र प्रसिद्धव्यवहारं लक्षयतां सहृदयानाम्, आनन्दो मनसि लभतां प्रतिष्ठामिति प्रकाश्यते ॥१॥

ध्वनिकार ने ध्वनिविरोधियों के विभिन्न मतों को प्रस्तुत करके कहा कि वस्तुतः काव्य की आत्मा ध्वनि ही है। इस ध्वनि का स्वरूप हम यहाँ बता रहे हैं। ध्वनि के स्वरूप को कहने का प्रयोजन यह है कि सहृदयों में प्रसन्नता का उद्भव हो सके।

तेन—यद्यपि ध्वनि के सम्बन्ध में अनेक विप्रतिपत्तियाँ हैं, अतः यहाँ बहुवचन अपेक्षित था। परन्तु ध्वनि के सम्बन्ध में उसकी तीनों विप्रतिपत्तियों का उल्लेख करके ध्वनिकार ने ध्वनि के प्रतिपादन के लिए तीनों को एक एक करके हेतु माना है, अतः 'तेन' में एक वचन का प्रयोग किया गया है।

विमतिषु—विरुद्धा मतिः विप्रतिपत्तिः संशयः विमतिः तासु। ध्वनि का विरोध करने वाले अनेक विरोधी संशयात्मक मत विद्यमान हैं, अतः ध्वनिकार अपने मत को प्रस्तुत करने से पूर्व उन संशयात्मक मतों को प्रस्तुत करते हैं। नैयायिकों के अनुसार किसी भी सिद्धान्त की परीक्षा के लिये पहले उससे सम्बन्धित संशयात्मक मतों की परीक्षा करनी चाहिये। जैसे कि न्यायसूत्र में कहा गया है—

यत्र तत्र संशयपूर्विका परीक्षा शास्त्रे कथायां वा, तत्र तत्रैव संशये परेण प्रतिषिद्धे समाधिर्वाच्य इति। अतः सर्वपरीक्षाव्यापित्वात् प्रथमं संशयः परीक्षित इति। न्यायसूत्र २ १ ७ का वात्सायन भाष्य।

इस विचारसरणी का अनुकरण करते हुये ध्वनिकार ने अपने पक्ष को प्रस्तुत करने से पहले इससे सम्बन्धित संशय पक्षों को प्रस्तुत किया है, जिनका कि आगे चल कर वे खण्डन करेंगे।

विमतिषु स्थितासु—यहाँ 'यतश्च निर्धारणम्' से सप्तमी विभक्ति का प्रयोग हुआ है। यहाँ निर्धारण में सप्तमी है।

सहृदयमनः प्रीतये—काव्य के अनेक प्रयोजनों में सद्यः परनिर्वृति, आनन्द की प्राप्ति सबसे मुख्य प्रयोजन माना गया है। अतः ध्वनि के स्वरूप का निरूपण करने में ध्वनिकार का उद्देश्य सहृदयों के मनों में प्रसन्नता का आधान करना है।

हिन्दी अर्थ—उस ध्वनि का स्वरूप निश्चय से सभी श्रेष्ठ कवियों के काव्यों का परम रहस्य है, अत्यधिक रमणीय है और प्राचीन काव्य लक्षणकारों की अतिसूक्ष्म बुद्धियों द्वारा भी उसका पहले उन्मूलन नहीं किया गया है। इसके अतिरिक्त रामायण और महाभारत आदि लक्ष्य ग्रन्थों में सभी स्थानों पर इसका व्यवहार हुआ है। इसको लक्षित करने वाले सहृदयों के मन में आनन्द प्रतिष्ठा को प्राप्त करे, इस उद्देश्य से ध्वनि के स्वरूप को प्रकाशित किया जा रहा है ॥१॥

उपनिषद्भूतम्—इस शब्द का अर्थ है—सभी काव्यों का जो सारभूत छिपा हुआ तत्त्व है। इस शब्द की व्याख्या 'बालप्रिया' टीका म इस प्रकार की गई है—'उपनिषद्भूतेति। काव्यतत्त्वानभिज्ञैर्दुर्ज्ञेयत्वादतिरहस्यभूतेत्यर्थ"। 'उपनिषद्भूत' पद का अभिप्राय है कि जो काव्य तत्त्व से अनभिज्ञ व्यक्तियो के लिये कठिनाई से जाना जा सकने के कारण अत्यधिक रहस्यभूत है।

लक्षयताम्—लक्षणद्वारेण निरूपयताम्। लक्षण के द्वारा जिन सहृदयो ने ध्वनि का निरूपण किया है, उनका। लक्ष्यतेऽनेनेति लक्ष लक्षणम्। लक्षण निरूपयन्ति लक्षयन्ति इति तेषाम् लक्षणद्वारेण निरूपयताम्।

आनन्द मनसि प्रतिष्ठा लभताम्—'आनन्द' पद म श्लेष है। इसका पहला अर्थ है सहृदयो के मन म काव्य रचना का आनन्द प्रतिष्ठित होवे। काव्य के अनेक उद्देश्य हैं, इनम आनन्द की प्राप्ति ही सबसे श्रेष्ठ है। वह आनन्द सहृदयो को तभी प्राप्त होता है, जबकि वे ध्वनि के मर्म को समझने म समर्थ होते हैं। यह आनन्द जीवन के चार पुरुषार्थों-धर्म-अर्थ-काम मोक्ष स भी चमत्कारी है। 'वक्रोक्तिजीवित' मे कहा गया है—

चतुर्वर्गफलास्वादमप्यतिक्रम्य तद्विदाम्।
काव्यामृतरसेनान्तश्चमत्कारो वितन्यते ॥१ ५॥

भामह के काव्यालकार म लिखा है—

धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्य कलासु च।
करोति कीर्ति प्रीति च साधुकाव्यनिषेवणम् ॥१ २॥

इन प्रयोजनो म भी प्रीति को सबसे प्रधान कहा गया है।

कवि कर्णपूर ने काव्यकौस्तुभ म लिखा है—

यश प्रभृत्येव फल नास्य केवलमिष्यते।
निर्माणकाले श्रीकृष्णगुणलावण्यकेलिषु ॥
चित्तस्याभिनिवेशेन सान्द्रानन्दलयस्तु य।
स एव परमो लाभ स्वादकाना तथैव स ॥१ ७॥

2 आनन्द पद से दूसरा अभिप्राय यह है कि ध्वनि तीन प्रकार की है—वस्तु ध्वनि, अलङ्कार ध्वनि और रसध्वनि। इन तीनो म आनन्दरूप रसध्वनि सबसे प्रधान है।

3 आनन्द पद से तीसरा अभिप्राय ग्रन्थ के रचयिता स है। इस ग्रन्थ मे ध्वनि के स्वरूप का प्रतिपादन करके ग्रन्थकार आनन्दवर्धन सहृदयो के मनो मे प्रतिष्ठित होकर शाश्वत यश को प्राप्त करना चाहते है। क्योंकि यह कहा गया है—

उपयुषामपि दिव सन्निबन्धविधायिनाम्।
आस्त एवनिरातङ्क कान्त काव्यमय वपु ॥

उत्तम निबन्धो की रचना करने वाले कवियो के स्वर्ग म पहुँच जाने पर भी उनका काव्यमय शरीर बिना कष्ट के विद्यमान रहता ही है।

ध्वनिकार ने इस वाक्य के द्वारा ध्वनिविरोधियों के मतों का निराकरण भी किया है। ध्वनिकार ने ध्वनिविरोधियों के ५ मत-तीन अभाववादियों के, एक भक्ति-वादियों का और एक अलक्षणीयतावादियों का प्रस्तुत किये हैं। "तस्य हि ध्वने स्वरूपम्......"इस वाक्य से ध्वनि का जो रूप प्रस्तुत किया गया है, उससे इन पाँचों मतों का निराकरण होता है। यह इस प्रकार से है—

(१) 'सकल' और 'सत्कवि' शब्द के द्वारा उन अभाववादियों के मत का खण्डन होता है जो कि "कस्मिंश्चित् प्रकार लेशे" पक्ष के हैं।

(२) 'अतिरमणीयम्' पद से भक्तिवादियों के मत का खण्डन किया गया है। लक्ष्य अर्थ से व्यङ्ग्य अर्थ अधिक रमणीय होता है।

(३) 'उपनिषद्भूतम्' पद से अभाववादियों के इस मत का खण्डन किया गया है जो कि 'अपूर्वसमाख्यामात्रकरणे' की युक्ति पर आधारित है।

(४) 'अणीयसीभिरपि चिरन्तनकाव्यलक्षणविधायिनां बुद्धिभिरनुन्मीलितपूर्वम्' पदों से उन अभाववादियों के मत का खण्डन किया गया है, जो ध्वनि को गुण-अलङ्कार आदि में अन्तर्भावित करते है।

(५) 'अथ च ....सर्वत्र प्रसिद्धव्यवहारं लक्षयताम्' पदों से अलक्षणीयतावादी मत का खण्डन किया गया है।

ध्वनि का लक्षण करने से पूर्व आनन्दवर्धन ने जो यह प्रसङ्ग भूमिका के रूप में प्रस्तुत किया है, इससे अनुबन्ध-चतुष्टय का बोध भी होता है। ग्रन्थ के आरम्भ में अनुबन्ध चतुष्टय का प्रयोजन, विषय अधिकारी और सम्बन्ध का कथन किया जाना चाहिये, जैसे कि श्लोक वार्तिक में लिखा है—

सिद्धार्थं सिद्धसम्बन्धं श्रोतुं श्रोता प्रवर्तते।
शास्त्रादौ तेन वक्तव्यः सम्बन्धः सप्रयोजनः ॥१.१७॥

भारतीय शास्त्र रचना प्रक्रिया के अनुसार अनुबन्धन-चतुष्टय का कथन ग्रन्थ के आरम्भ में होना चाहिये। आनन्दवर्धन ने भी इस परम्परा का पालन करते हुए अनुबन्ध-चतुष्टय को सूचित किया है। वे इस प्रकार हैं—

(१) प्रयोजन—"विमतिपु स्थितानां सहृदयमनःप्रीतये"। इन पदों से स्पष्ट है कि ग्रन्थ का प्रयोजन विमतियों को दूर करना तथा सहृदयों के मन को प्रसन्न करना है।

(२) विषय—"तत्स्वरूपं ब्रूमः"। इन पदों से स्पष्ट है कि ध्वनि के स्वरूप का वर्णन करना इस ग्रन्थ का विषय है।

(३) अधिकारी—"सहृदयानामानन्दो मनसि लभतां प्रतिष्ठाम्"। इन पदों से यह सूचित होता है कि सहृदय जन इस ग्रन्थ के अध्ययन के अधिकारी हैं।

(४) सम्बन्ध—इस ग्रन्थ में शास्त्र और विषय का प्रतिपाद्य-प्रतिपादक सम्बन्ध है तथा शास्त्र और प्रयोजन का साध्य-साधन सम्बन्ध है ॥१॥

तत्र ध्वनेरेव लक्षयितुमारब्धस्य भूमिका रचयितुमिदमुच्यते–

योऽर्थः सहृदयश्लाघ्य· काव्यात्मेति व्यवस्थितः ॥
वाच्यप्रतीयमानाख्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ ॥२॥

काव्यस्य हि ललितोचितसन्निवेशचारुणः शरीरस्येवात्मा सारूप-तया स्थितः सहृदयश्लाघ्यो योऽर्थ तस्य वाच्यः प्रतीयमानश्चेति द्वौ भेदौ ॥२॥

हिन्दी अर्थ—जिस ध्वनि का हम लक्षण करना आरम्भ कर रहे हैं, उसकी भूमिका की रचना करने के लिये ही यह कहा जाता है—

अन्वय—य अर्थ सहृदयश्लाघ्य काव्यात्मा इति व्यवस्थित, तस्य वाच्यप्रतीयमानाख्यौ उभौ भेदौ स्मृतौ ।

जो अर्थ सहृदयों के द्वारा प्रशसित है तथा जो काव्य की आत्मा के रूप मे प्रतिष्ठित है, उसके वाच्य और प्रतीयमान से दो भेद कहे गये हैं ॥२॥

काव्य का जो ललित (गुण और अलङ्कारो से सुन्दर) तथा उचित रसादि के योग्य) रचना के कारण रमणीय, शरीर मे आत्मा के समान सार रूप मे स्थित एवं सहृदयो द्वारा प्रशसित अर्थ है, उसके वाच्य और प्रतीयमान इस प्रकार से दो भेद हैं ॥२॥

इस कारिका म ध्वनिकार ने काव्य म दो प्रकार के अर्थों का कथन किया है तथा दोनो अर्थो को काव्य की आत्मा रूप तथा सहृदयो से प्रशसित बताया है। इस प्रकार ध्वनिकार के कथन मे ही परस्पर विरोध प्रतीत होता है। ध्वनिकार पहले तो कहते है कि ध्वनि, जो कि प्रतीयमान अर्थ है, काव्य की आत्मा है (काव्यस्यात्मा ध्वनि) तथा अब वे वाच्य अर्थ को भी काव्य की आत्मा कह रहे हैं। इस प्रकार ध्वनिकार के पहले कथन 'तेन ब्रूम सहृदयमन प्रीतये तत्स्वरूपम्" और इस कारिका मे परस्पर असङ्गति उत्पन्न हो जाती है। विश्वनाथ ने 'साहित्यदर्पण' मे इस असगति को उठाकर इस प्रकार आपत्ति की है–

"यच्चध्वनिकारेणोक्तम्—

अर्थ सहृदयश्लाघ्य काव्यात्मा यो व्यवस्थित ।
वाच्यप्रतीयमानाख्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ ॥

तत्र वाच्यस्यात्मत्व 'काव्यस्यात्मा ध्वनि' इति स्ववचनविरोधादेवापास्तम्" ।

परन्तु यह असगति, जो कि विश्वनाथ द्वारा भी प्रदर्शित की गई है, वास्तविक नही है। ध्वनिकार ध्वनि को ही काव्य का सारभूत तत्व मानते हैं। वाच्य का यहाँ जो उन्होने कथन किया है, वह ध्वनि के लक्षण की भूमिका को बनाने के लिये किया है। ध्वनिकार स्वय वृत्ति में यह कहते हैं कि इस कारिका की रचना ध्वनि के लक्षण की भूमिका बनाने के लिये की गई है। 'ध्वनरेव' म 'एव' पद इस तथ्य को स्पष्ट कर देता है कि यह कारिका केवल भूमिका के रूप मे है। वाच्य अर्थ के बिना व्यङ्ग्य अर्थ की प्रतीति नही होती। क्योंकि व्यङ्ग्य अर्थ के बोध के लिये पहले वाच्य अर्थ

का जानना अनिवार्य है इसलिये ध्वनिकार ने वाच्य अर्थ का यहीं उल्लेख किया है। इसको अभिनवगुप्त ने इस प्रकार स्पष्ट किया है—

ननु ध्वनिस्वरूपं ब्रूमः इति प्रतिज्ञाय वाच्यप्रतीयमानाख्यौ द्वौ भेदावर्थस्येति वाच्याभिधाने का सङ्गतिः कारिकायाः इत्याशङ्क्य सङ्गतिं कर्तुमवतरणिकां करोति ध्वनेरेवेति ।

भूमिकाम्—भूमिरिव भूमिका (लोचनटीका)। भूमिका भूमि (नींव) के समान होती है। जिस प्रकार किसी प्रासाद की रचना करने से पूर्व उसकी मजबूत भूमि (नींव) बनाई जाती है उसी प्रकार प्रतीयमान अर्थ का विवेचन करने के लिये उसकी भूमि के रूप में वाच्य अर्थ का निरूपण आवश्यक है। वाच्य अर्थ का अच्छी प्रकार से बोध होने पर ही प्रतीयमान अर्थ का विवेचन सम्भव होगा। यहां प्रतीयमान के साथ वाच्य को इसलिये रखा गया है कि कहीं उसका काव्य में अपह्नव (निषेध) न कर दिया जावे।

वाच्यप्रतीयमानाख्यौ—वाच्यश्च प्रतीयमानश्च। द्वन्द्व समास। द्वन्द्व समास उभयपदप्रधान है। इससे सिद्ध है कि काव्य में वाच्य और प्रतीयमान दोनों अर्थों का अस्तित्व रहता है। किसी का भी अपह्नव (निषेध) नहीं किया जा सकता।

स्मृतौ—स्मृतौ पद से यह अभिप्राय है कि ध्वनिकार इस विषय में कोई नई बात नहीं कह रहे अपितु प्राचीन काल से काव्य में प्रतीयमान अर्थ माना जाता रहा है। इससे ध्वनिकार के सम्मानातपूर्व कथन की भी पुष्टि होती है।

सहृदयश्लाघ्य—पहले कहा गया है—शब्दार्थशरीरं काव्यम्। काव्य का शरीर शब्द और अर्थ से निर्मित है। अर्थ को सहृदयों से श्लाघनीय काव्य की आत्मा के रूप में कहा गया है। इसमें भी असंगति प्रतीत होती है। वस्तुतः शब्द शरीर के सदृश है। इसका सभी व्यक्ति अनुभव कर सकते हैं। परन्तु अर्थ का ज्ञान सब मनुष्यों को नहीं होता। अर्थ का विशेष रूप से प्रतीयमान अर्थ का बोध सहृदयजन ही कर पाते हैं। अतः सहृदयश्लाघ्य अर्थ प्रतीयमान ही है। उसके दो विभाग वाच्य और प्रतीयमान में करने का यही अभिप्राय है कि प्रतीयमान अर्थ को जानने के लिये वाच्य अर्थ को भी जानना चाहिये।

ललितोचितसन्निवेशचारुणः—ललितेन उचितेन च सन्निवेशेन चारुणः। यहाँ ललित का अभिप्राय गुणालंकारयुक्त रचना से है और उचित शब्द से रसविषयक औचित्य का ग्रहण किया जाता है जैसे कि अभिनवगुप्त का कथन है—

ललितशब्देन गुणालङ्कारानुग्रहमाह। उचितशब्देन रसविषयमेवौचित्यं भवतीति दर्शयन् रसध्वनेर्जीवितत्वं सूचयति। तदभावे हि किमपेक्षयैतदौचित्यं नाम सर्वत्रोद्घोष्यत इति।

अर्थात् ललित पद से गुणों और अलङ्कारों का अनुग्रह (सहायकत्व) कहा है। उचित शब्द से रसविषयक औचित्य ही होता है इस प्रकार प्रदर्शित करते हुए

रसध्वनि काव्य का जीवन है यह सूचित करते हैं। उस रस के अभाव मे किस अपेक्षा से सब स्थानो पर औचित्य को उद्घोषित किया जा सकता है।

ध्वनि सिद्धात के अनुसार काव्य की आत्मा रस है तथा गुण अलकार, औचित्य आदि सब रस के अगभूत है। परन्तु क्षमेन्द्र ने औचित्यविचारचर्चा म यह प्रतिपादित किया है कि काव्य की आत्मा औचित्य है तथा काव्य के अन्य उपकरण उसकी तुलना मे गौण है। परन्तु आनन्दवधन न अपने ग्रन्थ म अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुय ध्वनि को मुख्य कह कर भी औचित्य के महत्व का समथन किया है। उनका कहना है कि रस का सन्निवेश करते हुय औचित्य का ध्यान रखना चाहिये। औचित्य के न रहन पर रस का भग हो जाता है। व निखते है—

अनौचित्यादृते नान्यद् रसभगस्य कारणम।
प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत परा॥ तृतीय उद्योत॥

औचित्य के अतिरिक्त रस के भग का दूसरा कारण नही है। प्रसिद्ध औचित्य का नियोजन ही रस का परम रहस्य है।

औचित्य को महत्व देत हुये भी आनन्दवधन न उसको रस के ऊपर प्रस्थापित नही किया। उसन रसध्वनि को ही काव्य का परमतत्व माना है—

व्यङ्ग्यव्यञ्जक भावेऽस्मिन् विविध सम्भवत्यपि।
रसादिमय एकस्मिन् कवि स्यादवधानवान्॥४ ५॥

इस व्यङ्ग्य व्यञ्जकभाव के अनेक प्रकार के सम्भव होने पर भी कवि को चाहिये कि वह एक रसादिमय भेद म ही ध्यान देने वाला हो।

आनन्दवधन का यह भी कहना है कि जब वाच्य और वाचक म औचित्य का नियोजन किया जाता है तो वह भी रस आदि विषय की दृष्टि से ही होता है—

वाच्याना वाचकाना च यदौचित्येन योजनम।
रसादिविषयेणैतत कर्म मुख्य महाकवे॥३ ३२॥
रसाद्यनुगुणत्वेन व्यवहारोऽर्थशब्दयो।
औचित्यवान् यस्ता एता वृत्तयो द्विविधा स्मृता॥३ ३३॥

रस के नियोजन मे अनौचित्य की कडी आलोचना ध्वनिकार ने की है। इस सम्बन्ध मे वे कालिदास को भी नही छोडते। एक ओर तो कालिदास ने शिव और पार्वती की ससार के माता पिता के रूप मे वन्दना की है (जगत पितरौ वन्दे पार्वती परमेश्वरौ॥रघुवश १ १॥) दूसरी ओर उन्होंने कुमारसम्भव म उनके नग्न शृङ्गार का चित्रण किया है।

तथाहि महाकवीनामप्युत्तमदेवताविषय प्रसिद्ध सभोगशृङ्गारनिबन्धनाद्यनौचित्य शक्तितिरस्कृतत्वात् ग्राम्यत्वेन न प्रतिभासत। यथा कुमारसम्भवे देवीसम्भोगवर्णनम॥ध्वन्यालोक कारिका ६ की वृत्ति॥

महाकवियो का भी उत्तम देवता विषयक प्रसिद्ध सभोग शृङ्गार का नियोजन अनौचित्य की शक्ति से तिरस्कृत हो जाने के कारण ग्राम्यत्व दोष स युक्त हो जाता है

तत्र वाच्य. प्रसिद्धो यः प्रकारैरुपमादिभिः ।
बहुधा व्याकृतः सोऽन्यैः,
काव्यलक्ष्मविधायिभिः ।
ततो नेह प्रतन्यते ॥३॥
केवलमनूद्यते पुनर्यथोपयोगम् ॥३॥

और वह प्रतिभासित नही होता । जैसा कि 'कुमारसम्भव' मे देवी पार्वती के सम्भोग का वर्णन है ।

आनन्दवर्धन ने रस के औचित्य के लिये विभाव, अनुभाव एव व्यभिचारी-भावो मे भी औचित्य का प्रतिपादन किया है—

विभावानुभावसचार्यौचित्यचारण ।
विधि कथाशरीरस्य ॥३ १०॥

शृङ्गार रस के स्थायिभाव रति के औचित्य के सम्बन्ध मे वे लिखते है—

रतिर्हि भारतवर्षोचितेनैव व्यवहारेण दिव्यानामपि वर्णनीयेति स्थिति ।··· तथाहि अधमप्रकृत्यौचित्येनोत्तमप्रकृते शृङ्गारोपनिबन्धने का भवेन्नोपहास्यता ।··· तस्मादभिनेयार्थेऽनभिनेयार्थे वा काव्ये यदुत्तमप्रकृते राजादेरुत्तमप्रकृतिभिर्नायिकाभि सह ग्राम्यसम्भोगवर्णन तत् पित्रो सम्भोगवर्णनमिव सुतरामसभ्यम् । तथैवोत्तमदेवतादि-विषयकम् । यत्त्वेवविधे विषये महाकवीनामप्यसमीक्ष्यकारिता लक्ष्ये दृश्यते स दोष एव । स तु शक्तितिरस्कृतत्वात् न लक्ष्यत इत्युक्तमेव ।

इस प्रकार 'ललितोचितसन्निवेशचारुण' पद से आनन्दवर्धन का अभिप्राय है कि काव्य को गुणो और अलकारो से विभूषित होना चाहिये तथा उसमे रस के औचित्य का समायोजन होना चाहिये । तभी वह काव्य चारु होता है ॥२॥

अन्वय—तत्र यः वाच्यः उपमादिभिः प्रकारैः प्रसिद्धः, स अन्यैः बहुधा व्याकृत. ।

हिन्दी अर्थ—उन दोनो प्रकारों के अर्थों मे से जो वाच्य अर्थ उपमा आदि प्रकारो के द्वारा प्रसिद्ध है, उसकी अन्य आचार्यों ने अनेक प्रकार से व्याख्या की है ।

अन्यै का अभिप्राय है काव्य का लक्षण करने वाले आचार्यों ने ।

इसलिये उसका विस्तार से प्रतिपादन नहीं कर रहे ॥३॥

अर्थात् वह वाच्य अर्थ यहाँ आवश्यकता के अनुसार केवल अनूदित किया जा रहा है ॥३॥

प्रतन्यते, अनूद्यते—अज्ञात अर्थ का ज्ञापन अर्थात् उसके लक्षण का प्रतिपादन प्रतान कहलाता है (अज्ञातज्ञापनलक्षण प्रतिपादन हि प्रतननम्) और दूसरे प्रमाणो से अवगत अर्थ का शब्दो के द्वारा कथन करना अनुवाद कहलाता है (प्रमाणान्तरावगतार्थस्य शब्दा सकीर्तनमात्रमनुवाद) ।

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम् ।
यत्तत् प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु ॥४॥

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वाच्याद् वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम् । यत् तत् सहृदयसुप्रसिद्धं प्रसिद्धेभ्योऽलंकृतेभ्यः प्रतीतेभ्यो वाऽवयवेभ्यो व्यतिरिक्तत्वेन प्रकाशते लावण्यमिवाङ्गनासु । यथा ह्यङ्गनासु पृथङ् निर्वर्ण्यमानं निखिलावयवव्यतिरेकि किमप्यन्यदेव सहृदयलोचनामृतं तत्त्वान्तरं तद्वदेव सोऽर्थः ।

लोचनकार का भाव यह है—वाच्य अर्थ जो कि उपमा आदि अलंकारो से विशिष्ट है, उसका विस्तृत वर्णन प्राचीन आचार्यों ने किया है। अत उसको प्रतिपादित करने की हम आवश्यकता नही है। हम उसको उसी प्रकार से स्वीकार करते है तथा उसका प्रतिपादन करके केवलमात्र कथन करते है।

प्रसिद्ध —प्रसिद्ध का अर्थ लौकिक है। 'वनितावदनोद्यानेन्दूदयादिवल्लौकिक एवेत्यर्थ' (लोचन)। भाव यह है कि वाच्य अर्थ को ध्वनिकार ने वनिता का मुख, उद्यान, चन्द्रोदय आदि के समान लौकिक कहा है तथा व्यङ्ग्य रस को अलौकिक माना है।

प्रकारैरुपमादिभि'—वाच्य अर्थ की शोभा अलङ्कारो से होती है। इनमे उपमा सबसे प्रमुख है। जैसा कि वामन का कथन है—सम्प्रत्यर्थालङ्काराणा प्रस्ताव । तन्मूल चोपमा इति । सैव विचार्यते ॥काव्यालकारसूत्रवृत्ति ४ २ १॥

इसी तथ्य की पुष्टि अप्पयदीक्षित ने 'चित्रमीमासा' मे की है—

उपमैका शैलूषी सम्प्राप्ता चित्रभूमिकाभेदान् ।
रञ्जयति काव्यरङ्गे नृत्यन्ती तद्विदा चेत ॥२॥

अन्य —ध्वनिकार का अन्य पद से अभिप्राय प्राचीन अलकारवादी आचार्यों—भामह, दण्डी, उद्भट आदि से है ॥३॥

अन्वय—महाकवीनाम् वाणीषु तत् प्रतीयमान पुनः अन्यद् एव वस्तु अस्ति । यत् प्रसिद्धावयवातिरिक्तम् अङ्गनासु लावण्यम् इव विभाति ।

हिन्दी अर्थ—महाकवियो की वाणियो मे वह प्रतीयमान अर्थ पुन कुछ और ही वस्तु है, जो कि प्राचीन आचार्यो द्वारा प्रसिद्ध काव्य-अवयवो, गुणालकार आदि से भिन्न है और काव्यो मे उसी प्रकार शोभायमान है जिस प्रकार अङ्गनाओ मे लावण्य शोभायमान होता है ॥४॥

पुनः यह प्रतीयमान अर्थ महाकवियो की वाणी मे वाच्य अर्थ से भिन्न अन्य और कोई ही वस्तु है। वह प्रतीयमान इस प्रकार का है, जो कि सहृदय जनों मे प्रसिद्ध है, और लोकप्रसिद्ध अलकारो से तथा प्रतीत होने वाले अन्य काव्य अवयवों से भिन्न होता हुआ उसी प्रकार प्रकाशित होता है, जिस प्रकार अङ्गनाओं मे लावण्य प्रकाशित होता है। जिस प्रकार अङ्गनाओं मे पृथक् रूप से दिखाई देता हुआ सौन्दय उसके सभी अगो से पृथक् होकर सहृदयो की आंखो के लिये अमृतरूप कोई और ही दूसरा तत्व है, उसी प्रकार यह प्रतीयमान अर्थ है।

ध्वनिकार का अभिप्राय यह है कि प्रतीयमान अर्थ वाच्य अर्थ से सर्वथा भिन्न है और यही अर्थ काव्य का सारभूत तत्व है। उन्होने काव्य की उपमा नारी से दी है। जिस प्रकार नारी के शरीर के विभिन्न अग दोषरहित होते हैं तथा विभिन्न अलकारो से अलकृत होते हैं तथा वह इस कारण आकर्षक प्रतीत होती है। परन्तु इन सबसे भिन्न उसका लावण्य पृथक् रूप से शोभा का आधायक होकर सहृदय जना के मन को आह्लादित करता है, उसी प्रकार से काव्य दोषरहित होकर और गुण-अलङ्कारो से अलकृत होकर आकर्षक तो होता है, परन्तु इनसे भिन्न प्रतीयमान अर्थ यदि उसम है तो वह सहृदय जनो के मन को आह्लादित करने वाला होता है।

महाकवीनाम् —यहाँ बहुवचन के प्रयोग का अभिप्राय यह है कि प्रतीयमान अर्थ सभी महाकवियो के व्यास, वाल्मीकि, कालिदास आदि के काव्यो म व्यापक रूप म विद्यमान है। दूसरे शब्दो म यह कहा जा सकता है कि जिन कवियो म प्रतीयमान अर्थ व्यापक रूप से रहता है, उनको ही महाकवि कहा जा सकता है।

प्रसिद्धावयवातिरिक्तम्—प्रसिद्धेभ्य सकलोकप्रतीतेभ्य अवयवेभ्य काव्याङ्गभूतेभ्य गुणालकारप्रभृतिभ्य अतिरिक्त पृथग्भूत सत्। वह प्रतीयमान अर्थ लोकप्रसिद्ध काव्य के अवयव गुण-अलकार आदि स भिन्न है।

विभाति—ध्वनिकार प्रतीयमान अर्थ के अस्तित्व (सत्ता) को सिद्ध करना चाहते है, इसलिये उन्होने विभाति पद का प्रयोग किया है। दर्शनशास्त्र के अनुसार जिस वस्तु का अस्तित्व है उसका भान होता है तथा जिस वस्तु का अस्तित्व नही है, उसका भान नही होता। इसी को लोचनकार ने इस प्रकार कहा है—

"यदेवविधमस्ति तद्भाति। न ह्यत्यन्तासतो भानमुपपन्नम्।···तेन यद् भाति तदस्ति तथेत्युक्त भवति।"

जो इस प्रकार की वस्तु है, उसका भान होता है। क्योंकि अत्यन्त असत् का भान उपपन्न नही होता। इसलिये जिसका भान होता है, उसका अस्तित्व है, यह अर्थ कहा गया है।

सत्ता और भान मे अविनाभाव सम्बन्ध है। जिसका भान होता है, उसकी सत्ता होती है और जिसकी सत्ता है उसका भान होता है। इस प्रकार क्योंकि प्रतीयमान अर्थ का भान होता है, अत उसकी सत्ता है और प्रतीयमान अर्थ की सत्ता है, अत उसका भान होता है।

लावण्यम्—ध्वनिकार ने प्रतीयमान अर्थ को अङ्गनाओ के लावण्य के समान बताया है। यह लावण्य एक ओर तो अङ्गना के आभूषणो से पृथक् होता हैं और शारीरिक दोषो से विमुक्त होता है। अभिनवगुप्त न लावण्य की परिभाषा इस प्रकार की है—

"लावण्य हि नामावयवसस्थानाभिव्यङ्ग्यमवयवव्यतिरिक्तं धर्मान्तरमेव। न चावयवानामेव निर्दोषता वा भूषणयोगो वा लावण्यम्। पृथङ् निर्वर्ण्यमानकाणादिदोष-

स ह्यर्थो वाच्यसामर्थ्याक्षिप्तं वस्तुमात्रम्, अलङ्कारसादयश्चेत्यनेक-प्रभेदप्रभिन्नो दर्शयिष्यते। सर्वेषु च तेषु प्रकारेषु तस्य वाच्यादन्यत्वम्। तथाहि, आद्यस्तावत् प्रभेदो वाच्याद् दूर विभेदवान्। स हि कदाचिद् वाच्ये विधिरूपे प्रतिषेधरूप.। यथा—

शून्यशरीरावयवयोगिन्यामप्यलङ्कृतायामपि लावण्यशून्येयमिति, अतथाभूतायामपि कस्याञ्चिल्लावण्यामृतचन्द्रिकेयमिति सहृदयाना व्यवहारात्।"

लावण्य तो शरीर के अङ्गो के सघटन से अभिव्यक्त होने वाला, परन्तु अङ्गो से भिन्न कोई दूसरा ही धर्म है। अवयवो का दोषरहित होना या अलङ्कारो से युक्त होना ही लावण्य नही है। पृथक् दिखाई देते हुये काणत्व आदि दोषो से रहित तथा अङ्गो मे अलङ्कारो से युक्त होती हुई भी अङ्गना लावण्य से रहित हो सकती है तथा इस प्रकार की न होती हुई भी कोई अङ्गना सहृदयो के लिये लावण्य रूपी अमृत की चन्द्रिका हो सकती है।

'शब्दकल्पद्रुम' मे लावण्य का लक्षण इस प्रकार किया गया है—

मुक्ताफलेषुच्छायायास्तरलत्वमिवान्तरा।
प्रतिभाति यदङ्गेषु तल्लावण्यमिहोच्यते॥

परन्तु कुन्तक ने आनन्दवर्धन द्वारा दी गई लावण्य-प्रतीयमान अर्थ की समानता का विरोध किया है। उसने काव्य के तीन मार्ग बताये हैं—सुकुमार, विचित्र और मध्यम। उसके अनुसार लावण्य तो सुकुमार का एक गुण है। उसने लावण्य की परिभाषा इस प्रकार की है—

वर्णविन्यासविच्छित्ति पदसन्धानसम्पदा।
स्वल्पया बन्धसौन्दर्यं लावण्यमभिधीयते॥

वक्रोक्तिजीवित १ १.३२॥

हिन्दी अर्थ—वाच्य के सामर्थ्य से आक्षिप्त वह प्रतीयमान अर्थ वस्तुमात्र, अलङ्कार और रस आदि के भेद से अनेक प्रकार का दिखाया जायेगा इन सभी प्रकारो मे यह प्रतीयमान अर्थ वाच्य से भिन्न होता है। जैसेकि, पहला वस्तुमात्र नामक भेद (वस्तुध्वनि) वाच्य अर्थ से अत्यधिक भिन्न है। क्योंकि वह कभी तो वाच्य अर्थ के विधि रूप होने पर भी प्रतिषेध रूप होता है। जैसेकि—

ध्वनिकार के कथन का अभिप्राय यह है कि प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति यद्यपि वाच्य अर्थ के माध्यम से होती है, वाच्य अर्थ के ज्ञात होने पर ही तदनन्तर प्रतीयमान अर्थ का बोध होता है, तथापि वह वाच्य अर्थ से भिन्न है। इस प्रतीयमान अर्थ के ध्वनिकार ने तीन मुख्य भेद किये हैं—वस्तु, अलङ्कार और रस आदि। इन तीनों भेदो के पुन अनेक भेद हो सकते हैं, जिनका कि ध्वनिकार आगे वर्णन करेंगे। ये सभी भेद वाच्य अर्थ से अतिरिक्त होते हैं। प्रतीयमान अर्थ की वाच्य अर्थ से भिन्नता आचार्य मम्मट ने इस प्रकार से प्रतिपादित की है—

"नाभिधा समयाभावात्"।

वाच्य अर्थ का बोध संकेत के द्वारा अभिधा व्यापार से होता है। प्रतीयमान अर्थ में सकेत का अभाव होने से उसकी प्रतीति अभिधा द्वारा नही हो सकती।

इस प्रतीयमान अर्थ के भेदो की व्याख्या अभिनवगुप्त ने इस प्रकार से की है—

तत्र प्रतीयमानस्य तावद् द्वौ भेदौ—लौकिक काव्यव्यापारैकगोचरश्चेति। लौकिको य स्वशब्दवाच्यता कदाचिदधिशेते, स च विधिनिषेधाद्यनेकप्रकारो वस्तुशब्देनोच्यते। सोऽपि द्विविध—य पूर्वं क्वापि वाक्यार्थेऽलङ्कारभावमुपमादिरूपतयान्वभूत्, इदानी त्वनलङ्काररूप एवान्यत्र गुणीभावाभावत्। स पूर्वप्रत्यभिज्ञानबलादलङ्कारध्वनिरिति व्यपदिश्यते ब्राह्मणश्रमणन्यायेन। तद्रूपताभावेन तूपलक्षित वस्तुमात्रमुच्यते। मात्र-ग्रहणेन हि रूपान्तर निराकृतम्। यस्तु स्वप्नेऽपि न स्वशब्दवाच्यो न लौकिकव्यवहार-पतित, किन्तु शब्दसमर्प्यमाणहृदयसंवादसुन्दरविभावानुभावसमुचितप्राग्विनिविष्ट-रत्यादिवासनानुरागसुकुमारस्वसंविदानन्दचर्वणाव्यापाररसनीयरूपो रस। स काव्य-व्यापारैकगोचरो रसध्वनिरिति। स च ध्वनिरेवेति। स एव मुख्यतयात्मेति।

प्रतीयमान अर्थ के दो भेद है—लौकिक और एकमात्र काव्य के व्यापारो से गोचर होने वाला। लौकिक प्रतीयमान अर्थ वह है, जो कभी-कभी स्वशब्दवाच्यता को प्राप्त करता है और वह विधि, निषेध आदि के भेद स अनेक प्रकार का होता हुआ वस्तु शब्द के नाम से कहा जाता है। वह भी दो प्रकार का होता है। एक तो वह, जो पहले कही किसी वाक्यार्थ म उपमा आदि के रूप मे अलङ्कारभाव को प्राप्त हो चुका है और अब अनलङ्काररूप ही है, क्योकि अन्यत्र (वाक्यार्थ मे) जो उसका गुणीभाव हो जाता था, अब वह नही है। पूर्व प्रत्यभिज्ञान के कारण ब्राह्मणश्रमण न्याय से उसको अलङ्कार ध्वनि के नाम से कहा जाता है। अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार किसी ब्राह्मण के बौद्ध भिक्षु (श्रमण) हो जाने पर वह ब्राह्मण नही रह जाता, परन्तु पूर्व पहचान के कारण उसको ब्राह्मण श्रमण कह देते हैं, इसी प्रकार प्रतीयमान होने पर उपमा आदि रूप अलङ्कार नही रह जाते, परन्तु पुरानी पहचान के कारण उनको अलङ्कार कह दिया जाता है। जहाँ उपमा आदि अलङ्कारो का रूप उपलक्षित नही होता, उसको वस्तुमात्र कहा जाता है। वस्तु के साथ मात्र पद का प्रयोग करने से यह स्पष्ट है कि अलङ्कार आदि के रूप को वस्तुध्वनि नहीं कहेगे। जो प्रतीयमान अर्थ स्वप्न मे भी स्वशब्दवाच्य नही होता और जो लौकिक व्यवहार के अन्तर्गत नहीं आता, अपितु शब्दो के द्वारा समर्पित किये जाने वाले और सहृदयो के हृदयो के साथ सगति रखने वाले सुन्दर विभावो और अनुभावो के द्वारा समुचित रूप से पहले से ही हृदयों मे निविष्ट इत्यादि वासनाओ के द्वारा सुकुमार सहृदयो के संवित् (मन) मे आनन्दमय चर्वणा (आस्वादन) रूप व्यापार से आस्वादन के योग्य है, वह रस है। वह एकमात्र काव्य के व्यापारो द्वारा गोचर होता है, और उसको रसध्वनि कहते हैं। वह रसध्वनि ही होता है और वह ही मुख्य रूप मे काव्य की आत्मा है।

भम धम्मिअ वीसत्थो सो सुणओ अज्ज मारिओ देण ॥
गोलाणइकच्छकुड्ङ्गवासिणा दरिअसीहेण ॥
(भ्रम धार्मिक विस्रब्धः स शुनकोऽद्य मारितस्तेन ।
गोदानदीकच्छकुञ्जवासिना दृप्तसिंहेन ॥)

इस प्रकार अभिनवगुप्त ने वस्तुध्वनि और अलङ्कारध्वनि को लौकिक सिद्ध करके रसध्वनि को ही मुख्य रूप से काव्य की आत्मा कहा है।

इस सम्बन्ध मे प्रश्न उठता है कि यदि रसध्वनि को ही प्रमुख रूप से काव्य की आत्मा मानना है तो वस्तुध्वनि तथा अलङ्कारध्वनि को मानने की क्या आवश्यकता है? इस सम्बन्ध मे ध्वनिवादियो का कथन है कि वाच्य अर्थ उतना मनोरञ्जक नही होता, जितना प्रतीयमान अर्थ। जैसे कि आनन्दवर्धन ने कहा है—

"वाच्योऽर्थोन तथा स्वदते प्रतीयमान स एव यथा।"

तदनन्तर आचार्य मम्मट ने 'काव्यप्रकाश' मे ध्वनिकार को उद्धृत करते हुये अलङ्कारो का ध्वनि होना सिद्ध किया है—

व्यज्यन्ते वस्तुमात्रेण यदालङ्कृतयस्तदा।
ध्रुव ध्वन्यङ्गता तासा काव्यवृत्तेस्तदाश्रयात् ॥ ध्वन्यालोक २·२९ ॥

इस प्रकार ध्वनिवादी वस्तु और अलकार को भी ध्वनि मे परिगणित करते हैं। प्रतीयमान अर्थ के तीन भेदो का कथन करके ध्वनिकार इनका वाच्य अर्थ से क्रमश विभेद प्रदर्शित करते हैं। पहली वस्तुध्वनि वाच्य अर्थ से बिलकुल भिन्न है।

यद्यपि वाच्य और प्रतीयमान अर्थ की भिन्नता के अनेक हेतु हैं तथापि इस प्रसग मे ध्वनिकार स्वरूप के भेद से प्रतीयमान वस्तुध्वनि का वाच्य अर्थ से भेद प्रदर्शित कर रहे है। किन्ही स्थलो पर वाच्य अर्थ के विधि रूप होने पर भी उसमे आक्षिप्त प्रतीयमान अर्थ निषेध रूप हो सकता है। यथा—

हिन्दी अर्थ—हे धार्मिक पुरुष! अब तुम यहाँ निश्चिन्त होकर भ्रमण करो क्योकि गोदावरी नदी के किनारे के कुञ्जो मे रहने वाले मदमत्त सिंह ने आज उस कुत्ते को मार डाला है।

हाल की गाथासप्तशती की इस गाथा का अभिप्राय यह है—गोदावरी नदी का तट किसी पुंश्चली नायिका का सकेत स्थान है, जहाँ कि वह अपने प्रेमी से मिलने के लिये जाया करती है। उस स्थल की मनोरमता के कारण एक धार्मिक पण्डित वहाँ सन्ध्योपासना या भ्रमण के लिये जाने लगा और वहाँ पुष्प-पत्तियाँ तोडने लगा। इससे उस पुंश्चली नायिका के प्रेम मिलन मे विघ्न उत्पन्न होने लगा और वह चाहने लगी कि यह धार्मिक यहाँ न आया करे। उस स्थान पर एक कुत्ता आया करता था, जिससे कि यह धार्मिक व्यक्ति दुखी था। धार्मिक को गोदावरी के तट पर आने से रोकने के लिये उस पुंश्चली ने उनसे इस प्रकार कहा—अब उस कुत्ते को गोदावरी नदी के किनारे के कुञ्ज मे रहने वाले मदमत्त सिंह ने मार डाला है, अत आप यहाँ निश्चिन्त

होकर भ्रमण कीजिये। वह पुश्चली यह जानती है कि यह धार्मिक व्यक्ति, जो कि एक कुत्ते से भी डरता है, सिंह का नाम सुनकर अवश्य डर जायगा, तथा भविष्य मे उस सिंह के भय से गोदावरी के तट पर नही आयेगा। इससे उसके प्रेम मिलन म किसी प्रकार का विघ्न उपस्थित नही होगा। सिंह की भयकरता के अतिशय को प्रदर्शित करने के लिये वह 'कच्छकुञ्जवासिना' तथा 'दृप्त' पदा का प्रयोग करती है। अर्थात् सिंह उसी कुञ्ज म रहता है, जहाँ कि वह धार्मिक घूमता है और पत्र-पुष्प तोडता है और वह सिंह दृप्त है। उसको किसी प्रकार हटाया नही जा सकता।

इस वाक्य म 'भ्रम' पद का वाच्यार्थ विधि रूप है। वह पुश्चली उस धार्मिक व्यक्ति को निश्चिन्त होकर भ्रमण करने क लिये कहती है। परन्तु उस पुश्चली का कहने का अभिप्राय यही है कि वह धार्मिक पुरुष वहाँ भ्रमण न करे। सिंह की भयकरता धार्मिक व्यक्ति के वहाँ भ्रमण करने का निषेध करती है। यह प्रतीयमान अर्थ निषध रूप है। विधि और निषेध परस्पर भिन्न होते है, अत वाच्य विधि अर्थ और प्रतीयमान निषेध अर्थ भी परस्पर भिन्न होगे।

सस्कृत भाषा मे लिङ्, लोट् और तव्यत् आदि कृत्य प्रत्यय विधि प्रत्यय कहलाते है। इसके प्रयोग से यह प्रतीत होता है कि कहने वाला सुनने वाले को कार्य म प्रवृत्त करा रहा ह। श्रोता को कार्य म प्रवर्तित करना ही वक्ता का अभिप्राय है। परन्तु यहाँ यह पुश्चली धार्मिक को आदेश नही दे रही कि वह भ्रमण करे। उसका भ्रमण करना तो स्वत सिद्ध है। पुश्चली तो धार्मिक व्यक्ति के उस भय को दूर कर रही है, जो कि कुत्ते के कारण उत्पन्न हुआ है। अत विधि यहाँ प्रतिषेध का अभाव रूप या अतिप्रसव रूप है। इस प्रकार यहाँ लोट् लकार का प्रयोग "प्रैषातिसर्गप्राप्तकालेषु कृत्याश्च' (पा० ३-३-१०२) सूत्र से अतिसर्ग (कामाचार, स्वेच्छाचार) और प्राप्तकाल अर्थ म हुआ है, आदेश देने के अर्थ म नही।

कुछ समालोचकों का कथन है कि यहाँ 'भ्रम' शब्द के वाच्य और निषेध दोनो अर्थ वाच्य माने जा सकते हैं। परन्तु अभिनवगुप्त का कथन है कि विधि और निषेध अर्थ परस्पर विरोधी है अत ये न तो एक साथ और नाही क्रमश वाच्य हो सकते हैं—

'तत्र भावतदभावयोर्विरोधाद् द्वयोस्तावन्न युगपद्वाच्यता, न क्रमेण, विरम्य व्यापाराभावात्। "विशेष्य नाभिधागच्छेत्" इत्यादिनाभिधाव्यापारस्य विरम्य व्यापारासभवाभिधानात्।"

विधि और निषध म परस्पर विरोध होने के कारण वे दोनो न तो एक साथ वाच्य हो सकते हैं और न क्रमश वाच्य हो सकते हैं, क्योकि अभिधा का एक बार विराम हो जाने के पश्चात् पुन व्यापार नही होता। यहाँ अभिधा का वाच्य अर्थ को सकेतित करने के पश्चात् विराम हो जाता है और क्षीणशक्ति होने से उसका पुन प्रतीयमान अर्थ का बोध कराने के लिए व्यापार नही हो सकता।

क्वचिद वाच्ये प्रतिषेधरूपे विधिरूपो यथा—

अत्ता एत्थ णिमज्जइ एत्थ अहृ दिअसअ पलोएहि ।
मा पहिअ रत्तिअन्धअ सेज्जाए मह णिमज्जहिसि ।।
(श्वश्रूरत्र निमज्जति अत्राहं दिवसक प्रलोकय ।
मा पथिक राश्यन्धक शय्यायां मम निमङ्क्ष्यसि ।।)

महिमभट्ट न व्यञ्जना व्यापार का प्रबल शब्दों म खण्डन किया है। उसका कथन ह कि व्यञ्जना वृत्ति के द्वारा जिस प्रतीयमान अथ का बोध होता है उसका बोध अनुमान के द्वारा ही हो जाता है। महिमभट्ट ने इस गाथा की व्याख्या की है और इस प्रतिषेध रूप अथ की प्रतीति को अनुमान के द्वारा सिद्ध किया है। इसके अतिरिक्त महिमभट्ट ने 'व्यक्तिविवेक' म ध्वनि के अनक उदाहरणो को अनुमान द्वारा सिद्ध करने का प्रयत्न किया ह। अनुमान के तीन मुख्य अंग है—साध्य व्याप्ति और हेतु। इस गाथा म गोदातट का भीरुभ्रमणायोग्यत्व साध्य है। यत्र-यत्र सिंहत्व तत्र तत्र भीरुभ्रमणायोग्यत्वम यह व्याप्ति है तथा सिंहवत्त्वात् हेतु है। इस प्रकार यह अनुमान निष्पन्न होता है— गोदावरीतीर धार्मिकभीरुभ्रमणायोग्य सिंहवत्त्वात्। यन्नैव तन्नैव यथा गृहम।

परन्तु उत्तरवर्ती आचार्यों मम्मट विश्वनाथ आदि ने उचित तक देकर महिम भट्ट की इस मान्यता का खण्डन किया ह। इसके विषय म अगले प्रसग म कहा जायगा।

हिन्दी अथ—कहीं वाच्याथ के निषेधरूप होने पर व्यङ्ग्य अथ विधिरूप होता है। जसे—

हे पथिक ! मेरी सास यहा सोती है और मैं यहा सोता हूँ यह बात दिन मे अच्छी प्रकार से देख लो। रात्रि मे अध (रतौंधी से पीडित) तुम कहीं मेरी शय्या पर ही न गिर जाना।

यह आर्या गाथासप्तशती (७ ६७) की है। एक विवाहित महिला का पति परदेस गया हुआ है। उसके घर एक पथिक अतिथि रूप म आता है। उस महिला क प्रति वह आकर्षित होता है तथा वह महिला भी पथिक स मिलन के लिय उत्सुक है। परन्तु महिला की सास की उपस्थिति उनके मिलन म बाधक है। इस गाथा के रूप म वह महिला उस पथिक को रात्रि म मिलने क लिय निमन्त्रण देती है। वह दिन म उस पथिक को अपनी तथा अपनी सास की शय्या की पहचान करा देती है। इसके साथ ही वह 'निमज्जति' पद क द्वारा यह भी सूचित करता है कि यह वृद्धा सास रात्रि म गहरी नीद म निमग्न हो जाती है। यह मिलन का समय रात्रि को सूचित करती है कि रात्रि म तुम सुभग मिलना। यहाँ 'मम शय्यायां मा निमङ्क्ष्यसि' मेरी शय्या म मत गिर जाना यह वाच्य अथ प्रतिषेध रूप है। परन्तु इसम प्रतीयमान अथ है—रात्रि म मेरी शय्या म अवश्य गिर जाना। यह अथ विधि रूप है। इसका वाच्य प्रतिषेध रूप अथ स प्रतीयमान विधि रूप अथ नितान्त भिन्न है।

क्वचिद् वाच्ये विधिरूपेऽनुभयरूपो यथा—
वच्च मह व्विअ एक्केइ होन्तु णीसासरोइअव्वाइं।
मा तुज्झ वि तीअ विणा दक्खिण्णअस्स जाअन्तु ॥
(व्रज ममैवैकस्या भवन्तु निःश्वासरोदितव्यानि।
मा तवापि तया विना दाक्षिण्यहतस्य जनिषत ॥)

इसकी व्याख्या अभिनवगुप्त ने इस प्रकार की है—

"काञ्चित् प्रोषितपतिकां तरुणीमवलोक्य प्रवृत्तमदनाङ्कुर सम्पन्न पान्थोऽनेन निषेधद्वारेण तयाऽभ्युपगम्यते इति निषेधभावोऽत्र विधि। न तु निमन्त्रणरूपोऽप्रवृत्तप्रवर्तनास्वभाव सौभाग्याभिमानखण्डनप्रसङ्गात्। अत एव राज्यन्वेति समुचितसमयसभाव्यमानविकाराकुलितत्व ध्वनितम्। भावतदभावयोश्च साक्षाद् विरोधाद् वाच्याद् व्यङ्ग्यस्य स्फुटमेवान्यत्वम्।"

किसी प्रोषित पतिका (जिसका पति परदेश चला गया है) तरुणी को देखकर कोई पथिक विशेष रूप से काम से आसक्त हो गया। उस समय इस निषेध के द्वारा उस तरुणी ने उस पथिक को रात्रि में मिलने के लिये वचन दिया। इस प्रकार यहाँ निषेधाभाव रूप विधि है। अप्रवृत्त में प्रवृत्त होने के स्वभाव का नियन्त्रण रूप नहीं है। क्योंकि इससे उस तरुणी के सौभाग्य के अभिमान का खण्डन हो सकता है 'राज्यन्व' पद के द्वारा उस पथिक के मन का उस समय के योग्य सभावित विकारों से व्याकुल होना ध्वनित होता है। भाव और अभाव इन दोनों में साक्षात् विरोध होने के कारण वाच्य और व्यङ्ग्य का भिन्नत्व स्पष्ट ही है।

हिन्दी अर्थ—कहीं वाच्य अर्थ के विधि रूप होने पर प्रतीयमान अर्थ अनुभयात्मक (न विधिरूप और न निषेधरूप) होता है। जैसे—

तुम जाओ! मैं अकेली ही निःश्वासों और रुदनों को भोगूँगी। दाक्षिण्य के चक्कर में पड़े हुये तुमको भी वहाँ उसके विरह में ये सब न भोगने पड़े।

एक नायिका का प्रेमी किसी दूसरी तरुणी से भी प्रेम करता है और उससे मिलने के लिये जाता रहता है। परन्तु वह अपनी पहली प्रेमिका के प्रति भी कठोर आचरण न करके प्रेम प्रदर्शित करता है। दूसरी प्रेयसी से मिलकर जब जब पहली प्रेमिका के पास आता है, तो उसके शरीर पर सम्भोग के चिह्न स्पष्ट हैं, जिनको देखकर वह खण्डिता नायिका उस प्रकार कहती है कि तुम अब वहीं जाओ। मेरे भाग्य में तो निःश्वासों को लेना और रोना ही लिखा है। है। उनको मैं भोगूँगी ही। वहीं ऐसा न हो कि तुम मेरे प्रति अनुकूलता दिखाते रहो और इस अपनी प्रेयसी के विरह में निःश्वासों और रोने का कष्ट भोगो।

यहाँ 'व्रज' का वाच्य अर्थ विधिरूप है। परन्तु प्रतीयमान अर्थ नायिका का प्रगाढ मन्यु प्रतीत होना है, जो न तो जाने के अभावरूप निषेध को और नाही जाने रूप विधि को प्रदर्शित करता है। अतः यह अनुभय रूप है।

क्वचिद् वाच्ये प्रतिषेधरूपेऽनुभयरूपो यथा—

दे आ पसिअ णिवत्तसु मुहससिजोह्लाविलुत्ततमणिवहे ।
अहिसारिआणं विग्घं करोसि अण्णाणं वि हआसे ॥
(प्रार्थये तावत् प्रसीद निवर्तस्व मुखशशिज्योत्स्नाविलुप्तमो निवहे ।
अभिसारिकाणां विघ्नं करोष्यन्यासामपि हताशे ॥)

इस गाथा की व्याख्या अभिनवगुप्त ने इस प्रकार की है—

"अत्र व्रजेति विधि । न प्रमादादेव नायिकान्तरसगमन तव, अपितु गाढानुरागात्, येनान्याह्ड मुखराग गोत्रस्खलनादि च । केवलं पूर्वकृतानुपालनात्मना दाक्षिण्येनैनरूप-त्वाभिमानेनैव त्वमत्र स्थित । तत्सर्वथा शठोऽसीति, गाढमन्युरूपोऽत्र खण्डितनायि-काभिप्रायोऽत्र प्रतीयते । न चाऽसौ व्रज्याभावरूपो निषेध, नापि विध्यन्तरमेवान्य-निषेधाभाव ।"

यहाँ 'जाओ' यह विधि है । दूसरी नायिकाओं से तुम्हारा मिलना प्रमादवश ही नही है, अपितु प्रगाढ अनुराग के कारण है, क्योंकि तुम्हारे मुख का राग कुछ दूसरी प्रकार का है और तुम नाम के उच्चारण म स्खलित हो रहे हो। पहले किये गये वचन का पालन करने रूप एकमात्र दाक्षिण्य के अभिमान के कारण तुम यहाँ आ गये हो। तो तुम सर्वथा धूर्त हो । इस प्रकार यहाँ खण्डिता नायिका का प्रगाढ क्रोधरूप प्रतीयमान अर्थ है । न तो यह गमन का अभावरूप निषेध अर्थ है और न ही विधि-निषेध का अभाव रूप विधि ही है ।

खण्डिता नायिका—पार्श्वमेति प्रियो यस्या अन्यसम्भोगचिह्नित ।
सा खण्डितेति कथिता धीरैरीर्ष्याकषायिता ॥

दक्षिण नायक—अनेक महिलासमरागो दक्षिण कथित ।

हिन्दी अर्थ—**जहाँ वाच्य अर्थ के प्रतिषेधरूप होने पर प्रतीयमान अर्थ अनुभय-रूप होता है । जैसे—**

मैं प्रार्थना करता हूँ । तुम प्रसन्न हो जाओ । लौट आओ । मुख रूपी चन्द्रमा की ज्योत्स्ना से अन्धकार के समूह को नष्ट करने वाली हे हताशे ! तुम दूसरी अभि-सारिकाओं के कार्य मे भी विघ्न उत्पन्न कर रही हो ।

इस गाथा की व्याख्या तीन प्रकार से की जा सकती है—

(१) नायिका अपने प्रेमी के घर आई । परन्तु नायक के गोत्रस्खलन आदि किसी अपराध से नाराज होकर वह लौटने के लिये उद्यत हुई, तब नायक उसके रूप की प्रशसा करके उसको लौटाने के लिय इस प्रकार कहता है—तुम्हारा मुख चन्द्रमा के समान आलोकित है । इससे तुम न केवल अपने सुख म ही विघ्न डाल रही हो, अपितु अन्य अभिसारिकाओं के भी सुख मे विघ्न डाल रही हो। यहाँ नायक का नायिका प्रति चाटुविशेष व्यङ्ग्य है । इस प्रकार वाच्य अर्थ 'मत जाओ' निषेधरूप होने पर भी प्रतीयमान अर्थ न तो निषेधरूप है और न विधि रूप है।

(२) दूसरी व्याख्या के अनुसार यह उक्ति नायिका की सखी ने उससे कही है । नायिका अभिसार के लिये जाना चाहती है । सखी उसे समझाती है । परन्तु सखी द्वारा समझाने पर भी जब नायिका जाने को उद्यत होती है, तो वह उसम कहती है—

क्वचिद् वाच्याद्विभिन्नविषयत्वेन व्यवस्थापितो यथा—
कस्स वा ण होइ रोसो दट्ठूण पियाएँ सव्वण अहरम् ।
सभमरपउमग्घाइणि वारिअवामे सहसु एह्णिम् ॥
(कस्या वा न भवति रोषो दृष्ट्वा प्रियायाः सव्रणमधरम् ।
सभ्रमरपद्माघ्रायिणि वारितवामे सहस्वेदानीम् ॥

तुम अपने मुखचन्द्र की ज्योत्स्ना से अन्धकार का विनाश करके न केवल अपने ही सुख मे विघ्न डाल रही हो; अपितु अन्य अभिसारिकाओ के कार्य मे भी विघ्न डाल रही हो। इस प्रकार यह सखी का नायिका के प्रति चाटुविशेष व्यङ्ग्य है। 'मत जाओ' इस वाच्य अर्थ के निषेधरूप होने पर भी यह व्यङ्ग्य अर्थ न तो निषेधरूप है और न विधिरूप।

(३) आचार्य अभिनवगुप्त ने इस गाथा की ऊपर कही गई दोनो व्याख्यायें प्रस्तुत की है। परन्तु वे इनको ध्वनि का उचित उदाहरण नही मानते। उनका कथन है—

"अत्र तु व्याख्यानद्वयेऽपि व्यवसितात् प्रतीपगमनात् प्रियतमगृहगमनाच्च निवर्तस्वेति पुनरपि वाच्य एव विश्रान्तेर्गुणीभूतव्यङ्ग्यभेदस्य प्रेयोरसवदलकारयोदाहरणमिद स्यात् न ध्वने ।"

भाव यह है कि पहली व्याख्या मे नायकगत चाटु अभिप्राय और दूसरी व्याख्या मे सखीगत चाटु अभिप्राय व्यङ्ग्य है। परन्तु पहली व्याख्या मे पुन प्रियतम के घर के प्रति गमन करना और दूसरी व्याख्या मे प्रियतम के घर जाने से लौट आना। इन वाच्य अर्थों म ही व्यङ्ग्य अर्थ विश्रान्त हो जाता है। अर्थात् व्यङ्ग्य अर्थ की अपेक्षा वाच्य अर्थ अधिक मनोग्राही होने से यह उदाहरण गुणीभूतव्यङ्ग्य के प्रेयोऽलङ्कार का तथा रसवदलकार का उदाहरण हो सकता है। इस अवस्था मे यह ध्वनि का उदाहरण नही होगा। इसलिये इस गाथा की व्याख्या इस प्रकार करनी चाहिये—

कोई नायिका अपने प्रियतम के घर की ओर तेजी से जा रही है। उसी समय नायक भी अपनी प्रियतमा के घर की ओर आ रहा है। वह नायिका को न पहचानने के बहाने से उसकी इस प्रकार से प्रशसा करता है और अपनी पहचान कराने के लिये 'हताशे' पद का प्रयोग करता है। वह कहता है कि जब तुम दूसरी अभिसारिकाओ के लिये विघ्न उत्पन्न कर रही हो, तो तुम्हारी आशा कैसे पूरी होगी। इसलिये तुम लौट चलो (मत जाओ)। यहाँ लौट चलने से अभिप्राय है कि या तो तुम मेरे घर चलो या हम दोनो तुम्हारे घर चलें। यहाँ यही अर्थ व्यङ्ग्य है। यह न तो विधिरूप है और न निषेधरूप। इस प्रकार वाच्य अर्थ प्रतिषेधरूप है और प्रतीयमान अर्थ अनुभयरूप है, अत दोनो अत्यन्त भिन्न हैं।

हिन्दी अर्थ—कहीं पर व्यङ्ग्य अर्थ वाच्य अर्थ से भिन्न विषय में व्यवस्थित हो सकता है। जैसे—

अथवा प्रिया के व्रण से युक्त अधर को देखकर किसको क्रोध उत्पन्न नहीं होता। अरी भ्रमर से युक्त कमल को सूंघने वाली और रोकने पर भी विपरीत आचरण करने वाली अब तू इसको सहन कर।

पिछले चारो उदाहरणो मे वाच्य और प्रतीयमान अर्थ दोनों ही एक विषय मे, श्रोता से सम्बन्ध रखने हैं जो कि क्रमश धार्मिक, पथिक, प्रियतम और अभिसारिका

के लिये हैं। इस प्रकार इन चारों उदाहरणों में ध्वनिकार ने विषय का ऐक्य होते हुये भी स्वरूप के भेद से वाच्य और प्रतीयमान अर्थ की भिन्नता प्रदर्शित की है। अब इस उदाहरण में उन्होंने यह दिखाया है कि विषय के भेद से भी वाच्य और प्रतीयमान अर्थ में भिन्नता हो सकती है। अर्थात् वाच्य अर्थ किसी एक व्यक्ति के प्रति है और प्रतीयमान अर्थ किसी अन्य व्यक्ति के लिये हैं। अत वाच्य और व्यङ्ग्य दोनों भिन्न हैं।

एक दुराचारिणी नायिका किसी परपुरुष से रति करके आई है तथा इस कारण उसके अधर में व्रण हो गया है। जब उसका पति यह देखेगा तो वह समझ जायेगा कि इसने दुराचरण किया है और वह अप्रसन्न होगा। नायिका की सखी उसके पति को वहीं समीप जानकर यह वाक्य उस दुराचारिणी से इस प्रकार कहती है कि उसका पति भी इसे सुन ले। इससे वह यह समझेगा कि मेरी पत्नी का अधर भ्रमर से दष्ट है किसी परपुरुष से नहीं और वह उसके प्रति रुष्ट नहीं होगा।

इस उदाहरण में वाच्य अर्थ दुराचारिणी नायिका के प्रति है कि मैंने इस प्रकार की धृष्टता करने के प्रति तुमको अनेक बार रोका, परन्तु तुम नहीं मानी। अब अपनी धृष्टता का फल भोगो। परन्तु प्रतीयमान अर्थ का विषय नायिका का पति है जिसके प्रति वह इस व्यङ्ग्य अर्थ को बोधित कराती है कि तुम्हारी पत्नी का अधर भ्रमर के द्वारा दष्ट है, किसी परपुरुष द्वारा नहीं। अत तुम इसको निरपराध समझो। इस प्रकार वाच्य अर्थ का विषय नायिका और प्रतीयमान अर्थ का विषय उसका पति है, इसलिये ये दोनों अर्थ नितराम् भिन्न हैं।

इस उदाहरण में प्रतीयमान अर्थ के प्रतिवेशी, सपत्नी, स्वयं नायिका, नायिका का जार, तटस्थ विदग्ध जन आदि अनेक विषय हो सकते हैं। इनके प्रति व्यङ्ग्य अर्थ इस प्रकार होगा—

प्रतिवेशी के प्रति—सखी प्रतिवेशियों को यह जताना चाहती है कि यदि नायिका का पति नायिका को बहुत अधिक उलाहना दे तो भी इसका अपराध नहीं समझना चाहिये।

सपत्नी के प्रति—ईर्ष्या करने वाली सपत्नी को वह सखी यह जताना चाहती है कि इसका अधर प्रियतम ने नहीं काटा, अपितु भ्रमर ने काटा है, अत तुमको इसके सौभाग्य से ईर्ष्या नहीं करनी चाहिये। साथ में 'प्रियाया.' पद का प्रयोग करके उसने अपनी सखी के सौभाग्य अतिशय को सपत्नियों में प्रकाशित किया है।

स्वयं नायिका के प्रति—वह नायिका को यह जताती है कि आज तो इस प्रकार मैंने तुम्हारी रक्षा कर ली, परन्तु भविष्य में पुन ऐसा कार्य मत करना।

नायिका के जार के प्रति—वह नायिका के जार को यह जताती है कि आज तो तुम्हारी इस गुप्त कामिनी की मैंने रक्षा करली, परन्तु भविष्य में तुम कभी इसके अधर को स्पष्ट रूप से मत काट लेना।

तटस्थ विदग्ध जन के प्रति—तटस्थ विदग्ध जनों को वह अपनी चतुराई प्रदर्शित करती है कि मैंने किस प्रकार झूठ बोलकर अपनी सखी की रक्षा करली है।

इस प्रकार प्रतीयमान अर्थ के अन्य अनेक विषय और भी हो सकते हैं। इसलिये विषयभेद से भी प्रतीयमान अर्थ वाच्य अर्थ से भिन्न है।

अन्ये चैवं प्रकाराः वाच्याद्विभेदिनः प्रतीयमानभेदाः सम्भवन्ति। तेषां दिङ्मात्रमेतत्प्रदर्शितम्।

हिन्दी अर्थ—इस प्रकार के प्रतीयमान अर्थ के और भी अनेक भेद वाच्य अर्थ से भिन्न हो सकते हैं। यहाँ उनका यह दिग्दर्शनमात्र किया है।

स्वरूप और विषय के भेद से प्रतीयमान अर्थ का वाच्य अर्थ से विभेद ध्वनिकार ने यहाँ प्रदर्शित किया है। तदनन्तर उन्होंने कहा है कि इस प्रकार के प्रतीयमान अर्थ के अनेक भेद वाच्य अर्थ से भिन्न हो सकते हैं। उत्तरवर्ती आचार्यों ने इस भिन्नता के अनेक हेतुओं का परिगणन किया है। आचार्य विश्वनाथ के अनुसार यह भिन्नता निम्न हेतुओं से हो सकती है—

बोद्धृस्वरूपसंख्यानिमित्तकार्यप्रतीतिकालानाम्।
आश्रयविषयादीनां भेदाद् भिन्नोऽभिधेयतो व्यङ्ग्यः ॥ साहित्यदर्पण ५ २ ॥

बोद्धृ, स्वरूप, संख्या, निमित्त, कार्य, प्रतीति, काल, आश्रय, विषय आदि के भेद से व्यङ्ग्य अर्थ अभिधेय अर्थ से भिन्न होता है।

इस प्रकरण में इन हेतुओं का संक्षेप से स्पष्टीकरण उपयोगी होगा—

(१) बोद्धृरूप—वाच्यार्थ को जानने वाले व्यक्तियों से व्यङ्ग्य अर्थ को जानने वाले व्यक्ति भिन्न ही होते हैं। वाच्य अर्थ को जानने की निपुणता पद और उसके अर्थ को जानने वाले वैयाकरणों में होती है, परन्तु व्यङ्ग्य अर्थ का बोध काव्य-भावना में निपुण सहृदयों को ही होता है। जैसे कि ध्वनिकार ने एक कारिका में कहा है—

शब्दार्थशासनज्ञानमात्रेणैव न वेद्यते।
वेद्यते स तु काव्यार्थतत्त्वज्ञैरेव केवलम् ॥१ ७॥

(२) स्वरूप भेद—प्रतीयमान और वाच्य अर्थ के स्वरूप से भेद के उदाहरण ध्वनिकार ने अनेक दिये हैं। कहीं वाच्य अर्थ के विधिरूप होने पर प्रतीयमान अर्थ निषेधरूप होता है, कहीं वाच्य अर्थ के निषेध रूप होने पर प्रतीयमान अर्थ विधिरूप होता है, कहीं वाच्य अर्थ के विधिरूप होने पर प्रतीयमान अर्थ अनुभय रूप होता है और कहीं वाच्य अर्थ के निषेधरूप होने पर प्रतीयमान अर्थ अनुभय रूप होता है।

(३) संख्या भेद—एक वाक्य का वाच्य अर्थ एक ही होता है, जबकि प्रतीयमान अर्थ अनेक प्रकार का हो सकता है। 'गतोऽस्तमर्कः' वाक्य का वाच्य अर्थ एक ही है—सूर्य अस्त हो गया है, परन्तु इसका प्रतीयमान अर्थ विभिन्न श्रोताओं के लिये विभिन्न प्रकार का है। जैसे, दुकानदारों के लिये—विक्रेय वस्तुओं को समेट लो, अभिसारिका के लिये—प्रिय मिलन का समय आ गया है, श्रमिक के लिये-कार्य करने का समय पूरा हो गया है, धार्मिक के लिये—सन्ध्यावन्दन का समय उपस्थित हो गया है, ग्वाले के लिये—गौओं को घर लौटा ले चलो, धूप से पीड़ित के लिये—अब सताप नहीं रहेगा, प्रोषित पतिका के लिये—तुम्हारा प्रियतम आज भी नहीं आया, इस प्रकार यह व्यङ्ग्य अर्थ अनेक प्रकार का है।

(४) निमित्त भेद—वाच्य अर्थ का बोध शब्द के उच्चारणमात्र से होता है, परन्तु व्यङ्ग्य अर्थ का बोध सहृदयों की निर्मल प्रतिभा के द्वारा होता है। इस सम्बन्ध में ध्वनिकार स्वयं कहते हैं—

तद्वत् सचेतसां सोऽर्थो वाच्यार्थविमुखात्मनाम्।
बुद्धौ तत्त्वार्थदर्शिन्यां झटित्येवावभासते ॥१ १२॥

मम्मट ने भी कहा है—

शब्दानुशासनज्ञानेन प्रकरणादिसहायप्रतिभानैर्मल्यसहितेन तेन चावगम इति निमित्तस्य। काव्यप्रकाश पञ्चम उल्लास।

(५) कार्यभेद—वाच्य अर्थ का कार्य केवल अर्थ की प्रतीति करना है परन्तु व्यङ्ग्य अर्थ का कार्य चमत्कार को उत्पन्न करना है।

(६) प्रतीति भेद—वाच्य अर्थ की प्रतीति केवल शब्दबोधरूप है परन्तु व्यङ्ग्य अर्थ की प्रतीति चमत्कृतिमय होती है।

(७) काल भेद—वाच्य अर्थ का बोध पहले होता है और व्यङ्ग्य अर्थ की प्रतीति सदा उसके बाद होती है।

(८) आश्रय भेद—वाच्य अर्थ का आश्रय केवल शब्द ही है परन्तु व्यङ्ग्य अर्थ का आश्रय शब्द शब्द का एक भाग (प्रकृति प्रत्यय) शब्द का अर्थ वर्ण और संघटना हैं। इसी को मम्मट ने इस प्रकार कहा है—

शब्दाश्रयत्वेन शब्दतदेकदेशतदर्थवर्णसंघटनाश्रयत्वेन च आश्रयस्य।' काव्य प्रकाश, पञ्चम उल्लास।

(९) विषय भेद—वाच्य अर्थ का विषय सम्मुख उपस्थित श्रोता होता है, जबकि व्यङ्ग्य अर्थ अप्रत्यक्ष श्रोताओं के प्रति है। जैसा कि ध्वनिकार ने 'कस्स वा ण होइ रोसो' उदाहरण में स्पष्ट किया है कि वाच्य अर्थ का विषय नायिका है परन्तु व्यङ्ग्य अर्थ के विषय उस नायिका का पति सपत्नी गुप्त प्रणयी आदि अनेक हैं।

इस प्रकार वाच्य अर्थ से प्रतीयमान अर्थ की भिन्नता अनेक हेतुओं से स्पष्ट होती है।

प्रतीयमान अर्थ की वाच्य अर्थ से भिन्नता प्रदर्शित करते हुये अभिनवगुप्त ने तथा उत्तरवर्ती अनेक आचार्यों ने उन अनेक मतों का खण्डन किया है जो प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति अन्य किसी शब्दशक्ति से या अनुमान प्रमाण आदि से करते हैं। ध्वनिकार के कथन को तथा उनके द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों को समझने के लिये यह आवश्यक है कि व्यञ्जना का खण्डन करने वाले इन मतों को संक्षेप से समझकर उनकी विवेचना की जाय।

काव्यशास्त्र के आचार्यों ने तीन शब्दशक्तियाँ स्वीकार की हैं—अभिधा लक्षणा और व्यञ्जना। कुछ आचार्य तात्पर्या शक्ति (वृत्ति) का भी प्रतिपादन करते हैं। अनेक आचार्यों का कथन है कि 'व्यञ्जना' शक्ति को मानने की कोई आवश्यकता नहीं है,

क्योंकि ध्वनिवादियो के प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति अभिधा से, लक्षणा से, तात्पर्या से या अनुमान से हो सकती है। यहाँ कुछ विवादास्पद मतो को प्रस्तुत करके उनका समाधान किया जा रहा है—

(१) अभिधा से प्रतीयमान अर्थ के बोध का निवारण—

कुछ आचार्यों का कथन है कि 'भ्रम धार्मिक विसब्ध मे ध्वनिवादियों के प्रतीयमान अर्थ का बोध अभिधा से ही हो जाता है, अत पृथक् रूप से व्यञ्जना वृत्ति तथा व्यङ्ग्य अर्थ को मानने की आवश्यकता नही है।

'भ्रम धार्मिक विसब्ध' मे वाच्य अर्थ विधिरूप है और प्रतीयमान अर्थ निषेधरूप है। यदि दोनों ही अर्थों का अभिधा वृत्ति से निष्पन्न मानें, तो यह दो प्रकार से हो सकता है। या तो ये दोना अर्थ अभिधावृत्ति से एक साथ बोधित होते हैं, अथवा अभिधा वृत्ति से पहले विधिरूप अर्थ निष्पन्न होता है और तदनन्तरनिषेधरूप अर्थ का बोध होता है। इनमे पहली अवस्था इसलिये नही हो सकती, क्योंकि ये दोनो अर्थ परस्परविरोधी हैं तथा परस्परविरोधी अर्थ एक साथ एक वृत्ति से बोधित नही हो सकते। दूसरी अवस्था भी नही हो सकती। सिद्धान्त है—'शब्दकर्मणां विरम्य व्यापाराभाव'। शब्द के कार्यो का विराम हो जाने पर फिर उनका व्यापार नही होता। एक वाच्य अर्थ को बोधित करके अभिधा का विराम हो जाता है, तथा उसके पश्चात दूसरे अर्थ को बताने के लिये उसका व्यापार नही होगा। दूसरा सिद्धान्त यह है कि "विशेष्य नाभिधा गच्छेत् क्षीणशक्तिर्विशेषणे"। विशेषण का बोध कराने के अनन्तर अभिधा की शक्ति क्षीण हो जाती है और वह विशेष्य का बोध नही करा सकती। प्रस्तुत वाक्य म विधिरूप अर्थ विशेषण एव निषेधरूप अर्थ विशेष्य है। वाच्यार्थ विधिरूप अर्थ का बोध कराने के अनन्तर प्रतीयमान निषेध रूप अर्थ का बोध कराने की सामर्थ्य अभिधा मे नही है। अत प्रतीयमान अर्थ के बोध के लिये अन्य वृत्ति व्यञ्जना को मानना होगा।

अभिधा सदा सकेतित अर्थ का ही बोध कराती है। प्रस्तुत वाक्य मे विधिरूप अर्थ ही सकेतित अर्थ है, निषेधरूप अर्थ नही। अत निषेध रूप अर्थ की प्रतीति के लिये व्यञ्जना को स्वीकार करना ही होगा।

(२) अभिहितान्वयवादियों के मत का निवारण—कुमारिल भट्ट के अनुयायी अभिहितान्वयवादी मीमासकों का कथन है कि वाक्य का अर्थ करने के लिये तात्पर्या वृत्ति की आवश्यकता है। उनका मत है कि आकाक्षा, योग्यता और सन्निधि से युक्त पदो का समूह वाक्य कहलाता है। (आकाक्षायोग्यतासन्निधिमतां पदानां समूह वाक्यम्)। किसी वाक्य का उच्चारण करने पर उस वाक्य के पदो का वाच्यार्थ अभिधा शक्ति से विदित होता है। जैसे—"गौ गच्छति" वाक्य म 'गौ' का अर्थ 'प्राणिविशेष' और 'गच्छति' का अर्थ 'वतमानकालीन गमन क्रिया' है। इनका बोध अभिधा वृत्ति से होता है। परन्तु ये दोनो पद क्योंकि आकाक्षा योग्यता और सन्निधि से युक्त होने के

कारण वाक्य की रचना करते है, अत ये परस्पर अन्वित हैं। अर्थात् 'गौ' यह कर्ता 'गमनक्रिया से अन्वित है 'गमनक्रिया 'गौ' से अन्वित है। इनका परस्पर अन्वित होना ही वाक्य का अर्थ है, जो कि अभिधा वृत्ति से विदित नही होता। इस अर्थ का बोध कराने के लिये तात्पर्या वृत्ति को स्वीकार करना चाहिये। ये मीमासक अभिहितान्वयवादी कहलाते हैं। (अभिहितानाम् अभिधया प्रतिपादितानाम् अर्थाना पश्चात् अन्वय ये वदन्ति ते अभिहितान्वयवादिन)

अभिहितान्वयवादियो का कथन है कि ध्वनिवादियो के प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति अभिधा से ही हो जाती है उसके लिये व्यञ्जना को मानना आवश्यक नही है।

इस सम्बन्ध मे व्यञ्जनावादियो का कथन है कि जो अभिहितान्वयवादी वाक्य के सामान्यभूत पदो के अर्थों के अन्वय (विशिष्टता) को भी अभिधा से प्रतिपादित नही कर सकते, वे अतिविशेषभूत प्रतीयमान अर्थ को अभिधा से प्रतिपादित कर सकें, यह क्षमता उनम कहाँ से हो सकती है। अत प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति अभिधा से नही हो सकती।

(३) **अन्विताभिधानवादियो के मत का निवारण**—प्रभाकर भट्ट के अनुयायी-मीमासक अन्विताभिधानवादी कहलाते हैं। प्रभाकर भट्ट कुमारिल भट्ट के शिष्य थे, परन्तु विद्वता म वे अपने गुरु को भी अतिशयित कर गये थे। उनका मत 'गुरुमत' के नाम से प्रसिद्ध है। कुमारिल भट्ट ने जिन सिद्धान्तो को प्रतिपादित किया था, प्रभाकर भट्ट ने उनका खण्डन किया। कुमारिल भट्ट के अनुसार वाक्य का अर्थ तात्पर्या वृत्ति से होता है, परन्तु प्रभाकर भट्ट न इसका खण्डन किया और कहा कि वाक्य के अर्थ को बोधित करने के लिये तात्पर्या वृत्ति की आवश्यकता नही है, अभिधा वृत्ति से ही यह कार्य निष्पन्न हो सकता है। इनको अन्विताभिधानवादी कहा जाता है (अन्वित अर्थं अभिधया एव निष्पद्यते इति ये वदन्ति ते अन्विताभिधानवादिन)।

अन्विताभिधानवादिया के अनुसार बालक अपने अनुभव से अखण्ड वाक्य के अखण्ड अर्थ का बोध करता है। अर्थात् वह विशेषान्वित पद के अर्थ का बोध करता है। तदनन्तर वह अपने अनुभव से भिन्न भिन्न पदो के भिन्न भिन्न अर्थों का बोध करता है और वाक्य म सामान्यान्वित पदो के अर्थों का ज्ञान प्राप्त करता है। ये पदो के अर्थ सामान्य से अवच्छादित होते हैं और इस सामान्यान्वित अर्थ का पर्यवसान अन्वित विशेष मे होता है। इस प्रकार अन्विताभिधानवादियो के मत में अन्वितविशेष तक ही अभिधा की गति रहती है। व्यङ्ग्य अर्थ, जो अनतिविशेषरूप है, उसका बोध अभिधा द्वारा नहीं हो सकता। उसके लिये व्यञ्जना वृत्ति को स्वीकार करना होगा।

(३) नैमित्तिकवादी मीमांसकों के मत का निवारण—वृद्ध मीमासका का मत है कि व्यङ्ग्य अर्थ की प्रतीति नैमित्तिक है अर्थात् यह प्रतीति किसी निमित्त से होती है। इस प्रतीति का निमित्त शब्द को ही मानना चाहिये, क्योंकि शब्द के श्रवण के

अनन्तर ही उस अर्थ की प्रतीति होती है। शब्द की निमित्तता किसी वृत्ति द्वारा ही होगी और वह वृत्ति अभिधा ही हो सकती है। अत प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति अभिधा द्वारा हो सकती है। उसके लिये पृथक् व्यञ्जना वृत्ति मानने की आवश्यकता नही है, क्योकि कहा गया है—'नैमित्तिकानुसारेण निमित्तानि कल्प्यन्ते"। नैमित्तिक (कार्य = प्रतीयमान अर्थ) के अनुसार निमित्त (कारण = शब्द) की कल्पना की जाती है।

व्यञ्जनावादियो के अनुसार मीमासको की यह युक्ति तर्कसगत नही है। निमित्त दो प्रकार का होता है—कारक और ज्ञापक। शब्द क्योकि अर्थ का प्रकाशक है, अत कारक नहीं हो सकता। अर्थ का ज्ञापक (प्रकाशक) भी वह तभी होता है, जब कि वहाँ साक्षात् सकेत होता है। प्रतीयमान अर्थ मे शब्द सकेतित नही होता, अत उससे प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति अभिधा द्वारा नही हो सकती।

(४) **भट्ट लोल्लट के मत का निवारण**—भट्ट लोल्लट ने प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति अभिधा द्वारा सिद्ध की थी। 'ध्वन्यालोक' की लोचन टीका मे तथा 'काव्य-प्रकाश' मे इनके मत का खण्डन किया गया है। इन्होने प्रतीयमान अर्थ को अभिधेय सिद्ध करने के लिये दो युक्तियाँ दी हैं—"यत्पर शब्द स शब्दार्थ" और "सोऽयमिषोरिव दीर्घदीर्घतरो अभिधाव्यापार"। अभिनवगुप्त ने इनके मत को "योऽप्यन्विताभिधान-वादी 'यत्पर शब्द स शब्दार्थ' इति हृदये गृहीत्वा शरवदभिधाव्यापारमेव दीर्घदीर्घ-मिच्छति" लिखकर अन्विताभिधानवादी बताया है। परन्तु 'काव्य प्रकाश के टीका-कारो ने 'भट्टमतोपजीविना लोल्लटप्रभृतीना मते' लिखकर इनको अभिहितान्वयवादी कहा है। इस सम्बन्ध मे दूसरा मत ही अधिक ग्राह्य प्रतीत होता है। भट्टलोल्लट की पहली युक्ति 'यत्पर शब्द स शब्दार्थ' है, जिससे सूचित होता है कि वे तात्पर्या शक्ति को मानते थे। तात्पर्या शक्ति को अभिहितान्वयवादियो ने ही स्वीकार किया है, अत उनको अभिहितान्वयवादी मान लने मे आपत्ति नही होनी चाहिये।

प्रतीयमान अर्थ को अभिधेय सिद्ध करने के लिये ऊपर जो दो युक्तियाँ—"यत्पर शब्द स शब्दार्थ" तथा "सोऽयमिषोरिव दीर्घदीर्घतरो अभिधा व्यापार" दी गई हैं, इनका अलग अलग विवेचन करना उपयोगी होगा।

(क) पहली युक्ति है—"यत्पर शब्द स शब्दार्थ।' जिस तात्पर्य से शब्द का प्रयोग किया जाता है, वह ही उस शब्द का अर्थ होता है। यदि किसी वाक्य मे व्यङ्ग्य अर्थ की प्रतीति के लिये शब्दो का प्रयोग है, तो वह व्यङ्ग्य अर्थ ही उन शब्दो का अर्थ होगा। इस कारण व्यङ्ग्य अर्थ को अभिधेय मानना चाहिये।

आचार्य मम्मट का कथन है कि ये मीमासक तात्पर्या वृत्ति को तो मानते हैं, परन्तु इस कथन के तात्पर्य को नहीं जानते और मूर्ख हैं। इस युक्ति का प्रयोग उन्होने ठीक अर्थ मे नही किया। वस्तुत यह वाक्य यज्ञीय प्रसगो मे प्रयुक्त हुआ है। इस वाक्य का तात्पर्य यह है कि जब एक वाक्य मे कुछ सिद्ध (भूत, कारक) और

कुछ साध्य (भव्य क्रिया) पदों का उच्चारण होता है तो उनमें कारक पदार्थ क्रिया पदार्थ के साथ अन्वित होकर साध्य क्रिया को सिद्ध करते हैं। अर्थात् उस वाक्यों में साध्य क्रिया पदार्थ ही विधेय होता है। सिद्ध कारक पदार्थ तो पहले ही सिद्ध हो चुका है। इसका अभिप्राय यह है कि किसी भी वाक्य के उच्चारण में जो वस्तु साध्य है या अप्राप्त है उसी को सिद्ध करने या प्राप्त करने के तात्पर्य से वह वाक्य प्रयुक्त होता है। उदाहरण के लिये—'अग्निहोमं जुहुयात् स्वर्गकामः' वाक्य का तात्पर्य होम का विधान करना है। यदि यह होमक्रिया प्रमाणान्तर से प्राप्त है अर्थात् सिद्ध है तो उसके लिये यह वाक्य नहीं होगा। जैसे—'दध्ना जुहोति' वाक्य में होम क्रिया के प्रमाणान्तर से प्राप्त होने के कारण दधि का केवल करणत्वमात्र विवक्षित है। 'सोमेन यजेत' वाक्य में सोम का करणत्व और होमक्रिया दोनों के अप्राप्त होने से दोनों ही विवक्षित हैं। इसीलिये कहा गया है—'भूतभव्यसमुच्चारणे भूतं भव्यायोपदिश्यते'। जहाँ भूत (सिद्ध) और भव्य (साध्य) दोनों का उच्चारण किया जाता है, वहाँ भूत पदार्थ भव्य क्रिया का अङ्ग हो जाता है। इस प्रकार 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' का अभिप्राय यह है कि वाक्य में जिस क्रिया के साधन के लिये शब्द का प्रयोग होता है उसी को सम्पन्न करने के लिये शब्द का अर्थ ग्रहण करना चाहिये। इन मीमांसकों ने इस पंक्ति का तात्पर्य ठीक से नहीं समझा और इसके द्वारा व्यञ्जना वृत्ति का विरोध करने लगे जो कि उचित नहीं है। इसलिये प्रतीयमान अर्थ वाच्य अर्थ से भिन्न है तथा वह व्यञ्जना वृत्ति से बोधित होता है।

(ख) भट्ट लोल्लट की दूसरी युक्ति है— 'सोऽयमिषोरिव दीर्घदीर्घतरोऽभिधा-व्यापारः'। यह अभिधा का व्यापार बाण के समान लम्बा और लम्बा होता है। इसका अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार कि शक्तिशाली धनुर्धर द्वारा फेंका गया एक ही बाण शत्रु के कवच को काट देता है उसके मर्म को भेद देता है और प्राणों का हरण कर लेता है इसी प्रकार सुकवि द्वारा प्रयुक्त एक ही शब्द अभिधा नामक व्यापार से वाच्य अर्थ का बोध कराता है, पदार्थों का अन्वय कराता है और व्यङ्ग्य अर्थ की प्रतीति कराता है। अतः प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति अभिधा द्वारा हो जाने से इसको वाच्य ही समझना चाहिये।

ध्वनिवादियों के अनुसार भट्ट लोल्लट की यह युक्ति तर्क की कसौटी पर ठीक नहीं उतरती। इसके खण्डन के लिये ध्वनिवादियों ने निम्न तर्क प्रस्तुत किये हैं—

(१) भट्ट लोल्लट का यह अभिधा का व्यापार, जो बहुत दीर्घ है क्या एक ही है? यदि वह एक ही है तो भिन्न प्रकृति वाले वाच्य और प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति उससे किस प्रकार हो सकती है? क्योंकि वाच्य और प्रतीयमान अर्थ परस्पर विरोधी या भिन्न विषय वाले हो सकते हैं। यदि उस व्यापार को एक न मानकर अनेक माना जाय तो इसमें व्यञ्जनावादियों का ही पक्ष सिद्ध होगा क्योंकि वे शब्दवृत्तियों की अनेकता को स्वीकार करते हैं।

(ii) अभिहितान्वयवादी वाक्यार्थ बोध के लिये तात्पर्या वृत्ति को स्वीकार करते हैं। यदि अभिधा के दीर्घदीर्घतर व्यापार से प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति हो सकती है तो इससे वाक्यार्थ की प्रतीति क्यों नहीं हो सकेगी, जो कि वाक्यार्थ व्यङ्ग्य अर्थ की अपेक्षा पदों के अर्थ के अधिक समीप है। इससे अभिहितान्वयवादियों का पक्ष ही अधिक दुर्बल होता है।

(iii) मीमांसक लक्षणा वृत्ति को स्वीकार करते हैं—

मानान्तरविरुद्धे तु मुख्यार्थस्य परिग्रहे ।
अभिधेयाविनाभूतप्रतीतिर्लक्षणोच्यते ॥
लक्ष्यमाणगुणैर्योगाद् वृत्तेरिष्टा तु गौणता ॥

यदि दीर्घदीर्घतर अभिधा व्यापार के द्वारा प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति हो सकती है तो उसके द्वारा लक्ष्यार्थ का बोध भी हो सकता है। अतः मीमांसकों को लक्षणा वृत्ति मानने की भी क्या आवश्यकता है? इस प्रकार 'दीर्घदीर्घतर व्यापार' को स्वीकार करना स्वयं मीमांसकों के पक्ष को दुर्बल करता है।

(iv) यदि प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति दीर्घदीर्घतर अभिधा व्यापार के द्वारा होती है तो "ब्राह्मण पुत्रस्ते जातः", "ब्राह्मण कन्या ते गर्भिणी" आदि वाक्यों में हर्ष, शोक आदि वाच्य हो जावेंगे। इन वाक्यों से प्रतीत हर्ष, शोक आदि को मीमांसक भी वाच्य नहीं मानते। उनके अनुसार ये वाक्य हर्ष, शोक आदि भावों की उत्पत्ति के कारण हैं ज्ञापक नहीं हैं। इनका ज्ञान शब्द द्वारा न होकर मुख के विकारों से होता है। यदि शब्द के उच्चारण के पश्चात् प्रतीत होने वाले सभी अर्थ अभिधा व्यापार से उपस्थित माने जायेंगे तो इन हर्ष, शोक आदि को भी अभिधेय मानना होगा, जिसको कि मीमांसक स्वयं नहीं मानते।

(v) मीमांसा दर्शन का एक प्रमुख सिद्धान्त है—"श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थान-समाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यम् अर्थविप्रकर्षात्" (पूर्वमीमांसा ३ ३ १४)। मीमांसा दर्शन में चार प्रकार की विधि मानी गई हैं—उत्पत्ति विधि, विनियोग विधि, अधिकार विधि और प्रयोग विधि। इनमें विनियोग विधि के प्रसंग में यह सूत्र है। विनियोग का निर्णय करने के लिये श्रुति, लिङ्ग, वाक्य, प्रकरण, स्थान और समाख्या ये ६ प्रमाण दिये गये हैं। इन प्रमाणों में दो या अधिक का समवाय होने पर पूर्व प्रमाण की अपेक्षा पर प्रमाण दुर्बल होता है।

व्यञ्जनावादियों का तर्क है कि यदि भट्टलोल्लट के 'दीर्घदीर्घतर व्यापार' के सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया जावे तो श्रुति आदि प्रमाणों से जिन-जिन अर्थों की उपस्थिति को प्रमाणित करना है, वह व्यर्थ हो जायेगा। इन प्रमाणों में परस्पर दुर्बलता तथा बलवत्ता मानना व्यर्थ होगा, क्योंकि 'दीर्घदीर्घतर' व्यापार के सिद्धान्त से अभिधा द्वारा अभीष्ट अर्थ की सिद्धि स्वतः हो जावेगी। इस प्रकार भट्टलोल्लट का यह सिद्धान्त मीमांसा दर्शन की परम्परा को तथा जैमिनि ऋषि के वचन को भंग कर

देगा। यह बात स्वय उनको ही ग्राह्य नही होगी। अत 'दीर्घदीर्घतर व्यापार' के सिद्धान्त को मानना उचित नही है और प्रतीयमान अर्थ को वाच्य अर्थ से भिन्न व्यञ्जनावृत्ति से प्रतिपाद्य मानना चाहिये।

(५) लक्षणावादियो का निराकरण—प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति लक्षणा से या विपरीतलक्षणा से हो जाती है, ऐसा अनेक आचार्यों का मत है। आचार्य मम्मट ने लक्षणावादियो के इन तर्कों को प्रबलता से खण्डित किया है।

लक्षणा के सम्बन्ध मे मम्मट का कहना है—

मुख्यार्थबाधे तद्योगे रूढितोऽथप्रयोजनात्।
अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत्सालक्षणारोपिता क्रिया॥

काव्यप्रकाश २ ६॥

जहा मुख्य वाच्य अर्थ बाधित हो, परन्तु लक्ष्य अर्थ का मुख्य अर्थ से सम्बन्ध हो और रूढि या प्रयोजन हो, वहा लक्षणा द्वारा अन्य अर्थ लक्षित होता है। आचार्य मम्मट का कथन है कि लक्षणा द्वारा लक्ष्य अर्थ के लक्षित होने के अनन्तर जो प्रयोजन या फल की प्रतीति होती है, वह व्यञ्जना द्वारा ही होती है। वह प्रयोजन या फल रूप अर्थ व्यङ्ग्य है, वाच्य या लक्ष्य नही है। लक्षणावादी आचार्य प्रयोजन या फल को लक्षणाप्रतिपाद्य सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं। परन्तु मम्मट इसको स्वीकार नही करते। इस सम्बन्ध मे अभिनवगुप्त आदि प्राचीन आचार्यों ने तथा मम्मट ने जो युक्तियाँ उपस्थित की, उनको मम्मट ने काव्यप्रकाश की निम्न कारिकाओ मे सग्रहीत कर दिया—

यस्य प्रतीतिमाधातु लक्षणा समुपास्यते॥१४॥
फले शब्दैकगम्येऽत्र व्यञ्जनान्ना परा क्रिया
नाभिधा समयाभावात् हेत्वभावान्न लक्षणा॥१५॥
लक्ष्य न मुख्य नाप्यत्र बाधो योग फलेन नो
न प्रयोजनमेतस्मिन् न च शब्द स्खलद्गति॥१६॥
एवमप्यनवस्था स्याद् या मूलक्षयकारिणी
प्रयोजनेन सहित लक्षणीय न युज्यते॥१७॥
ज्ञानस्य विषयो ह्यन्य फलमन्यदुदाहृतम्॥१८॥

काव्यप्रकाश २-१४-१८॥

'गगाया घोष' आदि वाक्यो मे शीतलत्व, पावनत्व आदि प्रयोजन की प्रतीति कराने के लिये लक्षणा का उपयोग किया जाता है। यहाँ उस प्रयोजन की प्रतीति शब्द से गम्य है और उसका बोध व्यञ्जना के अतिरिक्त अन्य किसी व्यापार से नही हो सकता।

प्रयोजन की प्रतीति अभिधा से नही हो सकती, क्योकि गगा आदि पद शीतलत्व आदि प्रयोजन के लिय सकेतित नही हैं। इनकी प्रतीति लक्षणा से भी नहीं हो सकती,

क्योकि लक्षणा के लिये मुख्यार्थ बाधा आदि तीन हेतु चाहिये। यदि शीतलत्व आदि को लक्ष्य अर्थ मानें तो तट को मुख्य अर्थ मानना होगा, जो कि मुख्य अर्थ नही है। यदि इसको मुख्य अर्थ मान भी ले तो इस अर्थ के करने मे बाधा नही होगी। शीतलत्व को लक्ष्य अर्थ मानने पर किसी अन्य प्रयोजन की कल्पना करनी पडेगी, जो कि सम्भव नही है। यदि किसी अन्य प्रयोजन की कल्पना कर भी ली जावे तो उसे लक्ष्य मानने के लिये किसी और प्रयोजन की कल्पना करनी पडेगी, जिससे अव्यवस्था उत्पन्न हो जावेगी। अत प्रयोजन की प्रतीति लक्षणा द्वारा नही हो सकती।

यदि यह कहा जावे कि प्रयोजन से विशिष्ट लक्ष्य अर्थ की प्रतीति लक्षणा द्वारा होती है, तो यह भी ठीक नही है। लक्ष्य अर्थ की प्रतीति प्रयोजन के साथ नही होती। जिस प्रकार ज्ञान का विषय ज्ञान के फल से भिन्न है, उसी प्रकार लक्ष्य अर्थ प्रयोजन से भिन्न है। अत प्रयोजन से विशिष्ट लक्ष्य अर्थ की प्रतीति लक्षणा द्वारा नही हो सकती।

दार्शनिको का यह सिद्धान्त है कि ज्ञान का विषय और फल अलग-अलग होते हैं। घट को देखने के अनन्तर 'अय घट' इस प्रकार वह घट ज्ञान का विषय होता है। तदनन्तर देखने वाले मे 'घटज्ञानवानहम्' इस प्रकार की अनुभूति या ज्ञातता उत्पन्न होती है। इसको नैयायिक अनुव्यवसाय कहते हैं। नैयायिको के अनुसार यह 'घट' 'ज्ञान' का विषय है और ज्ञान का फल आत्मा मे उत्पन्न 'ज्ञातता' नाम का धर्म है। 'ज्ञान' का विषय 'घट' और ज्ञान का फल 'ज्ञातता' दोनो पृथक् धर्म हैं तथा उनका ग्रहण एक काल म नही हो सकता। मीमासक इस फल को ज्ञातता न कहकर सवित्ति कहते हैं और यह घट रूप पदार्थ मे रहती है। परन्तु दोनो ही ज्ञातता या सवित्ति को ज्ञान का फल तथा घट को ज्ञान का विषय मानते है और ज्ञान के विषय एव ज्ञान के फल को पृथक् स्वीकार करते हैं।

मम्मट का कथन है कि जिस प्रकार ज्ञान का विषय और ज्ञान का फल पृथक्-पृथक् धर्म हैं, उसी प्रकार लक्षणा का विषय लक्ष्य अर्थ और फल प्रयोजन हैं। ये दोनो अलग हैं। प्रयोजन से विशिष्ट लक्ष्य अर्थ की प्रतीति लक्षणा द्वारा नही हो सकती। प्रयोजन की प्रतीति के लिये व्यञ्जना स्वीकार ही करनी होगी। इस प्रकार प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति लक्षणा द्वारा नहीं हो सकती और लक्ष्य तथा प्रतीयमान अर्थ भिन्न होंगे।

आचार्य मम्मट ने लक्ष्य और प्रतीयमान अर्थ मे और भी भेद प्रस्तुत किये हैं—

(1) लक्ष्य अर्थ नियत सम्बन्ध होता है। अर्थात् वाच्य अर्थ से सम्बद्ध अर्थ ही लक्ष्य अर्थ हो सकता है। परन्तु प्रतीयमान अर्थ इससे भिन्न है। प्रकरण आदि के द्वारा कही तो वह वाच्य अर्थ से नियत सम्बन्ध वाला, कही अनियत सम्बन्ध वाला और कही सम्बद्ध सम्बन्ध वाला होता है।

(11) लक्षणा का प्रयोग सदा व्यङ्ग्य अर्थ की प्रतीति के लिये किया जाता है।

अर्थात् जहां लक्ष्य होगा, वहां व्यङ्ग्य अर्थ अवश्य होगा। परन्तु व्यङ्ग्य अर्थ लक्षणा के बिना भी हो सकता है। अभिधामूल ध्वनि में लक्ष्य अर्थ नहीं होता।

(iii) लक्षणा के लिये मुख्यार्थबाधा, मुख्यार्थयोग और रूढि या प्रयोजन इन तीनों हेतुओं का होना अनिवार्य है। परन्तु व्यञ्जना के लिये उसकी आवश्यकता नहीं है।

(iv) क्रम के अनुसार लक्ष्य अर्थ की प्रतीति पहले और व्यङ्ग्य अर्थ की प्रतीति बाद में होती है।

(v) लक्ष्य अर्थ की प्रतीति वाचक शब्द से वाच्य अर्थ की प्रतीति के अनन्तर होती है। परन्तु व्यङ्ग्य अर्थ की प्रतीति अवाचक वर्णों से और अशब्दात्मक शरीर व्यापारों से भी हो सकती है।

इन कारणों से लक्ष्य और व्यङ्ग्य अर्थ को एक नहीं समझा जा सकता, वे भिन्न-भिन्न हैं।

(६) वैयाकरणों और वेदान्तियों के अखण्डार्थतावाद का निवारण—व्याकरण दर्शन में स्फोट रूप शब्द ब्रह्म का सिद्धान्त है, जिसके अनुसार वाक्य और वाक्यार्थ अखण्ड होते हैं। अखण्ड वाक्य से अखण्ड अर्थ का बोध होता है तथा अकेला शब्द अर्थरहित है। इसी प्रकार वेदान्ती भी अखण्ड वाक्य एवं उसके अखण्ड अर्थ का प्रतिपादन करते हैं। जैसे 'तत्त्वमसि' आदि अखण्ड वाक्य को वे अखण्ड ब्रह्म का द्योतक मानते हैं। उसके अनुसार अखण्ड वाक्य का अर्थ वाच्य होता है तथा वह वाक्य वाचक होता है। इसलिये सभी अर्थ वाच्य होंगे, प्रतीयमान अर्थ मानने की आवश्यकता नहीं है।

अभिनवगुप्त और मम्मट ने वैयाकरणों और वेदान्तियों के इस तर्क को स्वीकार तो कर लिया, परन्तु उनका कहना है कि जब ये सांसारिक व्यवहार की दशा में रहते हैं तो वे पद एवं पदार्थ की कल्पना करते ही हैं। जब यह पृथक् पृथक् पद और पदार्थ की कल्पना होगी, तो प्रतीयमान अर्थ को भी स्वीकार करना होगा। इसको अभिनवगुप्त ने इस प्रकार स्पष्ट किया है—

"येऽप्यविभक्तं स्फोटं वाक्यं तदर्थं चाहुः, तैरप्यविद्यापदपतितैः सर्वेयमनुसरणीया प्रक्रिया। तदुत्तीर्णत्वे तु सर्वं परमेश्वराद्वयं ब्रह्मेत्यस्मच्छास्त्रकारेण न विदितं तत्त्वालोकग्रन्थं विरचयतेत्यास्ताम्"।

जो विद्वान् वाक्य और वाक्यार्थ को अखण्ड स्फोट रूप कहते हैं, उनको भी सांसारिक व्यवहार की दशा में इस सब प्रक्रिया का अनुसरण करना ही होगा। सांसारिक अवस्था (अविद्या का व्यवहार) से ऊपर उठ जाने पर तो सब शुद्ध अद्वैत परमेश्वरमय ब्रह्म हो जाता है यह तथ्य 'तत्त्वालोक' नामक ग्रन्थ की रचना करने वाले हमारे शास्त्रकार आनन्दवर्धन को विदित न हो, ऐसा नहीं है। अतः संसार में रहते हुये पद एवं पदार्थ की कल्पना एवं प्रतीयमान अर्थ को स्वीकार करना ही होगा।

(७) अनुमानवादियों का खण्डन—महिमभट्ट ने ध्वनिवादियो के प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति को अनुमान द्वारा सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। उसके अनुसार व्यञ्जना वृत्ति को मानने की आवश्यकता नही है। सभी प्रकार के प्रतीयमान अर्थ—वस्तु, अलङ्कार और रस अनुमान से ही निष्पन्न हो सकते हैं। 'व्यक्तिविवेक' ग्रन्थ मे उन्होने इसका विशद विवेचन किया है। वे लिखते हैं—

अनुमानेऽन्तर्भाव सर्वस्यैव ध्वनेः प्रकाशयितुम्।
व्यक्तिविवेक कुरुते प्रणम्य महिमा परां वाचम्॥
याऽर्थान्तराभिव्यक्तौ व सामग्रीष्टा निबन्धनम्।
सैवानुमितिपक्षे नो गमकत्वेन सम्मता॥

याऽपि विभावादिभ्यो रसादीना प्रतीति सानुमान एवान्तर्भवितुमर्हति।
विभावानुभावव्यभिचारिप्रतीतिर्हिरसादिप्रतीते साधनमिष्यते॥

इस प्रकार महिमभट्ट सभी प्रकार की ध्वनि को अनुमान के द्वारा सिद्ध करते हैं। वे रसादि की प्रतीति मे विभाव आदि को हेतु मानते हैं। रस की सिद्धि के लिये उनका अनुमान वाक्य इस प्रकार होगा—

"राम सीताविषयकरतिमान् तत्र विलक्षणस्मितकटाक्षवत्त्वात्। यो नैव यथा लक्ष्मण.'।

परन्तु ध्वनिवादियो ने विभाव आदि को रस के हेतु रूप मे स्वीकार नही किया। उनके अनुसार रस तर्क का विषय नही है अपितु यह सहृदयो के हृदयो मे उद्भूत अपूर्व अलौकिक आनन्द का भाव है। यह सहृदयसवेद्य ही है तथा इसे अनुमान का विषय नही बनाया जा सकता।

आनन्दवर्धन के उदाहरण 'भ्रमधार्मिक विस्रब्ध' मे महिमभट्ट ने निषेधरूप प्रतीयमान अर्थ की सिद्धि अनुमान द्वारा की है। उत्तरवर्ती आचार्यों–मम्मट, विश्वनाथ आदि ने महिमभट्ट का प्रबल खण्डन किया है। इस स्थिति का सक्षिप्त निरूपण यहाँ किया जा रहा है—

महिमभट्ट का कथन है कि वाच्य अर्थ से असम्बन्ध व्यङ्ग्य अर्थ की प्रतीति नही होती, क्योंकि यदि ऐसा होने लगे तो किसी भी शब्द से किसी भी अर्थ की प्रतीति होने लगेगी। इस प्रकार व्यङ्ग्यव्यञ्जक भाव अनिबन्ध म (प्रतिबन्ध=व्याप्ति। अप्रतिबन्ध=जहाँ व्याप्ति नही है) निश्चित रूप से नही होता, नियत (विपक्ष मे न रहना) है और धर्मिनिष्ठ (पक्ष मे रहना) है। इस प्रकार तीन रूप वाले लिङ्ग से निर्मित जो अनुमान है, यह व्यङ्ग्यव्यञ्जभाव उस रूप म परिणत हो जाता है।

दार्शनिकों का अनुमान इस प्रकार है—पर्वत वह्निमान् धूमात्। यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्र वह्नि यथा महानसे। यत्र यत्र वह्न्यभाव तत्र तत्र धूमाभाव यथा जलाशये। पर्वते धूमस्य स्थिति अत म अग्निमान्। इस अनुमान वाक्य मे पर्वत पक्ष है, महानस सपक्ष है, जलाशय विपक्ष है, धूम लिङ्ग है और अग्नि

साध्य है। लिङ्ग के तीन रूप हैं—(१) वह सपक्ष मे नियत रूप से रहता है (व्याप्ति) (२) विपक्ष मे नही रहता और (३) पक्ष मे रहता है। अत उस धूम से पक्ष में साध्य वह्नि का अनुमान किया जाता है। इसी प्रकार व्यञ्जक रूप लिङ्ग से व्यङ्ग्य रूप अर्थ का काव्य मे अनुमान किया जाता है। व्यङ्ग्य अर्थों के स्थल मे व्यञ्जकरूप शब्द अवश्य रहता है (व्याप्ति, सपक्षसत्व), वाच्य आदि अर्थों मे व्यञ्जक शब्द नही रहता (नियतत्व, विपक्षासत्व) और जिज्ञासित व्यङ्ग्य स्थल मे व्यञ्जक विद्यमान है (धर्मिनिष्ठत्व, पक्षसत्व)। इस प्रकार तीन रूप वाले लिङ्ग व्यञ्जक शब्द से व्यङ्ग्य अर्थ का अनुमान होता है। अत व्यङ्ग्यव्यञ्जक भाव को अनुमा यनुमापक भाव समझना चाहिये।

'भ्रम धार्मिक' गाथा मे निषेधरूप अर्थ का अनुमान इस प्रकार होगा गोदावरीनीर भीरुभ्रमणायोग्य भयकारण सिंहोपलब्धे। यत्र यत्र भीरुभ्रमणायोग्यत्व तत्र तत्र भयकारणभाव, यथा वनम् (व्याप्ति, सपक्षसत्व)। यत्र यत्र भयकारणाभाव तत्र तत्र भीरुभ्रमणायोग्यत्वम्, यथा गृहम् (नियतत्व, विपक्षासत्व)। गोदावरीतीर भयकारण-सिंहोपलब्धियुक्तम्, अत भीरुभ्रमणायोग्यम।

अर्थात् यहाँ गोदावरीतीर पक्ष, वन सपक्ष, घर विपक्ष, भयकारणसिंहोपलब्धि लिङ्ग और भीरुभ्रमणायोग्यत्व साध्य है। भयकारणसिंहोपलब्धि लिङ्ग के तीन रूप है—वह सपक्ष वन मे नियत रूप से रहता है, (सपक्षसत्व), गृह मे नहीं रहता (विपक्षासत्व), गोदावरीतीर पर है (पक्षसत्व)। इस प्रकार इस तीन रूप वाले लिङ्ग से गोदावरीतीर पर इस भीरु धार्मिक के भ्रमण के निषेध का अनुमान हो जायगा। यह व्यञ्जना मानने की आवश्यकता नहीं है।

आचार्य मम्मट ने महिमभट्ट के अनुमान का खण्डन इस प्रकार किया है—

इस स्थल मे 'भयकारणसिंहोपलब्धि' को हेतु (लिङ्ग) माना गया है। हेतु अपने साध्य को तभी सिद्ध कर सकता है, जबकि वह दोषो से रहित है। दोषयुक्त होने पर वह हेतु न होकर हेत्वाभास होता है। महिमभट्ट द्वारा कथित हेतु मे तीन दोष हैं—अनैकान्तिकता, विरुद्धता और असिद्धता। भीरु व्यक्ति भी अपने गुरु या स्वामी के आदेश से, प्रिया के प्रति अनुराग से, अथवा अन्य किसी कारण से भय का कारण होने पर भी भ्रमण कर सकता है, अत यह हेतु अनैकान्तिक है। धार्मिक पुरुष यदि वीर है तो कुत्ते से डरते हुये भी सिंह से भयभीत नही हो सकता, अत यह हेतु विरुद्ध भी है। गोदावरीतीर पर सिंह की उपलब्धि भी किसी प्रत्यक्ष या अनुमान आदि प्रमाणो से निश्चित नही हुई है, अपितु एक पुश्चली के वचन से हुई है तथा उसका वचन प्रामाणिक नहीं है। इस प्रकार पक्ष मे हेतु का होना असिद्ध भी है। इस प्रकार हेतु मे अनैकान्तिकता, विरुद्धता और असिद्धता इन तीन दोषों के होने के कारण गोदावरीनीर पर उस धार्मिक के भ्रमण के निषेध का अनुमान नही किया जा सकता। यह अर्थ निश्चित रूप से व्यञ्जना द्वारा प्रतिपादित प्रतीयमान अर्थ होगा। अत प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति व्यञ्जना द्वारा ही होती है और वह वाच्य, लक्ष्य, तात्पर्य या अनुमाप्य नही हो सकता। इसको सक्षेप मे मम्मट ने इस प्रकार कहा है—

द्वितीयोऽपि प्रभेदो वाच्याद् विभिन्नः सप्रपञ्चमग्रे दर्शयिष्यते ।

तृतीयस्तु रसादिलक्षणः प्रभेदो वाच्यसामर्थ्याक्षिप्तः प्रकाशते, न तु साक्षाच्छब्दव्यापारविषय इति वाच्याद् एव । तथाहि, वाच्यत्वं तस्य स्वशब्दनिवेदितत्वेन वा स्यात्, विभावादिप्रतिपादनमुखेन वा । पूर्वस्मिन् पक्षे स्वशब्दनिवेदितत्वाभावे रसादीनामप्रतीतिप्रसङ्गः । न च सर्वत्र तेषां स्वशब्दनिवेदितत्वम् । यत्राप्यस्ति तत्, तत्रापि विशिष्ट विभावादिप्रतिपादनमुखेनैवैषां प्रतीति । स्वशब्देन सा केवलमनूद्यते, न तु तत्कृता विषयान्तरे तथा तस्या ग्रदर्शनात् । न हि केवलं शृङ्गारादिशब्दमात्रभाजि विभावादिप्रतिपादनरहिते काव्ये मनागपि रसवत्त्वप्रतीतिररित । यतश्च स्वाभिधानमन्तरेण केवलोभ्योऽपि विभावादिभ्यो विशिष्टेभ्यो रसादीनां प्रतीतिः । केवलाच्च स्वाभिधानादप्रतीति । तस्मादन्वय व्यतिरेकाभ्याम-भिधेयसामर्थ्याक्षिप्तत्वमेव रसादीनाम । न त्वभिधेयत्व कथञ्चित् । इति तृतीयोऽपि प्रभेदो वाच्याद् भिन्न एवेति स्थितम् । वाच्येन त्वस्य सहेव प्रतीतिरित्यग्रे दर्शयिष्यते ॥४॥

इति अभिधातात्पर्यलक्षणात्मकव्यापारभयातिवर्ती ध्वननादिपर्यायो व्यापारो-ऽनपलपनीय एव । काव्य प्रकाश पञ्चम उल्लास ।

हिन्दी अर्थ—ध्वनि का दूसरा भेद (अलङ्कारध्वनि) भी वाच्य अर्थ से भिन्न है, इसको विस्तार के साथ आगे (द्वितीय उद्योत मे) दिखायेंगे ।

अलङ्कार ध्वनि वाच्य अर्थ से भिन्न है, इस तथ्य को ध्वनिकार प्रतिपादित करना चाहते हैं । परन्तु जिस प्रकार वस्तुध्वनि को विधि, निषेध, एव विधिनिषेधानुभय रूप से यहाँ सक्षेप से कह दिया गया है, इस प्रकार अलङ्कारध्वनि को नही कहा जा सकता । वस्तुध्वनि की अपक्षा अलङ्कारध्वनि के भेद बहुत अधिक हैं, तथा वह अधिक जटिल है, इसलिये इसको विस्तार से कहना होगा । इसका विस्तृत वर्णन ध्वनिकार ने द्वितीय उद्योत म किया है ।

हिन्दी अर्थ—ध्वनि का तीसरा रसादि लक्षण रूप भेद वाच्य अर्थ के सामर्थ्य से आक्षिप्त होकर प्रकाशित होता है, यह साक्षात् शब्द के व्यापार (अभिधा) का विषय नहीं है । इसलिये यह वाच्य अर्थ से भिन्न ही है, क्योंकि यदि उसको वाच्य मान भी लिया जावे तो उसकी वाच्यता दो प्रकार से हो सकती है—या तो वह स्वशब्द वाच्य हो, अर्थात् उसको रस आदि शब्दों से या शृङ्गार आदि शब्दों से कहा जावे, अथवा विभाव आदि के द्वारा उसका प्रतिपादन किया जावे । पहले पक्ष में स्वशब्द निवेदितत्व का अभाव होने पर, अर्थात् रस आदि या शृङ्गार आदि शब्दों का प्रयोग न किया जाने पर रस आदियो की प्रतीति न होने का प्रसङ्ग प्राप्त होगा, रस आदियो की अनुभूति नहीं होगी । परन्तु जहाँ रस आदियों की प्रतीति होती है, वहाँ सब स्थानो पर ये स्वशब्द निवेदित नहीं हैं और जहाँ स्व श द निवेदित होने पर भी इनको

विभाव आदि द्वारा प्रतिपादित होने पर ही होती है। स्वशब्द से अर्थात् रस, शृङ्गार आदि पदों से तो वह केवल अनूदित होती है, तत्कृत नहीं होती। क्योंकि दूसरे स्थानो पर, जहाँ केवल स्वशब्द का प्रयोग है और विभाव आदि नहीं है, इस रसादि की प्रतीति का दर्शन नहीं होता। क्योंकि जिस काव्य मे केवल शृङ्गार आदि शब्दों का प्रयोग किया गया है, परन्तु विभाव आदि का प्रतिपादन नहीं है, वहाँ रसवत्ता की प्रतीति थोडी सी भी नहीं होती। इस कारण अन्वय और व्यतिरेक से यह सिद्ध होता है कि रस आदि अभिधेय (वाच्य अर्थ) के सामर्थ्य से आक्षिप्त होते हैं, वे किसी भी प्रकार अभिधेय नहीं होते। इस प्रकार ध्वनि का तीसरा भेद रसादि ध्वनि भी वाच्य से भिन्न है, यह निश्चित है। वाच्य के साथ इसकी प्रतीति जिस प्रकार होती है, उसको आगे दिखाया जायेगा।

यहाँ ध्वनिकार ने वस्तुध्वनि और अलङ्कारध्वनि से रसादिध्वनि का भेद दिखाया है। रसध्वनि वाच्य अर्थ के सामर्थ्य से आक्षिप्त होती है और यह कभी भी वाच्य नही होती, अभिधा के व्यापार का विषय नही होती। इससे ध्वनिकार यह कहना चाहते है कि वस्तु और अलङ्कार तो कभी वाच्य हो सकते हैं, परन्तु रस कभी वाच्य नहीं होता। इसी तथ्य को 'काव्यप्रकाश' म इस प्रकार स्पष्ट किया गया है—

"सङ्कलनेन पुनरस्य ध्वनेस्त्रयो भेदा व्यङ्ग्यस्यत्रिरूपत्वात्। तथाहि–किञ्चिद्वाच्यता सहते किञ्चित्त्वन्यथा। तत्र वाच्यतासहमविचित्र विचित्र चेति। अविचित्र वस्तुमात्रम्, विचित्र त्वलङ्काररूपम्। यद्यपि प्राधान्येन तदलङ्कार्यं, तथापि ब्राह्मणश्रमणन्यायेन तथोच्यते। रसादिलक्षणस्त्वर्थ स्वप्नेऽपि न वाच्य। सहि रसादिशब्देन शृङ्गारादिशब्देन वाऽभिधीयेत। न चाभिधीयते तत्प्रयोगे पि विभावाद्यप्रयोगे तस्याप्रतिपत्तेस्तदप्रयोगेऽपि विभावादिप्रयोगे तस्य प्रतिपत्तेश्चेत्यन्वयव्यतिरेकाभ्या विभावाद्यभिधानद्वारेणैव प्रतीयते इति निश्चीयते। तेनाऽसौ व्यङ्ग्य एव।

सक्षेप से इस ध्वनि के तीन भेद हैं, क्योकि व्यङ्ग्य अर्थ तीन प्रकार का होता है। जैसे कि—कोई व्यङ्ग्य वाच्यता को सहन करता है, कोई नही करता। वाच्यतासह व्यङ्ग्य दो प्रकार का है—अविचित्र और विचित्र। अविचित्र व्यङ्ग्य वस्तुमात्र है तथा विचित्र व्यङ्ग्य अलङ्काररूप है। यद्यपि अलङ्कारध्वनि अलकार नही है, अलकार्य है, तथापि ब्राह्मणश्रमण न्याय से उसको अलङ्कारध्वनि कर दिया जाता है। रसादि लक्षणरूप व्यङ्ग्य अर्थ स्वप्न मे भी वाच्य नही होता। उसको रसादि शब्द से या शृङ्गारादि शब्द से कहा जाता है। परन्तु अभिधा द्वारा उसकी प्रतीति नही होती। क्योकि रस आदि शब्दो का प्रयोग होने पर एव विभाव आदि का प्रयोग न होने पर रस की प्रतीति नही होती और रस आदि शब्दो का प्रयोग न होने पर एव विभाव आदि का प्रयोग होने पर रस की प्रतीति होती है। इस प्रकार अन्वय और व्यतिरेक द्वारा यह निश्चय किया जाता है कि रस की प्रतीति विभाव आदि द्वारा ही होती है। अत रस आदि ध्वनि व्यङ्ग्य ही हैं।

स्वशब्द—यहाँ स्वशब्द का अभिप्राय शृङ्गारादि है। अभिनवगुप्त का कथन है—

'स्वशब्देति। शृङ्गारादिना स्वशब्देनाभिधाव्यापारवशादेव निवेदितत्वेन।"

उद्भट ने 'काव्यालङ्कारसारसंग्रह' में रस को स्वशब्दवाच्य भी कहा है। उद्भट के इस मत को विष्णुपद भट्टाचार्य ने 'ध्वन्यालोक' की टीका में स्पष्ट किया है—

यह तथ्य प्रदर्शित करना रोचक होगा कि जबकि ध्वनिवादी रसभाव आदि को सदा व्यङ्ग्य मानते हैं, 'काव्यालङ्कारसारसंग्रह' के आदरणीय लेखक रस को स्वशब्द वाच्य भी मानते हैं। उद्भट के अनुसार रस की प्रतीति पाँच प्रकार से हो सकती है—स्वशब्द, स्थायिभाव, सञ्चारिभाव, विभाव और अभिनय। उनके अनुसार यदि किसी रस को रस शब्द द्वारा या शृङ्गार, करुण आदि शब्द द्वारा प्रकट किया जाता है, तो उसमें इस की प्रतीति में बाधा नहीं होती। उनका कथन है—

रसवद्दर्शितस्पष्टशृङ्गारादिरसादयम्।
स्वशब्दस्थायिसञ्चारिविभावाभिनयास्पदम् ॥
शृङ्गारहास्यकरुणरौद्रवीरभयानकाः।
बीभत्साद्भुतशान्ताश्च नव नाट्ये रसाः स्मृताः

॥ काव्यालङ्कारसारसङ्ग्रह ४ ३-४ ॥

इसके उदाहरण के रूप में उद्भट ने अपने 'कुमारसम्भव' (जो कि अब उपलब्ध नहीं है) से यह उदाहरण दिया है—

इति भावयतस्तस्य समस्तान् पार्वतीगुणान्।
सम्भृतानल्पसङ्कल्पः कन्दर्पः प्रबलोऽभवत् ॥
स्विद्यताऽपि स गात्रेण बभार पुलकोत्करम्।
कदम्बकलिकाकोशकेसरप्रकरोपमम् ॥
क्षणमौत्सुक्यगर्भिण्या चिन्तानिश्चलया क्षणम्।
क्षणं प्रमोदालसया दृशाऽस्यास्यमभूष्यत ॥

यहाँ भगवान् शिव का पार्वती विषयक विप्रलम्भ शृङ्गार अभिव्यक्त हुआ है। यह रतिविशेष वाचक कन्दर्प शब्द स्थायिभाव का स्वशब्द है। औत्सुक्य, चिन्ता, हर्ष आदि सञ्चारिभाव स्वशब्द वाच्य हैं। स्वेद रोमाञ्च आदि सात्त्विक अनुभाव स्वशब्द-वाच्य हैं। 'भावयत' और 'पार्वतीगुण' पदों से विभाव निर्दिष्ट है। अपाङ्ग आदि का अभिनय निर्दिष्ट है। इस प्रकार पाञ्च प्रकार से शृङ्गार रस अभिव्यक्त हुआ है।

परन्तु कुन्तक ने 'व्यक्तिविवेक' में उद्भट के इस मत का, रस आदि की स्वशब्द वाच्यता का प्रबल शब्दों में खण्डन किया है और कहा है कि रस आदि कभी भी स्वशब्द वाच्य नहीं हो सकते। 'काव्यप्रकाश' के रचयिता मम्मट ने तथा उत्तर-वर्ती आचार्यों ने रस आदि की निष्पत्ति में स्वशब्दवाच्य को दोष माना है—

व्यभिचारिरसस्थायिभावानां शब्दवाच्यता ॥ काव्यप्रकाश ७ ६० ॥

क्योंकि उद्भट का यह कथन ध्वनिवादियों के मत के सर्वथा विपरीत जाता है। अतः यह सम्भव है कि ध्वनिकार यहाँ उद्भट के मत का खण्डन करने के लिये ही यह कहा है कि रस आदि कभी भी स्वशब्द से अभिधेय नहीं होते।

विशिष्टविभावादिप्रतिपादनमुखेन—विशिष्टैः विभावादिभिः प्रतिपादनमुखेन। सभी आलोचक यह स्वीकार करते हैं कि रस की प्रतीति विभाव आदि द्वारा होती है। इस सम्बन्ध में पहला सूत्र भरतमुनि का है—

'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद् रसनिष्पत्तिः"।

विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों के संयोग से इसकी निष्पत्ति होती है।

इस सूत्र को और भी अधिक स्पष्ट करते हुये मम्मट ने लिखा है -

कारणान्यथ कार्याणि सहकारीणि यानि च।
रत्यादेः स्थायिनो लोके तानि चेन्नाट्यकाव्ययोः ॥
विभावा अनुभावास्तत् कथ्यन्ते व्यभिचारिणः।
व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायीभावो रसः स्मृतः ॥

लोक में रति आदि स्थायी भावों के जो कारण, कार्य और सहकारी भाव हैं, उनको नाट्य और काव्य में क्रमशः *विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भाव* कहा जाता है। इन विभाव आदियों से व्यक्त स्थायी भाव रस कहलाता है।

शृङ्गारादिशब्दभाजि—शृङ्गारादीन् शब्दमात्रान् भजते इति तस्मिन्। काव्य और नाटक में शृङ्गार आदि नौ रस कहे गये हैं—

शृङ्गारहास्यकरुणरौद्रवीरभयानकाः।
बीभत्साद्भुतशान्ताश्च नाट्ये नव रसाः स्मृताः ॥

अभिनवगुप्त, मम्मट आदि नाट्य में रस मानते हैं तथा शान्त रस को नाट्य से भिन्न काव्यों का रस स्वीकार करते हैं।

वाच्येन त्वस्य सहेव प्रतीतिरग्रे दर्शयिष्यते—अभिधामूल ध्वनि दो प्रकार की कही गई हैं—संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य और असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य। इनमें पहली ध्वनि के अन्तर्गत वस्तुध्वनि एवं अलङ्कारध्वनि और दूसरी ध्वनि के अन्तर्गत रसादि ध्वनि है। व्यङ्ग्य अर्थ वाच्य अर्थ से आक्षिप्त होता है अतः दोनों में क्रम है। वाच्य अर्थ पहले तथा व्यङ्ग्य अर्थ बाद में प्रतीत होता है। संलक्ष्यव्यङ्ग्य क्रम ध्वनि में वाच्य और व्यङ्ग्य का यह क्रम लक्षित हो जाता है। परन्तु असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य में यह क्रम लक्षित नहीं होता। व्यङ्ग्य अर्थ वाच्य अर्थ के साथ ही निष्पन्न होता हुआ प्रतीत होता है। 'सहेव' की व्याख्या अभिनवगुप्त ने इस प्रकार की है—

सहेवेति। इव शब्देन विद्यमानोऽपि क्रमो न संलक्ष्यते इति तद्दर्शयतिअग्र इति। द्वितीयोद्योते।

ध्वनिकार ने दूसरे उद्योत में कहा है—

रसभावतदाभासतत्प्रशान्त्यादिरक्रमः।
ध्वनेरात्माऽङ्गिभावेन भासमानो व्यवस्थितः ॥२-३॥

काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुरा ।
क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः ।।५।।

विविध वाच्यवाचकरचनाप्रपञ्चचारुणः काव्यस्य स एवार्थः सारभूतः । तथा चादिकवेर्वाल्मीकेर्निहतसहचरीविरहकातरक्रौञ्चाक्रन्दजनितः शोक एव श्लोकतया परिणतः ।

रसादिरर्थो हि सहेव वाच्येनावभासते । स चाङ्गित्वेनावभासमानो ध्वनेरात्मा ।

इस तथ्य को मम्मट ने इस प्रकार कहा है—न खलु विभावानुभावव्यभिचारिण एव रस, अपितु रसस्तैरित्यस्ति क्रम, स तु लाघवान्न लक्ष्यते । काव्यप्रकाश द्वितीय उल्लास ।।४।।

अन्वय—काव्यस्य आत्मा स एव अर्थः । तथा च आदिकवेः क्रौञ्चद्वन्द्व-वियोगोत्थः श्लोक श्लोकत्वम् आगतः ।

हिन्दी अर्थ—काव्य का आत्मा वह ही प्रतीयमान अर्थ है । जैसा कि प्राचीन काल मे आदि कवि बाल्मीकि का क्रौञ्च युगल के वियोग से उत्पन्न शोक (करुण रस का स्थायी भाव) श्लोक (काव्य) के रूप में परिणत हो गया था ।।५।।

अनेक प्रकार के वाच्य अर्थ, वाचक शब्द और रचना के प्रपञ्च से सुन्दर काव्य का सारभूत तत्त्व वह प्रतीयमान अर्थ ही है । जैसे कि—मारी गई सहचरी के वियोग से विह्वल क्रौञ्चपक्षी के करुण रुदन से उत्पन्न आदि कवि बाल्मीकि का शोक श्लोक के रूप मे परिणत हो गया था ।

काव्यस्यात्मा स एवार्थः—वह ध्वनि ही काव्य की आत्मा है । स एव इस पद से स्पष्ट है कि ध्वनिकार ने तीन प्रकार की ध्वनियो मे रसध्वनि को ही सबसे श्रेष्ठ सारभूत काव्य की आत्मा स्वीकार किया है ।

शोकः श्लोकत्वमागतः—इस पद के द्वारा ध्वनिकार ने रसध्वनि के उदाहरण के रूप मे आदि कवि की रचना 'रामायण' को प्रस्तुत किया है । इससे यह भी प्रकट होता है कि ध्वनिकार सभी रसो मे करुण रस को सबसे श्रेष्ठ मानते थे तथा उनके अनुसार रामायण करुणरसप्रधान काव्य है । उन्होंने लिखा है—

"रामायणे हि करुणो रसः स्वयमादिकविना सूत्रित —"शोक श्लोकत्वमागत" इत्येवंवादिना । निर्व्यूढश्च स एव सीतात्यन्तवियोगपर्यन्तमेव स्वप्रबन्धमुपरचयता ।" चतुर्थ उद्योत ।।

इस शोक के सम्बन्ध मे अभिनवगुप्त का कथन है कि यह शोक मुनि का नही समझना चाहिये, क्योकि इस प्रकार पक्षी के दुःख से सन्तप्त होने पर मुनि द्वारा श्लोक-रचना अस्वाभाविक प्रतीत होती है । इससे रस की आत्मता की अवस्था भी नही हो सकेगी । इसकी प्रक्रिया इस प्रकार होगी—शोक ऋषि द्वारा आस्वाद्यमान होकर अलौकिक हो गया और ऋषि ने उसको चित्तद्रुति के द्वारा करुण रस की स्थिति मे अनुभव किया, जो सर्वथा आनन्दमयता की स्थिति है । इसके अनन्तर वह करुण रस छन्दोमयी वाणी में प्रकट हुआ ।

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः ।
यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम् ॥
शोको हि करुणरसस्थायिभावः । प्रतीयमानस्य चान्यभेददर्शनेऽपि रसभावमुखेनैवोपलक्षणं प्राधान्यात् ॥५॥

विविधवाच्यवाचकरचनाप्रपञ्चचारुणः—विविधानां वाच्यानां वाचकानां रचनानां च प्रपञ्चेन चारुणः । इस पद से ध्वनिकार यह सूचित करना चाहते हैं कि काव्य में प्रतीयमान अर्थ के सारभूत होने पर उसमें अर्थालंकारों, शब्दालंकारों और संघटना का भी सौन्दर्य होना चाहिये। इनसे विभूषित रस और भी अधिक आह्लादक होता है।

निहतसहचरीविरहकातरक्रौञ्चाक्रन्दजनित —निहता या सहचरी तस्या विरहेण कातरस्य क्रौञ्चस्य आक्रन्देन जनितः ।

हिन्दी अर्थ—हे बहेलिये ! तू अनन्त काल तक कभी प्रतिष्ठा को प्राप्त मत हो, क्योंकि तूने क्रौञ्च पक्षियों के जोड़े में से एक क्रौञ्च को, जो कि काम से मोहित था, मार डाला है।

करुण रस का स्थायी भाव शोक है। यद्यपि प्रतीयमान अर्थ के अन्य भी अनेक भेद (वस्तु और अलंकार) दिखाये गये हैं, तथापि रसभाव द्वारा यहाँ जो उपलक्षण किया गया है, वह रसध्वनि के सबसे प्रधान होने के कारण किया गया है।

आनन्दवर्धन ने यहाँ क्रौञ्चवध की जिस घटना के द्वारा रामायण काव्य के उद्भव का संकेत किया है, वह घटना इस काव्य के प्रारम्भ में है। ध्वनिकारकृत क्रौञ्चवध की घटना की व्याख्या "निहतसहचरीविरहकातरक्रौञ्चाक्रन्दजनित" से यह प्रतीत होता है कि निषाद ने मादा क्रौञ्ची पक्षी का वध किया था और उसके विरह में क्रौञ्च पक्षी रुदन कर रहा था। अभिनवगुप्त की टीका "क्रौञ्चस्य द्वन्द्ववियोगेन सहचरीहननोद्भूतेन०" से भी मादा पक्षी के वध की सूचना मिलती है। इसके साथ ही राजशेखर की 'काव्यमीमांसा' में "निषादनिहतसहचरीक क्रौञ्चयुवानम्" पद के द्वारा क्रौञ्ची के वध का उल्लेख किया गया है।

क्रौञ्ची के वध का यह उल्लेख 'वाल्मीकि रामायण' के विरुद्ध है, क्योंकि उसमें नर क्रौञ्च पक्षी के वध का वर्णन है तथा उसके विरह में मादा क्रौञ्ची रुदन करती है। क्रौञ्च का यह वध अगले श्लोक से और भी स्पष्ट हो गया है—

तं शोणितपरीताङ्गं चेष्टमानं महीतले ।
दृष्ट्वा क्रौञ्ची रुरोदार्ता करुणं खे परिभ्रमा ॥

इस समस्या का समाधान विभिन्न विद्वानों ने इस प्रकार किया है—

(१) 'रामायण' से विरोध होने पर भी ध्वनिकार का पाठ ही ठीक है। 'ध्वन्यालोक' ध्वनिप्रधान ग्रन्थ है, अतः इसमें रामायण की कथा की भावना अभिव्यक्त की गई है। क्रौञ्चयुगल से राम और सीता का युगल ध्वनित होता है, निषाद पद से रावण

**सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु निःष्यन्दमाना महतां कवीनाम् ।
अलोकसामान्यमभिव्यनक्ति परिस्फुरन्तं प्रतिभाविशेषम् ॥६॥**

ध्वनित होता है। निषाद द्वारा क्रौञ्ची के वध से रावण द्वारा सीता का हरण घोषित होता है तथा विरहकातर क्रौञ्च के रुदन से विरहकातर राम का रुदन ध्वनित होता है।

(२) दीधितिकार ने ध्वनिकार एवं लोचनकार के पाठो को ही परिवर्तित कर दिया है। उनका पाठ है—"निहतसहचरविरहक्रौञ्च्याक्रन्दजनित ।"

(३) कुछ विद्वानो ने मूल मे परिवर्तन न करके ध्वनिकार के पद की व्याख्या इस प्रकार की है—"निहत सहचरीविरहकातर च य क्रौञ्च, तदुद्देश्यक क्रौञ्चीकर्तृक य आक्रन्द तज्जनित शोक ।" इस व्याख्या मे क्रौञ्च के दो विशेषण—'निहत और सहचरीविरहकातर' हो गये हैं। इस व्याख्या से रामायण के विरोध का परिहार भी हो जाता है तथा मूल पाठ मे परिवतन भी नही करना पडता।

प्रतीयमानस्य·· ······प्राधान्यात्—प्रतीयमान अर्थ के दो अन्य भेद वस्तु और अलङ्कार हैं तो, *परन्तु ध्वनिकार काव्य मे रस-भाव आदि को ही प्रधान मानते है।* यहाँ रसभाव पद से रसाभास, भावाभास आदि भी ग्रहण किये जाते है। आलकारिको द्वारा प्राचीन काल से ही रस को काव्य मे सबसे अधिक महत्त्व दिया जाता रहा है। इसकी पुष्टि ध्वनिकार ने चतुर्थ उद्योत मे पुन की है—

व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावेऽस्मिन् विविधे सम्भवत्यपि ।
रसादिमय एकस्मिन् कवि स्यादवधानवान् ॥४५॥

वे कहते हैं कि कवियो का रस आदि के अतिरिक्त अन्य मे तात्पर्य नहीं होता—
"यत परिपाकवता कवीना रसादितात्पर्यविरहे व्यापार एव न शोभते ।"

भरत नाट्यशास्त्र की ६ ४२ कारिका की व्याख्या मे अभिनवगुप्त ने रस को ही सब भावो का मूल कहा है—

यथा बीजाद् भवेद् वृक्षो वृक्षात् पुष्प फल तथा ।
तथा मूल रसा सर्वे तेभ्यो भावा व्यवस्थिता ॥५॥

अन्वय—स्वादु तदर्थवस्तु नि ष्यन्दमाना महता कवीना सरस्वती अलोकसामान्य परिस्फुरन्त प्रतिभाविशेषम् अभिव्यनक्ति।

हिन्दी अर्थ—आस्वादमय रसभाव रूप उस अर्थरूप तत्त्व को प्रवाहित करने वाली महाकवियो की वाणी अलौकिक और परिस्फुरित होती हुई प्रतिभा के विशेष को अभिव्यक्त करती है ॥६॥

अर्थवस्तु—*लोचनकार के अनुसार यहाँ वस्तु शब्द अर्थ की व्याख्या करता है* और तत्त्व शब्द अर्थ की व्याख्या है। भाव यह है वस्तु, अलङ्कार और रसरूप अर्थों मे जो तत्त्व रूप है।

परिस्फुरन्तम् अभिव्यनक्ति—इसका भाव अभिनवगुप्त ने इस प्रकार स्पष्ट

तद्वस्तुतत्त्वं निष्यन्दमाना महतां कवीनां भारती अलोकसामान्यं प्रतिभाविशेषं परिस्फुरन्तमभिव्यनक्ति । येनास्मिन्नतिविचित्रकविपरम्परावाहिनि संसारे कालिदासप्रभृतयो द्वित्राः पञ्चषा वा महाकवय इति गण्यन्ते ॥६॥

किया है—सहृदयों में वह प्रतिभा अनुमीयमान नहीं होती, अपितु उसके आवेश से भासित होती है। अर्थात् नायक, कवि और श्रोता सभी को उसका समान रूप से अनुभव होना है।

प्रतिभाविशेषम्—अभिनव गुप्त ने प्रतिभा की व्याख्या इस प्रकार की है—"प्रतिभा अपूर्ववस्तुनिर्माणक्षमा प्रज्ञा, तस्या विशेषो रसावेशवैशद्यसौन्दर्यं सौन्दर्यं काव्यनिर्माणक्षमत्वम्"।

अपूर्व वस्तु के निर्माण में समर्थ प्रज्ञा को प्रतिभा कहते हैं। उसका विशेष है— रस के आवेश से उत्पन्न विशदता से युक्त सौन्दर्य रूप काव्य के निर्माण की क्षमता।

प्रतिभा का लक्षण किया गया है—"प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा विदुः।"

वामन ने प्रज्ञा और प्रतिभा में इस प्रकार विभेद किया है—

द्वे वर्त्मनी गिरा देव्या शास्त्रं च कविकर्म च।
प्रज्ञोपज्ञं तयोराद्यं प्रतिभोद्भवमन्तिमम्॥

इस प्रकार उसके अनुसार प्रज्ञा से शास्त्रों की रचना होती है और प्रतिभा से काव्य की।

भट्टतौत ने इस सम्बन्ध में स्मृति, मति, बुद्धि, प्रज्ञा और प्रतिभा के लक्षण करके उनमें भेद बताकर प्रतिभा को काव्य का हेतु कहा है—

स्मृतिर्व्यतीतविषया मतिरागामिगोचरा।
बुद्धिस्तात्कालिकी प्रोक्ता प्रज्ञा त्रैकालिकी मता॥
प्रज्ञा न नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता।
तदनुप्राणनाज्जीवद्वर्णनानिपुणः कविः॥
तस्य कर्म स्मृतं काव्यम् ...॥

भूतकाल का स्मरण कराने वाली स्मृति है, भविष्य का बोध मति से होता है। तत्काल ज्ञान बुद्धि से होता है और प्रज्ञा से तीनों का बोध होता है। नव नव ज्ञान को उन्मेषित करने वाली प्रज्ञा को प्रतिभा कहते हैं। उस प्रतिभा से अनुप्राणित होकर वर्णन करने में निपुण व्यक्ति कवि होता है तथा उस कवि का कार्य काव्य कहलाता है।

हिन्दी अर्थ—उस वस्तुतत्त्व को प्रवाहित करने वाली महान् कवियों की वाणी परिस्फुरित होते हुए प्रतिभा के विशेष को अभिव्यक्त करती है। जिसके कारण इस अतिविचित्र कवियों की परम्परा को वहन करने वाले संसार में कालिदास आदि दो-तीन या पाँच, छः ही महाकवि गिने जाते हैं॥६॥

इदं चापरं प्रतीयमानस्यार्थस्य सद्भावसाधनं प्रमाणम्—

शब्दार्थशासनज्ञानमात्रेणैव न वेद्यते ।
वेद्यते स तु काव्यार्थतत्त्वज्ञैरेव केवलम् ॥७॥

सोऽर्थो यस्मात् केवलं काव्यार्थतत्त्वज्ञैरेव ज्ञायते। यदि च वाच्यरूप एवासावर्थः स्यात्, तद् वाच्यवाचकस्वरूपपरिज्ञानादेव तत्प्रतीतिः स्यात्। अथ च वाच्यवाचकलक्षणमात्रकृतश्रमाणां काव्यतत्त्वार्थभावनाविमुखानां स्वरश्रुत्यादिलक्षणमिवाप्रगीतानां गान्धर्वलक्षणविदामगोचर एवासावर्थः ॥७॥

कालिदासप्रभृतयो……गण्यन्ते—कालिदास की महाकवि रूप मे प्रशंसा प्राय सभी समालोचको और कवियो ने की है और उनका उल्लेख बहुत आदर से किया है। समालोचको का कथन है कि कालिदास के समान दूसरा कवि आज तक नही हुआ है। इस सम्बन्ध मे एक सूक्ति है—

पुरा कवीनां गणनाप्रसङ्गे कनिष्ठिकाऽधिष्ठितकालिदासा ।
अद्यापि तत्तुल्यकवेरभावादनामिका सार्थवती बभूव ॥

द्वित्राः पञ्चषाः—द्वयो वा त्रयो वा द्वित्रा । पञ्च वा षड् वा पञ्चषाः। यहाँ "सङ्ख्ययाऽव्ययासन्नादूराधिकसंख्या सङ्ख्येये" (पा० २ २ २५) से बहुव्रीहि समास होकर "बहुव्रीहौ सङ्ख्येये डजबहुगणात्" (पा० ५ ४ ७३) सूत्र से डच् प्रत्यय हुआ ॥६॥

हिन्दी अर्थ—प्रतीयमान अर्थ की सत्ता को सिद्ध करने वाला यह दूसरा और प्रमाण है—

अन्वय—स शब्दार्थशासनज्ञानमात्रेण एव न वेद्यते, तु केवलं काव्यार्थतत्त्वज्ञैः एव वेद्यते ।

हिन्दी अर्थ—वह प्रतीयमान अर्थ केवलमात्र शब्दशास्त्र (व्याकरण) आदि **और अर्थशास्त्र (कोश आदि) के जानने से ही विदित नहीं होता, अपितु केवल काव्य के अर्थ के तत्त्व को जानने वालों को ही विदित होता है ॥७॥**

क्योंकि इस प्रतीयमान अर्थ को केवल काव्य के अर्थ के तत्त्व को जानने वाले ही जान सकते हैं। यदि वह अर्थ वाच्य रूप ही होता, तो वाच्य और वाचक के स्वरूप के ज्ञान से ही उसकी प्रतीति हो जाती। और भी, केवलमात्र वाच्य (अर्थ) एवं वाचक (शब्द) के लक्षण को जानने में ही परिश्रम करने वाले तथा काव्य के तत्त्व रूप प्रतीयमान अर्थ की भावना से विमुख रहने वाले *व्यक्तियों को वह प्रतीयमान अर्थ* उसी प्रकार अविदित रहता है, जिसप्रकार उत्कृष्ट गाने का अभ्यास न करने वाले एवं सङ्गीतशास्त्र (गान्धर्वशास्त्र) के लक्षणों का अध्ययन न करने वाले व्यक्तियों को स्वर, श्रुति आदि के लक्षण (रहस्य) अविदित रहते हैं।

अप्रगीतानाम्—प्रकृष्ट गीत गान येषा ते प्रगीता । न प्रगीता अप्रगीता । तेषाम् । जिनका गाना उत्कृष्ट नही है।

कुछ सस्करणो मे 'प्रगीतानाम्' पाठ है। इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार होगी-गातु प्रारब्धा प्रगीता । जिन्होंने अभी गाना प्रारम्भ ही किया है। यहाँ "आदि र्मणि क्त कर्तरि च" (पा० ३ ४ ७१) सूत्र से क्त प्रत्यय हुआ।

स्वरश्रुत्यादिलक्षणम्—स्वर और श्रुति गान्धर्वशास्त्र के पारिभाषिक श हैं। स्वर की व्युत्पत्ति है—'स्वत सहकारिकारणनिरपेक्ष रञ्जयति श्रोतुश्चित अनुरक्त करोतीति स्वर ।" जो अन्य सहकारी कारण की अपेक्षा किये बिना श्रोताओ के मन को अनुरञ्जित करता है, वह स्वर है।

स्वरो की सख्या सात गिनाई गई है—"स्वरा षड्जादय सप्त ।" भरत ने सात स्वर इस प्रकार कहे हैं—

> षड्जश्च ऋषभश्चैव गान्धारो मध्यमस्तथा।
> पञ्चमो धैवतश्चैव निषाद सप्त ते स्वरा ॥

'सगीतरत्नाकर' के अनुसार इन सात स्वरो का अभ्यास तथा उच्चारण 'स ग म प ध नी' इस प्रकार से किया जाता है।

स्वर के प्रथम अवयव को श्रुति कहते हैं। अभिनवगुप्त ने इसकी व्याख्या इ प्रकार की है—

"श्रुतिर्नाम शब्दस्य वैलक्षण्यमात्रकारि यद्रूपान्तर तत्परिमाणास्वरतदन्तर लाभयभेदकल्पिता द्वाविंशतिधा" शब्द का जो विलक्षणतामात्र उत्पन्न करने वा रूपान्तर है, उसके परिमाण की श्रुति होती है। वह स्वर, स्वर के अन्तराल औ उभयभेद से २२ प्रकार की होती है। स्वर और श्रुति के लक्षण के सम्बन्ध मे 'सङ्गी तरत्नाकर' मे इस प्रकार कहा गया है—

> प्रथमश्रवणाच्छब्द श्रूयते ह्रस्वमात्रक.।
> स श्रुति सम्परिज्ञेया स्वरावयवलक्षणा ॥
> श्रुत्यन्तरभावी य स्निग्धो नु रणनात्मक ।
> स्वतो रञ्जयति श्रोतुश्चित्त स स्वर उच्यते ॥
> श्रुतिभ्य स्यु स्वरा षड्जर्षभगान्धारमध्यमा ।
> पञ्चमो धवतश्चाथ निषाद इति सप्त ते ॥
> तेषा सज्ञा स रि ग म प ध नीत्यपरामता ।
> द्वाविंशति केचिदुदाहरन्ति श्रुती श्रुतिज्ञानविचारदक्षा ।
> षट्षष्टिभिन्ना खलु केचिदासामानन्त्यमेव प्रतिपादयन्ति ॥

स्वरश्रुत्यादि मे आदि पद से लोचनकार ने गान्धर्वशास्त्र के जात्यशक, ग्राम राग, भाषा, विभाषा, आन्तरभाषा, देशी, मार्ग आदि पारिभाषिक शब्दो का सकेत किया है।

काव्यतत्त्वार्थभावनाविमुखानाम्—काव्यस्य तत्त्वभूतोयोऽर्थस्तस्य भावना वाच्या तिरेकेणानवरतचर्वणा तत्र विमुखानाम्। यहाँ भावना का अभिप्राय है—वाच्य से अतिरिक्त प्रतीयमान अर्थ का निरन्तर आस्वादन करना ॥७॥

एवं वाच्यव्यतिरेकिणो व्यङ्ग्यस्य सद्भाव प्रतिपाद्य प्राधान्य तस्यैवेति दर्शयति—

सोऽर्थस्तद्व्यक्तिसामर्थ्ययोगी शब्दश्च कश्चन ।
यत्नतः प्रत्यभिज्ञेयौ तौ शब्दार्थौ महाकवे ॥८॥

स व्यङ्ग्योऽर्थस्तद्व्यक्तिसामर्थ्ययोगी शब्दश्च कश्चन न शब्दमात्रम् । तावेव शब्दार्थौ महाकवेः प्रत्यभिज्ञेयौ । व्यङ्ग्यव्यञ्जकाभ्यामेव ही सुप्रयुक्ताभ्यां महाकवित्वलाभो महाकवीनाम्, न वाच्यवाचकरचनामात्रेण ॥८॥

हिन्दी अर्थ—इस प्रकार वाच्य से अतिरिक्त व्यङ्ग्य अर्थ के अस्तित्व का प्रतिपादन करके यह प्रदर्शित करते हैं कि काव्य मे प्रधानता भी इस व्यङ्ग्य अर्थ की ही है—

अन्वय—सः अर्थ तद्व्यक्तिसामर्थ्ययोगी च कश्चन शब्द. तौ शब्दार्थौ महाकवेर्ये प्रत्यभिज्ञेयौ ।

हिन्दी अर्थ—वह प्रतीयमान अर्थ और उस प्रतीयमान अर्थ को अभिव्यक्त करने की सामर्थ्य से युक्त जो कोई विशेष शब्द है । इन दोनो शब्द और अर्थ को पहचानना चाहिये ॥८॥

वह व्यङ्ग्य अर्थ है और उस व्यङ्ग्य अर्थ को अभिव्यक्त करने मे समर्थ कोई विशेष शब्द है, केवल शब्दमात्र नही है । उन दोनो ही शब्द और अर्थ को महाकवि को पहचानना चाहिये । उत्तम प्रकार से प्रयुक्त किय गये व्यङ्ग्य अर्थ और व्यञ्जक शब्द से ही महाकवियो को महाकवित्व की प्राप्ति होती है, केवल वाच्य और वाचक की रचनामात्र से नही ।

पूर्व कारिका मे ध्वनिकार ने अन्तिम रूप से वाच्य से अतिरिक्त प्रतीयमान अर्थ की सत्ता को प्रमाणित किया है । इस कारिका मे उनका कथन है कि काव्य मे प्रतीयमान अर्थ ही प्रधान होता है । उस प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति व्यञ्जक शब्द से होती है । अत महाकवि को चाहिये कि वह व्यञ्जक शब्द और व्यङ्ग्य अर्थ को भली प्रकार पहचान ले । काव्य मे व्यङ्ग्य और व्यञ्जक का सुन्दर प्रयोग करने से ही महाकवि को महाकवित्व की प्राप्ति होती है ।

प्रत्यभिज्ञेयौ—इस प्रसङ्ग मे 'प्रत्यभिज्ञेय' पद के प्रयोग पर विशेष ध्यान देना अपेक्षित है । अभिनवगुप्त ने प्रत्यभिज्ञेय पद की जो टीका की है, उसको आधार मानकर इसकी व्याख्या निम्न प्रकार से की जा सकती है—

(१) "प्रत्यभिज्ञेयावित्यर्हार्थे कृत्य । सर्वो हि यथा यतते द्वितीयता प्राधान्ये लोकसिद्धत्व प्रमाणमुक्तम्" । "प्रत्यभिज्ञेय' पद मे अर्ह अर्थ मे 'कृत्य' प्रत्यय हुआ है । इससे अर्थ बोधित होता है कि सब महाकवियो को व्यङ्ग्य-व्यञ्जक को जानने का यत्न करना चाहिये, क्योकि इनकी प्रधानता होने पर ही इसको सहृदयो ने सिद्धप्रमाण

कहा है। कवि को सहृदय जन तभी महाकवि कहते हैं, जबकि वह काव्य में व्यङ्ग्य-व्यञ्जक भाव की प्रधानता देकर उनका सुन्दर प्रयोग करता है।

(२) "नियोगार्थेन च कृत्येन शिक्षाक्रम उक्तः"। कृत्य प्रत्यय का प्रयोग नियोग अर्थ में भी हो सकता है। इस अवस्था में 'प्रत्यभिज्ञेय' पद का अर्थ होगा कि आचार्य कवि को व्यङ्ग्यव्यञ्जक भाव की शिक्षा देता है तथा कवियों को आचार्य से उसकी शिक्षा प्राप्त करनी चाहिये। यद्यपि आचार्यों द्वारा यह कहा गया है—

"काव्य तु जातु जायेत कस्यचित्प्रतिभावतः"

यद्यपि काव्य कवि के हृदय में स्वयं परिस्फुरित होता है, तथापि शिक्षा प्राप्त करने से यह सहस्र शाखाओं के समान विकसित होता है।

(३) प्रत्यभिज्ञा पद काश्मीर के प्रसिद्ध 'प्रत्यभिज्ञा दर्शन' का भी द्योतक है। इसका विशेष प्रतिपादन अभिनवगुप्त के गुरु उत्पलपादाचार्य ने किया था। प्रत्यभिज्ञा का लक्षण है—'तत्तेदन्तावगाहिनी प्रतीतिः प्रत्यभिज्ञा। तत्ता अर्थात् तद्देशीय और तत्कालीन एवं इदन्ता अर्थात् एतद्देशीय और एतत्कालीन सम्बन्ध का अवगाहन कराने वाली प्रतीति प्रत्यभिज्ञा है। जैसे—'सोऽयं देवदत्तः' पद में 'स' पद तत्ता और 'अयम्' पद इदन्ता के बोधक हैं। देवदत्त में इन दोनों के बोधन से यह प्रतीति प्रत्यभिज्ञा है। दार्शनिकों ने इस प्रत्यभिज्ञा का प्रयोग परब्रह्म के साक्षात्कार में किया है और इसके अनुसार 'सोऽहम्' एवं "तत्त्वमसि" आदि पदों की व्याख्या की है। परब्रह्म के साक्षात्कार के लिये 'प्रत्यभिज्ञा' के प्रयोग के सम्बन्ध में उत्पलाचार्य का कथन है—

तैस्तैरप्युपयाचितैरुपनतस्तन्व्याः स्थितोऽप्यन्तिके
कान्तो लोकसमान एवमपरिज्ञातो न रन्तुं यथा।
लोकस्यैष तथानवेक्षितगुणः स्वात्मापि विश्वेश्वरो
नैवालं निजवैभवाय तदियं तत्प्रत्यभिज्ञोदिता॥

जिस प्रकार से कोई रमणी अनेक प्रकार की प्रार्थनाओं से समीप आये हुये और पास में स्थित होते हुये भी पति को पति के रूप में नहीं पहचान पाने और अन्य पुरुषों के समान समझने के कारण रमण का सुख प्राप्त नहीं कर पाती, उसी प्रकार संसार के अपने आत्मभूतविश्वेश्वर परमात्मा का भी हम तब तक आनन्दानुभव नहीं कर सकते, जब तक कि उसकी पहचान न लें। तो उस परमात्मा की पहचान के लिये यह प्रत्यभिज्ञा दर्शन कहा गया है।

इस प्रकार इस प्रसङ्ग में ध्वनिकार ने यह कहा है कि व्यङ्ग्यव्यञ्जक की प्रत्यभिज्ञा से महाकवि पद प्राप्त होता है॥८॥

इदानीं व्यङ्ग्यव्यञ्जकयोः प्राधान्येऽपि यद् वाच्यवाचकावेव प्रथममुपाददते कवयस्तदपि युक्तमेवेत्याह—

आलोकार्थी यथा दीपशिखायां यत्नवान् जनः ।
तदुपायतया तद्वदर्थे वाच्ये तदादृत ॥६॥

यथा आलोकार्थी सन्नपि दीपशिखायां यत्नवान् जनो भवति, तदुपायतया । नहि दीपशिखामन्तरेण आलोकः सम्भवति । तद्वद् व्यङ्ग्यमर्थं प्रत्यादृतो जनो वाच्येऽर्थे यत्नवान् भवति । अनेन प्रतिपादकस्य कवेर्व्यङ्ग्यमर्थं प्रति व्यापारो दर्शितः ॥६॥

हिन्दी अर्थ—अब इस स्थिति में व्यङ्ग्य और व्यञ्जक के काव्य में प्रधान होने पर भी जो कविगण वाच्य और वाचक का ग्रहण पहले करते हैं, वह भी ठीक है, क्योंकि यह कहा गया है—

अन्वय—आलोकार्थी जन यथा तदुपायतया दीपशिखाया यत्नवान्, तद्वत् तदादृत वाच्ये अर्थे ।

हिन्दी अर्थ—प्रकाश को चाहने वाला व्यक्ति, जिस प्रकार उसका उपाय होने के कारण दीपक की शिखा के लिये प्रयत्न करता है उसी प्रकार उस प्रतीयमान अर्थ के प्रति आदर से युक्त कवि उसका उपाय होने के कारण, वाच्य अर्थ का उपादान करने के प्रति आदरवान् होता है ॥६॥

जिस प्रकार प्रकाश की इच्छा करता हुआ भी व्यक्ति दीपक की शिखा के लिये प्रयत्न करता है, क्योंकि प्रकाश का उपाय दीपक की शिखा से है। दीपक की शिखा के बिना प्रकाश का होना सम्भव नहीं है। उसी प्रकार से व्यङ्ग्य अर्थ के प्रति आदर से युक्त होता हुआ भी व्यक्ति वाच्य अर्थ के लिये प्रयत्न करता है। इसके द्वारा प्रतिपादक कवि का व्यङ्ग्य अर्थ के प्रति व्यापार दिखाया है।

इस प्रसङ्ग में यह शङ्का हो सकती है—जिसका प्रथम कथन किया जाता है, वह प्रधान होता है और जिसका कथन बाद में किया जाता है, वह अप्रधान है। यहाँ वाच्य का प्रथम कथन करने से उसके प्राधान्य की आशंका उत्पन्न हो सकती है। उसी प्रश्न का उत्तर इस कारिका में ध्वनिकार ने दिया है—यद्यपि व्यङ्ग्यव्यञ्जक भाव काव्य में प्रधान होता है, तथापि उसका बोध क्योंकि वाच्य-वाचक भाव से होता है अतः कविजन उपाय के रूप में वाच्य-वाचक भाव का उपादान पहले करते हैं। यह स्वाभाविक नियम है कि उपाय और उपेय में उपेय प्रधान है। परन्तु उपाय के बिना उपेय की प्राप्ति नहीं हो सकती, अतः उपाय को पहले प्रस्तुत करना पड़ता है।

इसकी पुष्टि ध्वनिकार ने आलोक और दीपशिखा के उदाहरण में की है। जिस प्रकार आलोक (प्रकाश) की उपलब्धि दीपशिखा के बिना नहीं हो सकती, अतः आलोक को प्राप्त करने के लिए पहले दीपशिखा को प्राप्त करना पड़ता है, उसी प्रकार व्यङ्ग्य-व्यञ्जक की उपलब्धि वाच्य-वाचक भाव से होती है। इस कारण काव्य में

प्रतिपाद्यस्यापि त दर्शयितुमाह—

यथा पदार्थद्वारेण वाक्यार्थः सम्प्रतीयते ।
वाच्यार्थपूर्विका तद्वत् प्रतिपत्तस्य वस्तुनः ॥१०॥

यथा हि पदार्थद्वारेण वाक्यार्थविगमस्तथा वाच्यार्थप्रतीतिपूर्विका व्यङ्ग्यार्थस्य प्रतीतिः ॥१०॥

कवि वाच्य-वाचक भाव का उपादान पहले करता है। 'आलोक' पद की व्याख्या अभिनवगुप्त ने इस प्रकार की है—

"आलोक आलोकनम् । वनितावदनारविन्दादिविलोकनमित्यर्थ । तत्र चोपायो दीपशिखा ।" देखना ही आलोक है । अर्थात् वनिता के मुखरूपी कमल आदि का देखना और उसके लिये उपाय दीपशिखा है । इसका भाव यह है अधेरे मे अपनी प्रेमिका के सुन्दर मुख कमल को देखने के लिये कोई व्यक्ति पहले दीपक की शिखा प्रज्ज्वलित करता है । उस समय यद्यपि प्रेमिका के मुख का देखना ही प्रमुख है, दीपक की शिखा अप्रधान है, तथापि उपाय होने से दीपक की शिखा का उपादान पहले करना पडता है, उसी प्रकार वाच्यवाचकभाव के अप्रधान तथा व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव के प्रधान होने पर भी वाच्यवाचक का उपादान इस कारण पहले किया जाता है, क्योकि उसके द्वारा ही व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव की प्रतीति हो सकती है ।

इस प्रकार इस कारिका द्वारा ध्वनिकार ने यह प्रदर्शित कर दिया है कि कवि की दृष्टि मे व्यङ्ग्य अर्थ का महत्व सदा ही वाच्य अर्थ के प्रति अधिक होता है ।

आदृत—आदरवान् । यहाँ 'कर्तृकर्मणो क्त." नियम से क्त प्रत्यय है । "आदृतौ सादरार्चितौ" इत्यमर ॥९॥

हिन्दी अर्थ—प्रतिपाद्य (वाच्यार्थ) के भी उस व्यापार को प्रदर्शित करने के लिये कहते हैं—

अन्वय—यथा पदार्थद्वारेण वाक्यार्थ सम्प्रतीयते, तद्वत् तस्य वस्तुन. प्रतिपत् वाच्यार्थपूर्विका ।

हिन्दी अर्थ—जिस प्रकार पदों के अर्थों के द्वारा वाक्य के अर्थ की प्रतीति होती है, उसी प्रकार उस प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति वाच्य अर्थ के ज्ञानपूर्वक होती है ॥१०॥

इस प्रसङ्ग मे आनन्दवर्धन यह प्रतिपादित करना चाहते हैं कि यद्यपि वाच्य अर्थ की प्रतीति पहले और व्यङ्ग्य अर्थ की प्रतीति बाद मे होती है, इस प्रकार उनमे क्रम है, तथापि सहृदय द्वारा वाच्य अर्थ के तुरन्त बाद व्यङ्ग्य अर्थ की प्रतीति मे वह क्रम बोधित नही होता । इस तथ्य को उन्होंने पदार्थ और वाक्यार्थ के उदाहरण से स्पष्ट किया है । इसकी व्याख्या अभिनवगुप्त ने इस प्रकार की है—

"अनेन श्लोकेन अत्यन्तसहृदयो यो न भवति तस्यैव स्फुटसंवेद्य एव क्रम । यथाऽत्यन्तशब्दवृत्तज्ञो यो न भवति तस्य पदार्थवाक्यार्थक्रम । काष्ठाप्राप्तसहृदयभावस्य

इदानीं वाच्यार्थप्रतीतिपूर्वकत्वेऽपि तत्प्रतीते, व्यङ्ग्यस्यार्थस्य प्राधान्यं यथा न विलुप्येत तथा दर्शयति—

स्वसामर्थ्यवशेनैव वाक्यार्थं प्रथयन्नपि ।
यथा व्यापारनिष्पत्तौ पदार्थो न विभाव्यते ॥११॥

यथा स्वसामर्थ्यवशेनैव वाक्यार्थं प्रथयन्नपि पदार्थो व्यापारनिष्पत्तौ न भाव्यते विभक्ततया ॥११॥

तद्वत् सचेतसां सोऽर्थो वाच्यार्थविमुखात्मनाम् ।
बुद्धौ तत्त्वार्थदर्शिन्या झटित्येवावभासते ॥१२॥

तु वाक्यवृत्तकुशलस्येव सन्नपि क्रमोऽभ्यस्तानुमानाविनाभावस्मृत्यादिवदसंवेद्य इति दर्शितम्" ।

भाव यह है कि सहृदय व्यक्ति को वाच्य और व्यङ्ग्य अर्थ में क्रम होते हुये भी लक्षित नही होता । जिस प्रकार, जो पदो के अर्थों को अच्छी प्रकार से नहीं जानता है, वह पहले पदो का अर्थ करके बाद मे वाक्य का अर्थ करता है, और उसके लिये पदार्थ और वाक्यार्थ मे क्रम लक्षित होता है, परन्तु जो पदो के अर्थों के ज्ञान म कुशल है, उसके लिये पदार्थ और वाक्यार्थ मे क्रम होते हुये भी यह क्रम लक्षित नही होता, उसी प्रकार, जो सहृदय हैं, उनके लिये वाच्य और व्यङ्ग्य की प्रतीति म क्रम होते हुये भी यह क्रम लक्षित नही होता, तथा उनके लिये यह काव्य अक्रम है । परन्तु जो सहृदय नही हैं, उनको वाच्य और व्यङ्ग्य की प्रतीति म क्रम लक्षित होता है ॥१०॥

हिन्दी अर्थ—उस प्रतीयमान अर्थ के वाच्यार्थपूर्वक प्रतीत होने पर भी कहीं व्यङ्ग्य अर्थ की प्रधानता लुप्त न होवे उसको दिखाते हैं—

अन्वय—यथा पदार्थः स्वव्यापारवशेन एव वाक्यार्थं प्रथयन् अपि व्यापारनिष्पत्तौ न विभाव्यते ॥११॥

हिन्दी अर्थ—जिस प्रकार पदों का अर्थ अपने व्यापार द्वारा ही वाक्य के अर्थ को प्रकट करता हुआ भी व्यापार के निष्पन्न हो जाने पर रूप से अलग प्रतीत नहीं होता है ॥११॥

जिस प्रकार पदो का अर्थ अपने सामर्थ्य (आकाक्षा, योग्यता, सन्निधि) द्वारा ही वाक्य के अर्थ को प्रकट करता हुआ भी व्यापार के निष्पन्न हो जाने पर पृथक् रूप से प्रतीत नहीं होता ॥११॥

अन्वय—तद्वत् स अर्थः वाच्यार्थविमुखात्मनां सचेतसां तत्त्वार्थदर्शिन्यां बुद्धौ झटिति एव अवभासते ॥१२॥

हिन्दी अर्थ—उसी प्रकार वह प्रतीयमान अर्थ वाच्य अर्थ से विमुख रहने वाले सहृदयो को तत्वार्थ का दर्शन करने मे समर्थ बुद्धि में तुरन्त ही प्रकाशित हो जाता है ॥१२॥

एवं वाच्यव्यतिरेकिणो व्यङ्ग्यार्थस्य सद्भावं प्रतिपाद्य प्रकृत उपयोजयन्नाह—

यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृत स्वार्थौ ।
व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः ॥१३॥

यत्रार्थो वाच्यविशेषः, वाचकविशेष शब्दो वा, तमर्थं व्यङ्क्तः, स काव्यविशेषो ध्वनिरिति ।

प्राधान्य यथा न विलुप्यते—यह सत्य है कि वाच्यार्थ का कथन पहले होता है और व्यङ्ग्य अर्थ उसका अनुसरण करता है, परन्तु सहृदयो को यह क्रम अवभासित नही होता। सहृदयो का हृदय व्यङ्ग्य अर्थ के प्रति रणरणक (उत्सुक) रहता है और यही उत्सुकता व्यङ्ग्य अर्थ की प्रधानता को प्रतिपादित करती है। इसको अभिनवगुप्त इस प्रकार स्पष्ट करते हैं—

"प्राधान्यादेव हि तत्पर्यन्तानुसरणरणरणकत्वारिता मध्ये विश्रान्ति न कुर्वते इति क्रमस्य सतोऽप्यलक्षणं प्राधान्ये हेतु ।"

व्यङ्ग्य अर्थ के प्राधान्य के कारण ही उस व्यङ्ग्य अर्थ पर्यन्त अनुसरण करने के रणरणक (उत्सुकता) से त्वरित होते हुये सहृदय जन बीच मे विश्राम नही करते। इस प्रकार क्रम के होते हुये भी वह लक्षित नही होता, यही व्यङ्ग्य अर्थ के प्राधान्य का हेतु है।

स्वसामर्थ्यवशेन—स्वसामर्थ्यमाकाङ्क्षायोग्यतासन्निधय । योग्यता, आकाक्षा और सन्निधि से युक्त पदो का समूह वाक्य कहलाता है। इनके अभाव मे पदसमूह वाक्य नही कहलायेगा। पदो का वाच्यार्थ होने पर भी इनका परस्पर अन्वय आकाक्षा, योग्यता और सन्निधि से होकर वाक्य का अर्थ सगत होता है। अत पदार्थ के स्वसामर्थ्य का अर्थ है—आकाक्षा, योग्यता और सन्निधि के द्वारा।

न विभाव्यते—न विभक्ततया प्रतीयते। पदो का अर्थ वाक्य के अर्थ से विभक्त रूप से प्रतीत नही होता। यद्यपि पदो का अर्थ अलग है और वाक्य का अर्थ अलग है, तथापि आकाक्षा, योग्यता और सन्निधि के कारण वे अलग-अलग प्रतीत नही होते।

झटित्येवावभासते—इस से यह सूचित किया गया है कि यद्यपि वाच्य अर्थ व्यङ्ग्य अर्थ से भिन्न है और उनमे पूर्वपश्चाद्भाव का क्रम विद्यमान है, तथापि वाच्य के अर्थ के तुरन्त बाद ही व्यङ्ग्य अर्थ के अवभासित हो जाने के कारण यह क्रमलक्षित नही होता ॥१२॥

हिन्दी अर्थ—इस प्रकार वाच्य अर्थ से अतिरिक्त व्यङ्ग्य अर्थ के सद्भाव (अस्तित्व और प्रधानता) का प्रतिपादन करके प्रकृत मे उसका उपयोग दिखलाते हुये कहते हैं—

अन्वय—यत्र अर्थ शब्द वा उपसर्जनीकृतस्वार्थौ तम् अर्थं व्यङ्क्तः, स काव्यविशेषः सूरिभि ध्वनिः इति कथित ।

हिन्दी अर्थ—जहाँ अर्थ अपने को और शब्द अपने अर्थ को गुणीभूत करके उस प्रतीयमान अर्थ को अभिव्यक्त करते हैं, उस विशेष काव्य को विद्वान् लोग ध्वनि इस प्रकार से कहते हैं ॥१३॥

जहाँ अर्थ वाच्यविशेष या शब्द वाचकविशेष उस प्रतीयमान अर्थ को अभिव्यक्त करते हैं, वह विशेष काव्य ध्वनि है।

सद्भावम्—अभिनवगुप्त ने सद्भाव का अर्थ दो प्रकार से किया है—
"सद्भावमिति । सत्ता साधुभावं प्राधान्य चेति । द्वय हि प्रतिपिपादयिषितम् ।"

सद्भाव के यहाँ दो अर्थ है—सत्ता अर्थात अस्तित्व और साधुभाव अर्थात् प्राधान्य । ध्वनिकार इन दोनो को ही यहाँ प्रतिपादित करने की इच्छा रखते है ।

प्रकृते—प्रकृत का अभिप्राय प्रस्तुत ध्वनि के लक्षण से है । ध्वनिवाव्य का लक्षण करने मे ध्वनिकार व्यङ्ग्य अर्थ का उपयोग कर रहे है ।

उपसर्जनीकृतस्वार्थौ—उपसर्जनीकृत स्व स्वार्थश्च याभ्या तौ । जिन्होंने अपने को और अपने अर्थ को गुणीकृत कर दिया है, अप्रधान बना दिया है। भाव यह है कि अर्थ अपने स्वय को गुणीकृत करता है और शब्द अपने अर्थ को गुणीकृत करता है। जिस काव्य मे वाच्य अर्थ की अपेक्षा व्यङ्ग्य अर्थ अधिक चमत्कारी होता है वह ध्वनि काव्य होता है । ध्वनि काव्य का लक्षण प्रस्तुत करते हुये मम्मट ने भी यही कहा है—

"इदमुत्तममतिशयिनि व्यङ्ग्ये वाच्याद्ध्वनिर्बुधै कथित ।

काव्य मे जब वाच्य अर्थ की अपेक्षा व्यङ्ग्य अर्थ का अधिक चमत्कार होता है, तो इसको उत्तम काव्य कहते है तथा विद्वानो द्वारा यह ध्वनि कहा गया है ।

ध्वनि के इस लक्षण मे यह भी कहा गया है कि अर्थ अपने को या शब्द अपने अर्थ को उपसर्जनीकृत करते है। इससे स्पष्ट है कि व्यङ्ग्य की प्रतीति शब्द और अर्थ दोनो से होती है । लक्षणामूल ध्वनि (अविवक्षितवाच्य) मे मुख्य रूप से शब्द के द्वारा व्यङ्ग्य की प्रतीति होती है । अभिधामूलध्वनि (विवक्षितान्यपरवाच्य) मे मुख्य रूप अर्थ द्वारा व्यङ्ग्य की प्रतीति होती है। शब्द और अर्थ से ध्वनि की प्रतीति होती है, इस दृष्टि से ध्वनि को शब्दशक्तिमूल और अर्थशक्तिमूल इन दो वर्गों मे विभक्त कर सकते है। कौनसी ध्वनि शब्दशक्तिमूल है और कौनसी अर्थशक्तिमूल है, इसका निश्चय अन्वयव्यतिरेक से किया जा सकता है। यदि किसी विशेष शब्द को हटा देने से व्यङ्ग्य अर्थ की प्रतीति न होने लगे, तो वह शब्दशक्तिमूल ध्वनि है, अन्यथा अर्थशक्तिमूल है ।

व्यङ्क्तः—'व्यङ्क्त' मे द्विवचन है। इस पर आपत्ति यह की जाती है कि यदि शब्द या अर्थ इन दोनो मे से कोई एक ही व्यञ्जक अथवा व्यञ्जक है, जैसेकि कारिका के 'वा' पद से प्रकट है, तो यहाँ द्विवचन क्यो है ? 'व्यनक्ति' इस प्रकार एकवचन ही होना चाहिये। यहाँ इस द्विवचन के द्वारा ध्वनिकार यह कहना चाहते हैं कि यद्यपि शब्द से या अर्थ से व्यङ्ग्य अर्थ की अभिव्यक्ति होती है, तथापि शब्द को व्यङ्ग्य अर्थ की अभिव्यञ्जना के लिए अर्थ की तथा अर्थ का व्यङ्ग्य अर्थ की अभिव्यञ्जना के लिये शब्द ही सहकारी रूप से अपेक्षा होती है । अत यहाँ द्विवचन का प्रयोग है। इस तथ्य को 'साहित्यदर्पण' मे इस प्रकार लिखा गया है—

शब्दबोध्यो व्यनक्त्यर्थ शब्दोऽप्यर्थान्तराश्रय ।

एकस्य व्यञ्जकत्वे तदन्यस्य सहकारिता ॥२ १८॥

मम्मट ने भी 'काव्यप्रकाश मे' व्यञ्जकत्व मे शब्द की तथा शब्द के व्यञ्जकत्व मे अर्थ की सहकारिता को स्वीकार किया है—

शब्दप्रमाणवेद्योऽर्थो व्यनक्त्यर्थान्तर यत ।

अर्थस्य व्यञ्जकत्वे तच्छब्दस्य सहकारिता ॥ काव्यप्रकाश ॥ ३ ३ ॥

अनेन वाच्यवाचकचारुत्वहेतुभ्य उपमादिभ्योऽनुप्रासादिभ्यश्च विभक्त एव ध्वनेर्विषय इति दर्शितम् ।

यदप्युक्तम्—'प्रसिद्धप्रस्थानातिक्रमिणो मार्गस्य काव्यत्वहानेर्ध्वनिर्नास्ति' इत, तदप्ययुक्तम् । यतो लक्षणकृतामेव स केवल न प्रसिद्धः, लक्ष्ये तु परीक्ष्यमाणे स एव सहृदयहृदयाह्लादि काव्यतत्त्वम् । ततोऽन्यच्चित्रमेवेत्यग्रे दर्शयिष्याम. ।

तद्युक्तो व्यञ्जक शब्द यत्मोऽर्थान्तरयुक्तया ।
अर्थोऽपि व्यञ्जकस्तत्र सहकारितया मत ॥२ १५॥

हिन्दी अर्थ—ध्वनि के इस लक्षण द्वारा यह प्रदर्शित कर दिया है कि वाच्य अर्थ और वाचक शब्द के चारुत्व के हेतु उपमा आदि तथा अनुप्रास आदि अलंकारो से ध्वनि का विषय भिन्न है ।

आनन्दवर्धन ने पिछले प्रकरण मे यह प्रतिपादित किया था कि वस्तु (वाच्य-अर्थ) से प्रतीयमान अर्थ भिन्न है । अब इस वाक्य को लिखने का उनका यह प्रयोजन है कि इस लक्षण के द्वारा वाच्य अर्थ को अलङ्कृत करने वाले उपमा आदि अलकारो तथा वाचक शब्द को अलङ्कृत करने वाले अनुप्रास आदि अलकारो को भी ध्वनि से पृथक् रूप वाला ही समझना चाहिये । उपमा आदि एव अनुप्रास आदि अलकार केवल वाच्य और वाचक को अलकृत करते हैं । परन्तु ध्वनि का स्थान इनसे उच्च है और अलकारो के अन्तर्गत ध्वनि का ग्रहण नही किया जा सकता । इससे ध्वनिकार ने ध्वनि-विरोधी अभाववादियो के इस प्रथम मत का खण्डन किया है कि ध्वनि का विषय प्राचीन प्रसिद्ध अर्थालङ्कारो और शब्दालकारो से अतिरिक्त नही हो सकता ।

स काव्यविशेष —कारिका मे 'स' पद की व्याख्या अभिनवगुप्त ने विशेष रूप से की है। इस पद का अर्थ है—अर्थो वा शब्दो वा व्यापारो वा । अर्थात् व्यङ्ग्य अर्थ, व्यङ्ग्य शब्द और व्यञ्जना व्यापार, ये तीनो ही ध्वनि हैं। यद्यपि ये तीनो पृथक् पृथक् रूप से भी ध्वनि हैं, तथापि कारिका म इन तीनो के समुदाय रूप काव्य को ध्वनि कहा गया है । इस प्रकार अभिनवगुप्त के मत म 'ध्वनि' सज्ञा का प्रयोग निम्न के लिये किया जा सकता है—(१) व्यञ्जक शब्द, (२) व्यङ्ग्य अर्थ, (३) व्यञ्जना व्यापार और इनका समुदाय रूप काव्य ।

ध्वनेर्विषय —ध्वनि का विषय । 'विषय' शब्द की निष्पत्ति 'षिञ् बन्धने' धातु से है । "विशेषेण सिनोति बध्नाति स्वसम्बन्धिन पदार्थमिति विषय" । जो अपने से सम्बन्धित पदार्थ को विशेष रूप से बाँध लेता है वह विषय है । इस व्युत्पत्ति से वाच्यवाचकचारुत्वहेतुओ स ध्वनि को पृथक् कह दिया गया है ।

हिन्दी अर्थ—यह जो कहा गया है—प्रसिद्ध प्रस्थान (प्राचीन प्रसिद्ध शब्दार्थ-शरीरं काव्यम वाला मार्ग) को अतिक्रमण करने वाले मार्ग में काव्यत्व की हानि होती है, इसलिये ध्वनि नहीं है, यह कहना भी ठीक नहीं है । क्योकि यह ध्वनि का मार्ग केवल लक्षण करने वालों के लिये ही प्रसिद्ध नही है, अपितु लक्ष्य ध्वनिकाव्य की परीक्षा करने पर यह सिद्ध होता है कि वह ध्वनि ही सहृदयो को आह्लादित करने वाला काव्य का सारतत्त्व है । उससे भिन्न काव्य जो कि ध्वनि से रहित है, केवल चित्रकाव्य ही है, इस बात को आगे दिखावेंगे ।

यदप्युक्तम—"कामनीयकमनतिवर्तमानस्य तस्योक्तालङ्कारादिप्रकारेष्वन्तर्भाव." इति, तदप्यसमीचीनम् । वाच्यवाचकमात्राश्रयिणि प्रस्थाने व्यङ्ग्यव्यञ्जकसमाश्रयेण व्यवस्थितस्य ध्वनेः कथमन्तर्भाव. । वाच्यवाचकचारुत्वहेतवो हि तस्याङ्गभूता, स त्वङ्गिरूप एवेति प्रतिपादयिष्यमाणत्वात् । परिकरश्चात्रश्लोक.—

व्यङ्ग्यव्यञ्जकसम्बन्धनिबन्धनतया ध्वने. ।
वाच्यवाचकचारुत्वहेत्वन्त पातिता कुत. ॥

पहले वाक्य म अभाववादियो के प्रथम मत का खण्डन करके ध्वनिकार अब उनके दूसरे मत का खण्डन कर रहे हैं, जो कि यह कहते हैं कि प्राचीन प्रसिद्ध अलकार, रीति, गुण आदि मार्गों स भिन्न अन्य कोई मार्ग काव्य का नही हो सकता। इस सम्बन्ध मे ध्वनिकार ने अभाववादियो की उन आपत्तिया का खण्डन किया है, जो यह कहते हैं कि ध्वनि का सिद्धान्त केवल काल्पनिक है, तथा उसका प्रत्यक्ष अस्तित्व नही है। आनन्दवर्धन का कहना है कि ध्वनि का लक्षण करने वाले आचार्य ही उस ध्वनि को नही अनुभव करते, परन्तु उत्तम ध्वनि काव्यो, रामायण आदि की इस दृष्टि से परीक्षा करने पर यह सिद्ध होता है कि उनम ध्वनि ही काव्य का सारभूत तत्त्व है, जो सहृदय जनो के हृदयो को आह्लादित करने वाला है। इससे भिन्न जिन काव्यो मे ध्वनि नही है, केवल अलकारा का बोझ है, उनको चित्रकाव्य कहा जाता है, जिनका वर्णन ध्वनिकार ने आगे तीसरे उद्योत म किया है।

चित्रभेद—व्यङ्ग्य अर्थ से रहित अलङ्कारमात्र की शोभा से युक्त काव्य को चित्रकाव्य कहा गया है। यह दो प्रकार का है—अर्थालङ्कारो से युक्त अर्थचित्र और शब्दालङ्कारो से युक्त शब्दचित्र। इनको ध्वनिकार ने इस प्रकार कहा है—

प्रधानगुणभावाभ्या व्यङ्ग्यस्यैव व्यवस्थिते ।
काव्ये उभे ततोऽन्यद्यत् तच्चित्रमभिधीयते ॥
चित्रशब्दार्थभेदेन द्विविध च व्यवस्थितम् ।
तत्र किञ्चिच्छब्दचित्र वाच्यचित्रमत परम् ॥

ध्वन्यालोक ३ ४२-४३ ॥

आचार्य मम्मट ने भी चित्रकाव्य का लक्षण इस प्रकार किया है—
शब्दचित्र वाच्यचित्रमव्यङ्ग्य त्ववर स्मृतम् ॥

काव्यप्रकाश १ ५ ॥

हिन्दी अर्थ—और यह जो कहा गया है—कमनीयता का अतिक्रमण न करने वाले उस ध्वनि का पहले कहे गये अलङ्कार आदि के प्रकारो मे ही अन्तर्भाव हो जाता है, यह बात भी ठीक नहीं है। अलङ्कार आदि का मार्ग केवलमात्र वाच्य और वाचक के आश्रय से होता है और ध्वनि की स्थिति व्यङ्ग्य और व्यञ्जक के आश्रय से होती है, तो उस मार्ग मे ध्वनि का अन्तर्भाव कैसे हो सकता है? इसके विपरीत

वाच्य और वाचक के चारुत्व के हेतु अलङ्कार तो उस ध्वनि के अङ्गभूत हैं तथा वह ध्वनि अङ्गीरूप है, इस तथ्य को हम आगे प्रतिपादित करेंगे। इस सम्बन्ध में यह परिकर श्लोक है—

ध्वनि का निबन्धन व्यङ्ग्यव्यञ्जक भाव के सम्बन्ध से होने के कारण उसका अन्तर्भाव वाच्य और वाचक के चारुत्व के हेतुओ, अलङ्कार आदियो मे कैसे हो सकता है।

अभाववादियो के पहले दो मतो का खण्डन करके ध्वनिकार अब तीसरे मत का, जो कि ध्वनि का समावेश अलङ्कार आदि में करते हैं, खण्डन कर रहे हैं।

उपमा और अनुप्रास आदि अलकार सदा वाच्य और वाचक को ही अलकृत करते हैं। अर्थात् उनके आश्रय से रहते हैं, परन्तु ध्वनि की स्थिति वाच्य वाचक के आश्रय से न होकर व्यङ्ग्य-व्यञ्जक के आश्रय से रहती है। व्यङ्ग्य अर्थ की अभिव्यक्ति सदा *व्यञ्जना व्यापार से होती है। इसलिये ध्वनि का अन्तर्भाव अलङ्कारो मे किसी भी* प्रकार नही हो सकता। ध्वनिकाव्य मे ध्वनि सदा अङ्गीरूप (आत्मतत्त्व के रूप मे प्रधानभूत) होती है तथा उपमा एव अनुप्रास आदि अलङ्कार वाच्य एव वाचक को *अलङ्कृत करके ध्वनि के अङ्गरूप मे (गुणीभूत रूप म) रहते हैं। अत ध्वनि का* अन्तर्भाव अलकारो मे कैसे हो सकता है?

अङ्गाङ्गिभाव—काव्य म जो प्रधान है, आत्मतत्त्व के रूप म है, उसको 'अङ्गी' कहते हैं। जो वस्तु उस आत्मतत्त्व को अलकृत करने वाली है, गौणरूप मे है, उसको 'अङ्ग' कहते है।

ध्वनिकार के इस कथन का समर्थन विद्यानाथ ने 'एकावली' मे इसप्रकार किया है—

"गुणेषु न तावद् ध्वनेरन्तर्भाव । नाप्यलङ्कारेषु। वाच्यमात्रविश्रान्तेषु श्लेषादिषु व्यभिचारात् ।"

'अलकारसर्वस्व' मे रुय्यक भी इस कथन का समर्थन करते हैं—

"तस्माद्विषय एव व्यङ्ग्यनामा जीवितत्वेन वक्तव्य । यस्य गुणालङ्कारकृत-परिग्रहसाम्राज्यम्। रसादयस्तु जीवितभूता नालङ्कारत्वेन वाच्या । अलङ्काराणामुप-स्कारकत्वात् रसाना च प्राधान्येन उपस्कार्यत्वात् । प्रतिपादयिष्यमाणत्वात्—आगे प्रति-*पादित किया जाने के कारण। ध्वनिकार ने कारिका म २५ मे इस तथ्य का* प्रतिपादन किया है।

परिकर श्लोक—जिस अर्थ का कारिका म अधिक स्पष्टीकरण नही है, उस अपेक्षित अर्थ को कहने वाला श्लोक परिकर श्लोक कहाता है। इसका स्पष्टीकरण अभिनवगुप्त ने इस प्रकार किया है—

"परिकरार्थं कारिकार्थस्य अधिकावाप कर्तुं श्लोक परिकरश्लोक ।"

परिकर के लिये, कारिका के अर्थ का अधिक आवाप करने के लिये जो श्लोक होता है, वह परिकर श्लोक है।

२०७ ननु यत्र प्रतीयमानार्थस्य वैशद्येनाप्रतीतिः, स नाम मा भूद्ध्वनेर्विषयः यत्र तु प्रतीतिरस्ति यथा समासोक्त्याक्षेपानुक्तनिमित्तविशेषोक्तिपर्यायोक्तापह्नुतिदीपकसङ्कराऽलङ्कारादौ, तत्रध्वनेरन्तर्भावो भविष्यति, इत्यादि निराकर्तुमभिहितम् "उपसर्जनीकृतस्वार्थौ" इति। अर्थो गुणीकृतात्मा, गुणीकृताभिधेयः शब्दो वा यत्रार्थान्तरमभिव्यनक्ति स ध्वनिरिति। तेषु कथं तस्यान्तर्भावः। व्यङ्ग्यप्राधान्ये हि ध्वनिः। न चैतत् समासोक्त्यादिष्विति।

हिन्दी अर्थ—कुछ विद्वान् यह कह सकते है कि जहाँ प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति स्पष्ट रूप से नहीं होती, वह ध्वनि का विषय न माना जावे, परन्तु जहाँ प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति है, जैसे कि समासोक्ति, आक्षेप, अनुक्तनिमित्त, विशेषोक्ति, पर्यायोक्त, अपह्नुति, दीपक, सङ्कर, अलङ्कार आदि मे है, वहाँ ध्वनि का अन्तर्भाव हो जायेगा। इस मत के निराकरण करने के लिये ध्वनि के लक्षण मे लिखा है—'उपसर्जनीकृतस्वार्थौ'। जहाँ अर्थ स्वयं को गुणीभूत करके या शब्द अपने अर्थ को गुणीभूत करके दूसरे अर्थ प्रतीयमान को अभिव्यक्त करता है वह ध्वनि है। इसलिये इन अलकारो में ध्वनि का अन्तर्भाव कैसे हो सकता है। ध्वनि निश्चय से वहीं होती है, जहाँ व्यङ्ग्य अर्थ की प्रधानता हो। परन्तु समासोक्ति आदि अलङ्कारो मे ऐसा नहीं है।

ध्वनि सिद्धान्त का विरोध करने वाले यह युक्ति दे सकते हैं—प्राचीन भामह, उद्भट आदि विद्वानो ने अपने ग्रन्थो मे ध्वनि या गुणीभूतव्यङ्ग्य का उल्लेख नहीं किया है, इससे यह सिद्ध नहीं हो जाता कि वे ध्वनि या व्यङ्ग्य अर्थ से परिचित नहीं थे। उनके द्वारा प्रतिपादित समासोक्ति, आक्षेप, विशेषोक्ति, पर्यायोक्त, अपह्नुति, दीपक, सङ्कर आदि अलङ्कारो मे प्रतीयमान अर्थ स्पष्ट रूप से अवभासित होता है, जो कि वस्तु, रस या अलङ्कार के रूप मे हो सकता है। अतः ध्वनि का अन्तर्भाव इन अलङ्कारो मे ही मानना चाहिये, इसको पृथक् रूप मे मानने की आवश्यकता नहीं है। इस युक्ति का खण्डन करने के लिये ही ध्वनिकार ने ध्वनि के लक्षण मे 'उपसर्जनीकृतस्वार्थौ' पद लिखा है।

ध्वनिकार के इस लेखन का अभिप्राय यह है कि प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति होने पर भी ध्वनि वहीं होती है, जहाँ वाच्य अर्थ स्वयं को गुणीभूत करके या वाचक शब्द अपने अर्थ को गुणीभूत करके प्रतीयमान अर्थ को व्यक्त करते हैं। अर्थात् प्रतीयमान अर्थ के प्रधान होने एवं वाच्यवाचक के गुणीभूत होने पर ही काव्य ध्वनिकाव्य होगा। यदि प्रतीयमान अर्थ के होने पर भी काव्य मे वाच्य-वाचक की प्रधानता है, अर्थ की विश्रान्ति वाच्य-वाचक में ही होती है, वहाँ गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य होगा। इस प्रकार ध्वनिकार के अनुसार प्राचीन आचार्यो द्वारा प्रतिपादित अलङ्कार दो प्रकार के हो सकते हैं—एक तो वे जिनमे प्रतीयमान अर्थ की अभिव्यक्ति नहीं है। दूसरे अलङ्कार वे हैं, जिनमे प्रतीयमान अर्थ भी अभिव्यक्त होता है, परन्तु काव्य मे यह अर्थ प्रधान न होकर गौण रूप से रहता है। समासोक्ति, आक्षेप आदि अलङ्कार इस वर्ग के हैं। ध्वनि-

समासोक्तौ तावत्—
उपोढरागेण विलोलतारकं तथा गृहीतं शशिना निशामुखम् ।
यथा समस्तं तिमिरांशुकं तया पुरोऽपि रागाद्गलितं न लक्षितम् ॥
इत्यादौ व्यङ्ग्येनानुगतं वाच्यमेव प्राधान्येन प्रतीयते । समारोपित नायिकानायकव्यवहारयोर्निशाशशिनोरेव वाक्यार्थत्वात् ।

कार का कथन है कि इन अलङ्कारों मे हम ध्वनि नही मान सकते अपितु इनको गुणीभूतव्यङ्ग्य कहा जा सकता है। इन अलङ्कारों की गुणीभूतव्यङ्ग्यता ध्वनिकार ने तीसरे उद्योत की ३८वी कारिका मे इन पंक्तियो मे प्रतिपादित की है—

येषु चालङ्कारेषु सादृश्यमुखेन तत्त्वप्रतिलम्भः यथा रूपकोपमातुल्ययोगिता निदर्शनादिषु तेषु गम्यमानधर्ममुखेनैव यत्सादृश्यं तदेव शोभातिशयशालि भवतीति ते सर्वेऽपि चारुत्वातिशययोगिनः सन्तो गुणीभूतव्यङ्ग्यस्यैव विषयाः । समासोक्त्याक्षेपपर्यायोक्तादिषु तु गम्यमानांशाविनाभावेनैव तत्त्वव्यवस्थानाद् गुणीभूतव्यङ्ग्यता निर्विवादैव। तत्र च गुणीभूतव्यङ्ग्यतायामलङ्काराणां केषांचिदलङ्कारविशेषगर्भतायां नियमः । यथा व्याजस्तुतेः प्रेयोऽलङ्कारगर्भत्वे । केषाञ्चिदलङ्कारगर्भतायां नियमः । यथा सन्देहादीनामुपमागर्भत्वे । केषाञ्चिदलङ्काराणां परस्परगर्भतापि सम्भवति यथा दीपकोपमयोः । तत्र दीपकमुपमागर्भत्वेन प्रसिद्धम् । उपमापि कदाचिद्दीपकच्छायानुयायिनी । यथा मालोपमा । तथाहि— प्रभामहत्या शिखयेव दीपः, इत्यादौ स्फुटैव दीपकच्छाया लक्ष्यते । तदेवं व्यङ्ग्यांशसंस्पर्शे सति चारुत्वातिशययोगिनो रूपकादयोऽलङ्काराः सर्व एव गुणीभूतव्यङ्ग्यस्य मार्गः । गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वं च तथा तथाजातीयानां सर्वेषामेवोक्तानामनुक्तानां सामान्यम् ।

इस प्रकार ध्वनिकार ने उन अलङ्कारो को जिनमे प्रतीयमान अर्थ अभिव्यक्त तो हुआ है परन्तु वह प्रधान नही है गुणीभूत काव्य के अन्तर्गत स्वीकार किया है। अब ध्वनिकार समासोक्ति आक्षेप आदि अलङ्कारो मे ध्वनि मे अन्तर्भाव का खण्डन कर रहे हैं।

समासोक्ति अलङ्कार मे ध्वनि का निराकरण—

समासोक्ति मे तो—

अन्वय—उपोढरागेण शशिना विलोलतारकं निशामुखं तथा गृहीतं यथा रागात् तया पुरः अपि गलितं समस्तं तिमिरांशुकं न लक्षितम् ।

हिन्दी अर्थ—सन्ध्याकालीन लालिमा को धारण करने वाले चन्द्रमा ने चञ्चल तारो से युक्त रात्रि के मुख (प्रारम्भ) को इस प्रकार ग्रहण कर लिया कि लालिमा के कारण उस रात्रि ने पूर्व दिशा मे ढल हुये भी अपने तिमिर के वस्त्र को लक्षित नहीं किया।

इस पद्य मे प्रस्तुत निशा और शशि के वृत्तान्त से किसी नायिका और नायक का अप्रस्तुत वृत्तान्त भी अभिव्यक्त हो रहा है। वह इस प्रकार है—

हिन्दी अर्थ—इत्यादि काव्य मे व्यङ्ग्य से अनुगत वाच्य अर्थ ही प्रधान रूप से प्रतीत हो रहा है क्योंकि जिन पर नायिका और नायक के व्यवहार का आरोप किया गया है वे निशा और शशि ही वाक्य के अर्थ हैं।

जिसका राग (प्रेमोन्माद) बहुत अधिक बढा हुआ है ऐसे शशि नामक नायक ने चञ्चल ताराओ (पुतलियो) वाली निशा नामक नायिका के मुख को इस प्रकार पकड लिया (चुम्बन के लिये) कि प्रमोन्माद (राग) के कारण उस नायिका ने सामने भी गिरे हुये अपने तिमिर सदृश नील वस्त्र को लक्षित नही किया।

इस पद्य मे समान विशेषणो के द्वारा प्रस्तुत शशि एव निशा के वृत्तान्त से प्रेमोन्मत्त नायक-नायिका वृत्तान्त अभिव्यक्त होने से समासोक्ति अलकार है। समासोक्ति अलङ्कार का लक्षण भामह ने इस प्रकार किया है—

यत्रोक्ते गम्यतेऽन्योऽर्थस्तत्समानविशेषण ।
सा समासोक्तिरुदिता सक्षिप्तार्थतया बुधै ॥ काव्यालकार ७ ७६ ॥

जिस उक्ति मे समान विशेषणो के कारण प्रस्तुत अर्थ के द्वारा अन्य अप्रस्तुत अर्थ की प्रतीति होती है, विद्वानो द्वारा उसको समासोक्ति अलङ्कार कहा गया है। सक्षेप से कहा जाने के कारण यह समासोक्ति है।

प्रस्तुत उदाहरण मे कवि ने रात्रि के प्रारम्भ क समय के चन्द्रोदय का वर्णन किया है। इसलिये यहाँ कवि का शशि और निशा का वर्णन करना अभिप्रेत है। परन्तु शशि और निशा के कार्य के रूप म जिन विशेषणो 'उपोढरागेण, निशामुखम्, विलोलतारकम्, रागात्, तिमिराशुकम्" का वर्णन किया गया है ये सब श्लिष्ट हैं, इनके सामर्थ्य से निशा और शशि मे समान चिह्न वाले नायिका एव नायक का व्यवहार व्यञ्जना वृत्ति द्वारा व्यञ्जित हो जाता है। उपोढरागेण = उपोढ राग सान्ध्यो रणिमा प्रेम च यस्य तेन। विलोलतारकम् विलोला तारका ज्योतीषि तारके कनीनिके वा यस्य तादृशम्। निशामुखम् = निशाया रात्र्या एतदुपलक्षण भूताया नायिकाया वा मुख प्रारम्भ वदन वा। यथा झटिति प्रेम रगभरण वा। रागात् सान्ध्यारुण्यात् स्नेहाद् वा। पुर पूर्वस्या दिशि अग्रे वा। तिमिराशुक चन्द्ररश्मिसवलित तम नीलवस्त्र वा। गलित प्रशान्त पतित वा।

रात्रि का आरम्भ होते ही पूर्व दिशा म चन्द्रमा का उदय हुआ, उस समय आकाश मे तारे झिलमिला रहे थे। अन्धकार से चन्द्रमा की किरणो का सम्मिश्रण होने से पूर्व दिशा मे लालिमा छाने लगी और यह विदित ही नही हुआ कि किस समय रात्रि के अन्धकार का आवरण हट गया। कवि यहाँ इस प्रकार चन्द्रोदय के वर्णन के प्रति उत्सुक है। परन्तु कवि के इस कथन से समान विशेषणो द्वारा यह अर्थ भी व्यञ्जित होता प्रतीत होता है—

प्रिय से मिलने के लिये निशा नाम की नायिका उपस्थित हुई। प्रेम मे उन्मत्त नायक ने चुपके से आकर नायिका के मुख को थामकर चुम्बन करना प्रारम्भ कर दिया। नायिका भी प्रेमरस मे विभोर हो गई। उसके मुख का नीला आवरण सामने ही नीचे गिर गया। परन्तु प्रेमरसविभोर नायिका ने यह जाना ही नही कि उसका आवरण कब गिरा।

आक्षेपेऽपि व्यङ्ग्यविशेषाक्षेपिणोऽपि वाच्यस्यैव चारुत्वं प्राधान्येन वाक्यार्थ आक्षेपोक्तिसामर्थ्यादेव ज्ञायते। तथाहि तत्र शब्दोपारूढो विशेषाभिधानेच्छाया प्रतिषेधरूपो य आक्षेपः स एव व्यङ्ग्यविशेषमाक्षिपन् मुख्य काव्यशरीरम्।

यद्यपि इस काव्य मे निशा शशि वाच्य अर्थ द्वारा नायिका नायक का व्यवहार भी व्यञ्जित होता है, परन्तु यहाँ कवि रात्रि के प्रारम्भ म चन्द्रोदय का वर्णन करने के लिये ही उत्सुक है और यह वर्णन ही प्रधान है अत व्यङ्ग्य अर्थ यहाँ गुणीभूत होगा। वाच्य अर्थ के प्रधान होने तथा व्यङ्ग्य अर्थ के गुणीभूत होने से यह काव्य गुणीभूतव्यङ्ग्य कहलायेगा। इसी को ध्वनिकार ने वृत्ति म इस प्रकार कहा है—

आक्षेप अलङ्कार मे ध्वनि के अन्तर्भाव का निषेध—

हिन्दी अर्थ—आक्षेप अलङ्कार मे भी व्यङ्ग्य विशेष का आक्षेप करने वाला होते हुये भी वाच्य अर्थ की ही चारुता है, क्योकि प्रधान रूप से वाक्य का अर्थ है, यह तथ्य आक्षेप की उक्ति के सामर्थ्य से जान लिया जाता है। क्योंकि वहाँ आक्षेप अलङ्कार मे विशेष बात को अभिधा द्वारा कहने की इच्छा से प्रतिषेध रूप जो आक्षेप है, वह ही व्यङ्ग्यविशेष को आक्षिप्त करता है और वह मुख्य काव्यशरीर है।

ध्वनि को अलङ्कार के अन्तर्गत सिद्ध करने के लिये दूसरा उदाहरण आक्षेप अलङ्कार का दिया गया है। भामह ने आक्षेप अलङ्कार का लक्षण इस प्रकार दिया है—

प्रतिषेध इवेष्टस्य यो विशेषाभिधित्सया।
वक्ष्यमाणोक्तविषय स आक्षेपो द्विधा मत ॥ काव्यालङ्कार २ ६८।

जहाँ किसी विशेष बात को कहने की इच्छा से इष्ट वस्तु का निषेध किया जाता है, वहाँ आक्षेप अलङ्कार होता है। यह दो प्रकार का होता है—(१) वक्ष्यमाण, आगे कही जाने वाली बात का पहले ही निषेध कर देना और (२) उक्तविषय, पहले कही गई बात का पीछे निषेध कर देना। वक्ष्यमाण का उदाहरण भामह ने निम्न दिया है—

अहं त्वां यदि नेक्षेय क्षणमप्युत्सुका तत ।
इयदेवास्त्वतोऽन्येन किमुक्तेनाप्रियेण ते ॥ काव्यालङ्कार २ ६९।

नायिका नायक से अपनी प्रेमभावना का निवेदन कर रही है—यदि मैं तुमको क्षण भर के लिये भी न देखूँ तो उत्कण्ठित होती हुई ······। तब नायक कहता है—इतना ही रहने दो। इस बात को छोड़ अप्रिय बात को कहने से क्या लाभ है?

नायिका नायक से यह कहना चाहती है कि यदि मैं तुमको क्षणभर के लिये भी नही देखूँगी तो मर जाऊँगी । इस प्रकार "मर जाऊँगी' यह वक्ष्यमाण विषय है । इस वक्ष्यमाण विषय का नायक द्वारा निषेध कर दिया जाने से यहाँ आक्षेप अलङ्कार है । अलङ्कारवादियो का कथन है कि यह वक्ष्यमाणविषय प्रतीयमान अर्थ है, अत ध्वनि का अन्तर्भाव अलङ्कारो म हो जायगा ।

इस सम्बन्ध मे ध्वनिकार का उत्तर वही है, जो समासोक्ति अलङ्कार म दिया गया है । ध्वनि वही होती है, जहाँ वाच्य की अपेक्षा व्यङ्ग्य अर्थ की प्रधानता हो । यहाँ व्यङ्ग्य अर्थ तो है, परन्तु वह प्रधान नही है । यह वाच्य अर्थ को अलकृत करके उसकी चारुता को प्रतिपादित करता है । अत इसको गुणीभूत व्यङ्ग्य माना जा सकता है ।

अभिनवगुप्त ने उक्तविषय आक्षेप का निम्न उदाहरण दिया है—

> भो भो किमकाण्ड एव पतितस्त्व पान्थ कान्या गति-
> स्तत्तादृक्तृषितस्य म खलमति सोऽय जल गूहते ।
> अस्थानोपनतामकालसुलभा तृष्णा प्रति क्रुध्य भो-
> स्त्रैलोक्यप्रथितप्रभाव महिमा मार्ग पुनर्मारव ॥

हे पथिक ! तुम तो अयोग्य स्थान पर क्यो आ पहुँचे हो ? उस प्रकार से प्यास से व्याकुल होते हुये मैं और क्या करता ? यह दुष्टबुद्धि वाला तो जल को छिपा लेता है । तुम गलत स्थान पर उत्पन्न होने वाली और असमय मे सुलभ प्यास के प्रति क्रोध करो । पुन , इस मरुभूमि के मार्ग क प्रभाव की महिमा तो तीनों लोको मे प्रसिद्ध है ।

कोई सेवक अपने कजूस स्वामी के पास प्राप्तव्य धन को पाने की आशा से पहुँचता है । इसके द्वारा देने से निषेध करने पर अन्य व्यक्ति इस आक्षेप द्वारा उसको प्रतिबोधित करता है । इस पुरुष की सेवा करना व्यर्थ है, इस निषेध रूप आक्षेप के द्वारा वाच्य का ही चमत्कारित्व प्रधान रूप से है, जो कि दुष्ट पुरुष की सेवा और इसकी विफलता से उत्पन्न उद्वेग के रूप म है तथा शान्त रस के स्थायी भाव निर्वेद के विभाव के रूप से चमत्कारी है ।

वामन ने आक्षेप का लक्षण दिया है—"उपमानाक्षेपश्चाक्षेप" (काव्यालकार-सूत्र ४.३.२७)। इस सूत्र की व्याख्या दो प्रकार से की गई है—(१) उपमानस्य आक्षेप. प्रतिषेध उपमानाक्षेप । उपमान का प्रतिषेध करना उपमानाक्षेप है । (२) उपमानस्य आक्षेपेन प्रतिपत्ति. । आक्षेप द्वारा उपमान का बोध होना उपमानाक्षेप है । इन दोनो के उदाहरण क्रमश. निम्न हैं—

> (१) तस्याश्चेन्मुखमस्ति सौम्यसुभग किं पार्वणेन्दुना
> सौन्दर्यस्य पद दृशौ च यदि चेत् किं नाम नीलोत्पलैः ।
> किं वा कोमलकान्तिभिः किसलयैः सत्येव तत्राधरे
> हा धातु पुनरुक्तवस्तुरचनारम्भेष्वपूर्वो ग्रह ॥

चारुत्वोत्कर्षनिबन्धना हि वाच्यव्यङ्ग्ययोः चारुत्वविवक्षा यथा—

अनुरागवती सन्ध्या दिवसस्तत्पुरःसरः ।
अहो दैवगतिश्चित्रा तथापि न समागमः ।।

अत्र सत्यामपि व्यङ्ग्यप्रतीतौ वाच्यस्यैव चारुत्वमुत्कर्षवदिति तस्यैव प्राधान्य विवक्षा ।

यदि उसका सौम्य और सुन्दर मुख है, तो पूर्णिमा के चन्द्रमा से क्या लाभ ? यदि सौन्दर्य के स्थानभूत उसकी दोनों आँखें है, तो नील कमलों से क्या लाभ ? यहाँ उसके अधर के होने पर कोमल कान्ति वाले किसलयों से क्या लाभ ? हाय ! एक बार निर्मित वस्तुओं का दुबारा बनाना आरम्भ करने में विधाता का अपूर्व आग्रह है। यहाँ उपमान 'पार्वणेन्दु' आदि के निषेध द्वारा उपमा यद्यपि व्यञ्जित होती है, तथापि यह वाच्य अर्थ की ही उपकारक है। यहाँ यह आक्षेप वाच्य होकर ही चमत्कार का आधायक है।

(२) ऐन्द्रं धनुः पाण्डुपयोधरेण शरद् दधानार्द्रनखक्षताभम् ।
प्रसादयन्ती सकलङ्कमिन्दुं तापं रवेरभ्यधिकं चकार ।।

पाण्डु वर्ण के मेघ के द्वारा ताजे नखक्षत की आभा वाले इन्द्रधनुष को धारण करती हुई और कलङ्क युक्त चन्द्रमा को प्रसन्न करती हुई शरद् ऋतु ने सूर्य के ताप को और भी अधिक बढ़ा दिया।

यहाँ आक्षेप द्वारा शरद् से नायिका, इन्दु से नायक और रवि से खलनायक इन उपमानों की अभिव्यक्ति होती है। इस प्रकार इस आक्षेप में प्रतीयमान अर्थ है। परन्तु यह प्रतीयमान अर्थ वाच्य अर्थ को ही अलङ्कृत करता है, अतः इसमें ध्वनि का समावेश नहीं हो सकता। इसको अभिनवगुप्त ने इस प्रकार स्पष्ट किया है—

इत्यत्रेर्ष्याकलुषितनायकान्तरमुपमानमाक्षिप्तमपि वाच्यार्थमेवालङ्करोति इत्येषा तु समासोक्तिरेव ।

इस उदाहरण में वामन के अनुसार आक्षेप अलङ्कार है, परन्तु भामह ने तथा उत्तरवर्ती आलङ्कारिकों ने इसमें समासोक्ति अलङ्कार माना है। वामन के द्वारा प्रतिपादित प्रथम प्रकार के आक्षेप को उत्तरवर्ती अलङ्कारिकों ने प्रतीप अलङ्कार माना है और दूसरे प्रकार के आक्षेप में भामह के सदृश ही समासोक्ति अलङ्कार माना है।

इस प्रकार ध्वनिकार ने समासोक्ति और आक्षेप अलङ्कारों में व्यङ्ग्य अर्थ के रहने पर भी उसके प्रधान रूप से चमत्कारी न होने एवं वाच्य अर्थ के प्रधान होने के कारण इनको ध्वनि स्वीकार नहीं किया। ध्वनिकार का कथन है कि वाच्य में वाच्य और व्यङ्ग्य अर्थों में जो अधिक चारु होता है, उसकी ही प्रधानता होती है। इसको वे इस प्रकार से स्पष्ट करते हैं—

हिन्दी अर्थ—वाच्य और व्यङ्ग्य अर्थों में प्राधान्य की विवक्षा उनके चारुत्व के उत्कर्ष के आधार पर ही होती है। जैसे—

सन्ध्या (सन्ध्याकाल अथवा सन्ध्या नाम की नायिका) अनुरागवती (सान्ध्य-कालीन लालिमा से युक्त अथवा प्रेम से भरी हुई) है और दिवस (दिन या दिवस नाम का नायक) तत्पुरःसर उस सन्ध्या के सम्मुख जा रहा है। अहो, भाग्य की गति कैसी विचित्र है कि तो भी उनका मिलन नहीं होता।

यथा च दीपकापह्नुत्यादौ व्यङ्ग्यत्वेनोपमायाः प्रतीतावपिप्राधान्येनाविवक्षितत्वान्न तया व्यपदेशस्तद्वदत्रापि द्रष्टव्यम् ।

यहाँ अनुरागवती सन्ध्या एवं पुरस्सरदिवस के वृत्तान्त से नायक नायिका का वृत्तान्त व्यञ्जित होता है। सन्ध्या काल और दिवस का मिलन तो प्राकृतिक कारणों से नहीं होता, परन्तु नायिका और नायक का मिलन गुरुजनों के बन्धन के कारण नहीं हो रहा। यहाँ यद्यपि व्यङ्ग्य अर्थ की प्रतीति तो है, परन्तु वाच्य अर्थ का चारुत्व अधिक होने से वह ही प्रधान रूप से विवक्षित है। अतः यह काव्य ध्वनि नहीं होगा।

इस स्थल की व्याख्या के प्रसङ्ग में अभिनवगुप्त का कथन है कि वामन के अनुसार यहाँ आक्षेप अलङ्कार है और भामह के अनुसार समासोक्ति। इस आशय को मन में रखकर समासोक्ति एवं आक्षेप दोनों में ही एक साथ ध्वनि का खण्डन करने के लिए ध्वनिकार ने यह उदाहरण दिया है। इसमें आलङ्कारिक चाहे समासोक्ति माने या आक्षेप माने, इससे कुछ नहीं होता। ग्रन्थकार को तो केवल यह सिद्ध करना है कि अलङ्कारों में ध्वनि का अन्तर्भाव नहीं होता और यह तथ्य इससे सिद्ध हो जाता है।

दीपक एवं अपह्नुति अलङ्कारों के समान ही पूर्वोक्त अलङ्कारों में ध्वनि का निराकरण—

हिन्दी अर्थ—जिस प्रकार दीपक एवं अपह्नुति अलङ्कारों में व्यङ्ग्य रूप में उपमा की प्रतीति होने पर भी उसके प्रधान रूप से विवक्षित न होने के कारण दीपक एवं अपह्नुति की ही प्रधानता होती है, उसी प्रकार यहाँ समासोक्ति और आक्षेप अलङ्कारों में व्यङ्ग्य अर्थ की प्रधानता से विवक्षा न होने से वाच्य अर्थ की ही प्रधानता होती है, ऐसा समझना चाहिये।

दीपक—'काव्यप्रकाश' में दीपक का लक्षण इस प्रकार किया गया है—

"सकृद्वृत्तिस्तु धर्मस्य प्रकृताप्रकृतात्मनाम् ।
सैव क्रियासु बह्वीषु कारकस्येति दीपकम् ॥ काव्यप्रकाश १० १०३ ॥

जहाँ उपमेय और उपमान में एक धर्म के सम्बन्ध का वर्णन किया जावे अथवा अनेक क्रियाओं में एक कारक कहा जावे, वहाँ दीपक अलङ्कार है।

लोचनकार ने दीपक का भामहकृत लक्षण दिया है—

"आदिमध्यान्तविषयं त्रिधा दीपकमिष्यते ॥" काव्यालङ्कार २ २५ ॥

आदिविषय, मध्यविषय और अन्तविषय के भेद से दीपक तीन प्रकार का है। इसका निम्न उदाहरण अभिनव गुप्त ने दिया है—

अनुक्तनिमित्तायामपि विशेषोक्तौ—

आहूतोऽपि सहायैः ओमित्युक्त्वा विमुक्तनिद्रोऽपि ।
गन्तुमना अपि पथिकः सङ्कोचं नैव शिथिलयति ।।

इत्यादौ व्यङ्ग्यस्य प्रकरणसामर्थ्यात् प्रतीतिमात्रम् ; न तु तत्प्रतीतिनिमित्ता काचिच्चारुत्वनिष्पत्तिरिति न प्राधान्यम् ।

मणि शाणोल्लीढ समरविजयी हेतिदलित
कलाशेषश्चन्द्रः सुरतमृदिता बालललना ।
मदक्षीणो नाग शरदि सरिदाश्यानपुलिना
तनिम्ना शोभन्ते गलितविभवाश्चार्थिषु जना ।।

सान पर निखारी हुई मणि, शस्त्र से घायल युद्धविजयी, कलामात्र अवशिष्ट चन्द्रमा, सुरत म मसली गई किशोरी, मद के बहन स क्षीण हाथी, शरद् ऋतु में सूखे पुलिन वाली नदी और याचको को दान देने के कारण क्षीण धन वाले मनुष्य अपनी कृशता से ही शोभित होते हैं ।

यहाँ 'क्षीणविभव पुरुष' प्रकृत तथा 'शाणोल्लीढमणि' आदि अप्रकृत हैं । इन प्रकृत-अप्रकृतो म एक ही धर्म का सम्बन्ध 'तनिम्ना शोभन्ते' का कथन किया जाने से दीपक अलकार है । यद्यपि इस अलङ्कार म प्रकृत एव अप्रकृत से उपमान उपमेय व्यङ्ग्य है, तथापि दीपक का अधिक चारुत्व होने से वह ही प्रधान है ।

अपह्नुति—अभिनवगुप्त न भामहकृत अपह्नुति का यह लक्षण उद्धृत किया है—

"अपह्नुतिरभीष्टस्य किञ्चिदन्तर्गतोपमा" काव्यालकार ३ २१ ।।

अभीष्ट का निषेध करना, जिसम कि उपमा कुछ अन्तर्गत होती है, अपह्नुति अलकार है । जैसे—

नेय विरौति भृङ्गाली मदेन मुखरा मुहु ।
अयमाकृष्यमाणस्य कन्दर्पधनुषो ध्वनि ।।

यह मद से मुखर भौरा की पक्ति गुन्जार नही कर रही, अपितु यह खीचे जाते हुये कामदेव के धनुष की ध्वनि है ।

यद्यपि यहाँ भौरो के गुन्जन एव कामदेव के धनुष की ध्वनि मे उपमान-उपमेयभाव व्यङ्ग्य है, तथापि अर्थ का चमत्कार वाच्य अपह्नुति अलङ्कार म ही है ।

इस सम्बन्ध मे ध्वनिकार का कथन है कि जिस प्रकार दीपक और अपह्नुति अलकारो मे उपमा के व्यङ्ग्य होने पर भी वाच्य दीपक एव अपह्नुति अलकारो की ही उनके चारुत्व के कारण प्रधानता है, उसी प्रकार से समासोक्ति और आक्षेप अलङ्कारो मे भी व्यङ्ग्य के होने पर भी उन वाच्य अलङ्कारो की प्रधानता है । अत. ध्वनि का अन्तर्भाव इन अलङ्कारो म नहीं किया जा सकता ।

अनुक्तनिमित्ता विशेषोक्ति मे ध्वनि के अन्तर्भाव का खण्डन—

हिन्दी अर्थ—अनुक्तनिमित्ता विशेषोक्ति मे तो—

सहायकों द्वारा पुकारा जाता हुआ भी, 'हां' इस प्रकार कह कर नींद को त्याग देने पर भी, जाने की इच्छा वाला भी पथिक अपने सकोच को छोड ही नहीं रहा है।

इत्यादि उदाहरणो मे प्रकरण के सामर्थ्य से व्यङ्ग्य की प्रतीतिमात्र है। परन्तु उस प्रतीति के निमित्त से किसी चारुत्व की निष्पत्ति नहीं होती। इसलिये यहां उस व्यङ्ग्य अर्थ की प्रधानता नहीं है।

अभिनवगुप्त ने विशेषोक्ति का भामहकृत लक्षण उद्धृत किया है—

एकदेशस्य विगमे या गुणान्तरसस्तुति ।
विशेषप्रथनायासौ विशेषो क्तिरिति स्मृता ।।

काव्यालकार ३ २२

एक देश के न रहने पर विशेष अर्थ को प्रसिद्ध करने के लिये जो गुणान्तर का कथन किया जाता है वह विशेषोक्ति अलकार कहा गया है।

उत्तरवर्ती आचार्यों ने विशेषोक्ति का लक्षण भिन्न प्रकार से किया है। आचार्य मम्मट कृत लक्षण इस प्रकार से है—

"विशेषोक्तिरखण्डेषु कारणेषु फलावच ।' काव्यप्रकाश १० १०८ ।।

सम्पूर्ण कारणो के विद्यमान रहने पर भी फल का कथन न करना विशेषोक्ति है। यह विशेषोक्ति तीन प्रकार की है—अचिन्त्यनिमित्ता, उक्तनिमित्ता मे व्यङ्ग्य अर्थ ही नही होता, अत उनके ध्वनि होने का प्रश्न ही नही हैं। जैसे—

अचिन्त्यनिमित्ता विशेषोक्ति का उदाहरण—

स एकस्त्रीणि जयति जगन्ति कुसुमायुध ।
हरतापि तनु यस्य शम्भुना न हृत बलम् ।।

वह कामदेव अकेला ही तीनो लोको को जीत लेता है, शिवजी ने जिस कामदेव के शरीर को नष्ट करके भी बल को नष्ट नही किया। इस विशेषोक्ति मे अशरीरी कामदेव द्वारा तीनो लोको के जीत लेने के निमित्त को 'उसके बल का हरण न किया जाना' अचिन्त्य रूप से कह देने से यहाँ व्यङ्ग्य अर्थ नही है।

उक्तनिमित्ता विशेषोक्ति का उदाहरण—

कर्पूर इव दग्धोऽपि शक्तिमान् यो जने जन ।
नमोऽस्त्ववार्यवीर्याय तस्मै मकरकेतवे ।।

कपूर के समान जला हुआ भी जो कामदेव जन जन के प्रति शक्तिमान् है, अवार्य पराक्रम वाले उस कामदेव के लिये नमस्कार है।

इस उक्तनिमित्ता विशेषोक्ति म भी व्यङ्ग्य अर्थ का अस्तित्व नही है। विशेषोक्ति के इन दोनों भेदा म व्यङ्ग्य अर्थ के अस्तित्व के न रहने के कारण

पर्यायोक्तेऽपि यदि प्राधान्येन व्यङ्ग्यत्वं तद् भवतु नाम तस्य ध्वनावन्तर्भावः, न तु ध्वनेस्तत्रान्तर्भावः। तस्य महाविषयत्वेन, अङ्गित्वेन च प्रतिपादयिष्यमाणत्वात्। न पुन पर्यायोक्ते भामहोदाहृतसदृशे व्यङ्ग्यस्यैव प्राधान्यम्। वाच्यस्य तत्रोपसर्जनीभावेनाविवक्षितत्वात्।

ध्वनिकार ने इनके उदाहरण प्रस्तुत नहीं किये, अपितु व्यङ्ग्य अर्थ के विद्यमान रहने के कारण अनुक्तनिमित्ता विशेषोक्ति का ही उदाहरण प्रस्तुत किया है।

अनुक्तनिमित्ता विशेषोक्ति के उदाहरण "आहूतोऽपि सहायैः" में सङ्कोच के शिथिल न करने के निमित्त की कल्पना व्यङ्ग्य है। इस सम्बन्ध में भट्टोद्भट 'शीत के आधिक्य' को निमित्त माना है। परन्तु दूसरे रसिक इसमें निमित्त की इसप्रकार कल्पना करते हैं—

वह पथिक प्रिया से मिलने के लिये जा रहा है। परन्तु गमन की अपेक्षा स्वप्न में प्रियामिलन को सुगम उपाय समझकर वह सङ्कोच को नहीं छोड़ रहा है और सिकुड़ा हुआ शय्या पर पड़ा है।

अभिनवगुप्त का कथन है कि इनमें से चाहे किसी को भी निमित्त समझा जावे, वह चारुत्व का हेतु नहीं है। ध्वनिकार के अनुसार प्रकरण के सामर्थ्य से इस व्यङ्ग्य अर्थ की प्रतीति हो जाती है, परन्तु इस प्रतीति के द्वारा किसी चारुत्व की निष्पत्ति नहीं होती। अतः यहाँ व्यङ्ग्य अर्थ की प्रधानता न होने से ध्वनि नहीं हो सकती।

पर्यायोक्त अलङ्कार मे ध्वनि के अन्तर्भाव का निषेध—

हिन्दी अर्थ—पर्यायोक्त अलङ्कार मे भी यदि व्यङ्ग्य अर्थ की प्रधानता है तो उसका ध्वनि अन्तर्भाव हो सकता है, परन्तु ध्वनि का उसमे अन्तर्भाव नहीं हो सकता, क्योंकि ध्वनि तो महाविषय एवं अङ्गी रूप है, इसको प्रतिपादित किया जायेगा। पुनः, भामह ने जो पर्यायोक्त का उदाहरण दिया है, उसमें व्यङ्ग्य अर्थ की प्रधानता है ही नहीं। यहाँ वाच्य अर्थ का उपसर्जनीभाव (गौणत्व) विवक्षित नहीं है। अर्थात् यहाँ वाच्य अर्थ की प्रधानता होने से उसको ध्वनि नहीं कहा जा सकता।

पर्यायोक्त का भामहकृत लक्षण इस प्रकार है—

पर्यायोक्तं यदन्येन प्रकारेणाभिधीयते।
वाच्यवाचकवृत्तिभ्यां शून्येनावगमात्मना॥ काव्यालङ्कार ३ ८॥

जब किसी अन्य प्रकार से, जहाँ वाच्य-वाचक व्यापार न हो, कथन किया जाता है तो वहाँ पर्यायोक्त अलङ्कार होता है। 'साहित्यदर्पण' एवं काव्यप्रकाश में भी पर्यायोक्त के लक्षण इसी प्रकार दिये गये हैं—

"पर्यायोक्तं यदा भङ्ग्या गम्यमेवाभिधीयते" ॥ साहित्यदर्पण १० ६० ॥
पर्यायोक्तं विना वाच्यवाचकत्वेन यद्वचः ॥ काव्यप्रकाश १० ११५ ॥

जब प्रकारान्तर से वाच्य-वाचकत्व के बिना कोई कथन किया जाता है, तो उसको पर्यायोक्त अलङ्कार कहते हैं। अभिप्राय यह है कि जब प्रकारान्तर से प्रकृत अर्थ को अभिधा द्वारा कहा जाता है वहाँ पर्यायोक्त अलङ्कार होता है। जैसे—

शत्रुच्छेददृढेच्छस्य मुनेरुत्पथगामिनः ।
रामस्यानेन धनुषा देशिता धर्मदेशना ॥

शत्रु का विनाश करने की दृढ इच्छा वाले और उच्छृंखल मार्ग पर गमन करने वाले परशुराम के लिये इस (भीष्म के) धनुष ने धर्म का उपदेश दे दिया।

यहाँ 'भीष्म ने युद्ध में परशुराम को पराजित कर दिया,' यह अर्थ व्यङ्ग्य है। प्रकारान्तर से गम्यमान इस अर्थ को कवि ने दूसरे प्रकार से कहा है, अत यहाँ पर्यायोक्त अलङ्कार है। इस पर्यायोक्त में व्यङ्ग्य अर्थ तो है, परन्तु वह प्रधान नही है और वाच्य को ही अलङ्कृत करता है। इसलिये यहाँ ध्वनि नही हो सकती।

पर्यायोक्त अलङ्कार के सम्बन्ध मे ध्वनिकार का कथन है कि इसमें दो प्रकार की स्थितियाँ हो सकती है—(१) इसमें व्यङ्ग्य अर्थ की प्रधानता हो सकती है (२) व्यङ्ग्य अर्थ गौण रूप से निहित होकर वह वाच्य का उपकारक हो सकता है। पहले प्रकार की स्थिति मे पर्यायोक्त अलङ्कार का ध्वनि में अन्तर्भाव हो जायगा। परन्तु ध्वनि का अन्तर्भाव पर्यायोक्त में नही होगा। कारण यह है कि जहाँ जहाँ ध्वनि हो, वहाँ वहाँ पर्यायोक्त अलङ्कार भी हो, ऐसा नहीं है, इसके विपरीत व्यङ्ग्य-अर्थ-प्रधान पर्यायोक्त में ध्वनि हो सकती है। अत व्यङ्ग्यार्थ प्रधान पर्यायोक्त का अन्तर्भाव तो ध्वनि में ही हो सकता है, ध्वनि का अन्तर्भाव पर्यायोक्त में नहीं हो सकेगा। ध्वनिकार ने ध्वनि को महाविषय—व्यापक रूप में और अङ्गीरूप में प्रतिपादित किया है।

ध्वनिकार का यह भी कथन है कि अलङ्कार के कुछ उदाहरणों में व्यङ्ग्य अर्थ अवश्य ही प्रधान रूप से निहित रहता है, परन्तु सब उदाहरणों में ऐसा नही है। स्वय भामह द्वारा उदाहृत पद्य में व्यङ्ग्य अर्थ की प्रधानता नही है।

पर्यायोक्त अलङ्कार के उदाहरण के रूप में "भ्रम धार्मिक विस्रब्धः" उदाहरण भी दिया गया है। इस उदाहरण में निश्चय रूप से निषेध रूप व्यङ्ग्य अर्थ की प्रधानता है। अत इसको ध्वनि का उदाहरण कहा गया है। भामह ने पर्यायोक्त अलङ्कार का निम्न उदाहरण दिया है—

गृहेष्वध्वसु वा नान्नं भुञ्ज्महे यदधीतिनः ।
विप्रा न भुञ्जते तच्च रसदाननिवृत्तये ॥

स्वाध्याय करने वाले ब्राह्मण जिस अन्न को नहीं खाते, हम घरों में एवं मार्गों में रसदान (विषदान) की निवृत्ति के लिये उस अन्न को नही खाते हैं।

यह कृष्ण की शिशुपाल के प्रति उक्ति है। जिसका भाव यह है कि हम ब्राह्मणों को भोजन कराये बिना भोजन नहीं करते हैं। यहाँ रसदाननिवृत्ति पद से विषदाननिवृत्ति अर्थ व्यङ्ग्य रूप से प्रतीत होता है। परन्तु यह व्यङ्ग्य-अर्थ-प्रधान नही है। इस व्यङ्ग्य अर्थ के द्वारा वाच्य अर्थ 'ब्राह्मणों को भोजन कराये बिना भोजन न करना' का उपकार होने से वाच्य अर्थ ही प्रधान होगा। उसकी उपसर्जनी-[illegible] नहीं कहा जा सकता।

अपह्नुतिदीपकयोः पुनर्वाच्यस्य प्राधान्यं व्यङ्ग्यस्य चानुयायित्वं प्रसिद्धमेव ।

सङ्करालङ्कारेऽपि यदाऽलङ्कारोऽलङ्कारान्तरच्छायामनुगृह्णाति, तदा व्यङ्ग्यस्य प्राधान्येनाविवक्षितत्वान्न ध्वनिविषयत्वम् । अलङ्कारद्वयसम्भावनायान्तु वाच्यव्यङ्ग्ययोः समं प्राधान्यम् । अथ वाच्योपसर्जनीभावेन व्यङ्ग्यस्य तत्रावस्थानं तदासोऽपि ध्वनिविषयोऽस्तु, न तु स एव ध्वनिरिति वक्तुं शक्यम् । पर्यायोक्तनिर्दिष्टन्यायात् । अपि च सङ्करालङ्कारेऽपि च क्वचित् सङ्करोक्तिरेव ध्वनिसम्भावनां निराकरोति ।

इस कारण पर्यायोक्त अलंकार में जहाँ व्यङ्ग्य अर्थ की प्रधानता है । जैसे—'भ्रम धार्मिक विसब्ध' में, वहाँ ध्वनि हो सकती है । परन्तु जहाँ व्यङ्ग्य अर्थ वाच्य अर्थ का उपकारक होगा और वाच्य अर्थ की प्रधानता होगी, वहाँ वाच्य पर्यायोक्त अलंकार ही होगा ।

अपह्नुति और दीपक अलंकार में ध्वनि के अन्तर्भाव का निषेध—

हिन्दी अर्थ—अपह्नुति और दीपक अलङ्कारों में पुनः वाच्य अर्थ की प्रधानता और व्यङ्ग्य अर्थ का वाच्यानुगामी होना प्रसिद्ध ही है ।

अपह्नुति और दीपक अलङ्कारों का उल्लेख पीछे किया जा चुका है—'यथा च दीपकापह्नुत्यादौ व्यङ्ग्यत्वेनोपमायाः प्रतीतावपि प्राधान्येनाविवक्षितत्वान्न तया व्यपदेशस्तद्वदत्रापि द्रष्टव्यम्' । इस प्रसङ्ग में ध्वनिकार यह प्रतिपादित कर चुके हैं कि दीपक और अपह्नुति में यद्यपि उपमा व्यङ्ग्य है, तथापि उसमें चारुत्व की विश्रान्ति न होने से वह प्रधान रूप से विवक्षित नहीं है, अतः उन अलङ्कारों में ध्वनि नहीं है । पहले इन अलङ्कारों का उल्लेख करने पर भी यहाँ पुनः उल्लेख क्रम से प्राप्त होने के कारण किया गया है, क्योंकि "समासोक्त्याक्षेपानुक्तनिमित्त-विशेषोक्तिपर्यायोक्तापह्नुतिदीपकसङ्करालङ्कारादौ' वाक्य में पर्यायोक्त अलङ्कार के बाद अपह्नुति और दीपक अलङ्कार का कथन किया गया है ।

सङ्कर अलङ्कार में ध्वनि के अन्तर्भाव का निषेध—

हिन्दी अर्थ—सङ्कर अलङ्कार में भी जब एक अलङ्कार दूसरे अलङ्कारों के सौन्दर्य को पुष्ट करता है, तब व्यङ्ग्य अर्थ के प्रधान रूप से विवक्षित न होने के कारण वह ध्वनि का विषय नहीं हो सकता । दो अलङ्कारों की सम्भावना होने पर वाच्य और व्यङ्ग्य की प्रधानता समान होती है, अतः वहाँ भी ध्वनि नहीं हो सकती । यदि इसमें वाच्य के उपसर्जनीभूत (गुणीभूत) होकर व्यङ्ग्य की स्थिति हो (व्यङ्ग्य प्रधान रूप से हो), तो वह भी ध्वनि का विषय हो सकता है । परन्तु वह ही ध्वनि है, यह नहीं कहा जा सकता, जैसे कि पर्यायोक्त अलङ्कार के विवेचन में प्रतिपादित किया जा चुका है । इसके अतिरिक्त एक बात यह है कि सङ्कर अलङ्कार में कहीं भी (सब स्थानों पर) सङ्कर शब्द का कथन ही ध्वनि की सम्भावना का निराकरण कर देता है ।

लक्षण ग्रन्थो मे पृथक् पृथक् अलङ्कारो के पृथक्-पृथक् लक्षण कहे गये है। परन्तु अनेक बार ये परस्पर मिश्रित भी हो सकते है। यह स्थिति दो प्रकार से हो सकती है—संसृष्टि और सकर, जैसा कि विश्वनाथ ने लिखा है—

यद्येत एवालङ्कारा परस्परविमिश्रिता ।
तदा पृथगलङ्कारी संसृष्टि सकरस्तथा ॥ साहित्यदर्पण १० ९७॥

सङ्कर अलङ्कार के तीन भेद आलङ्कारिको ने किये है—अङ्गाङ्गिभाव सङ्कर, एकाश्रयानुप्रवेश सङ्कर और सन्देहसङ्कर। भामह आदि ने एकाश्रयानुप्रवेश सङ्कर के पुन दो भेद किये है—एकवाक्यप्रवेश और एकवाक्याश प्रवेश। ध्वनिकार ने इनमे ध्वनि का निषेध किया है, केवल अङ्गाङ्गिभाव सकर म ही कही-कही ध्वनि का विषय सम्भव माना है। इन अलङ्कारो मे व्यङ्ग्य की स्थिति एव उनम ध्वनि का निषेध या प्रतिपादन इस प्रकार है—

(१) सन्देह सकर—

सन्देह सङ्कर का लक्षण भामह ने इस प्रकार दिया है—

विरुद्धालङ्क्रियोल्लेखे सम तद्वृत्त्यसम्भवे ।
एकस्य च ग्रहे न्यायदोषाभावे च सङ्कर ॥

परस्पर विरुद्ध दो अलङ्कारो के उपस्थित होने पर और दोनो की उपस्थिति साथ सम्भावित न होने पर किसी एक के ग्रहण करने एव दूसरे को छोडने मे युक्ति या दोष न होने पर सङ्कर (सन्देह सङ्कर) अलङ्कार होता है।

इसके उदाहरण के रूप म लोचनकार ने स्वरचित श्लोक दिया है—

शशिवदनाऽसितसरसिजनयनासितकुसुमदशनपङ्क्तिरियम् ।
गगनजलस्थलसम्भवहृद्याकारा कृता विधिना ॥

चन्द्रमुखी, नीलकमल नयनी और शुभ्रकुसुमदशनावली इस नायिका को विधाता ने आकाश, जल और स्थल म उत्पन्न होने वाले सुन्दर पदार्थों के आकार वाला बनाया है।

इस श्लोक मे नायिका के 'शशिवदना' आदि विशेषण कहे गये हैं। इसमे "शशी एव वदन यस्या सा शशिवदना" और "शशी इव वदन यस्या सा", इस प्रकार दो प्रकार से विग्रह करने पर रूपक या उपमा अलङ्कार हो सकता है। यहाँ इन दोनो अलकारो म से किस अलकार की उपस्थिति मानी जाय, इस सम्बन्ध मे युक्तियो और दोषो के अभाव के कारण निश्चय नही हो सकता। अत रूपक और उपमा दोनों अलकारो की समान रूप से प्रधानता है। यह निश्चय करना भी कठिन है कि इन दोनों मे से कौनसा अलङ्कार व्यङ्ग्य है और कौन सा वाच्य है। इस कारण यह सन्देहसङ्कर अलङ्कार ध्वनि का विषय नही हो सकता। सन्देहसङ्कर अलङ्कार मे ध्वनि का निषेध करने के लिये ही ध्वनिकार ने लिखा—'अलङ्कारद्वयसम्भावनायां तु वाच्यव्यङ्ग्ययो सम प्राधान्यम्'।

(२) एकाश्रयानुप्रवेश संकर—

जहाँ एक ही स्थल मे दो अलकार रहते है, वह एकाश्रयानुप्रवेश सकर है। भामह ने इसके दो भेदो का वर्णन किया है—

शब्दार्थवर्त्यलकारा वाक्य एकत्र वर्तिन ।
सङ्करश्चैकवाक्यांशप्रवेशाद्वाभिधीयते ॥

शब्दालकार और अर्थालकार जहाँ एक ही वाक्य मे स्थित हो, तब एकवाक्य-प्रवेश और एकवाक्यांशप्रवेश के भेद से दो प्रकार का सङ्कर होता है।

एकवाक्यप्रवेश का उदाहरण—

"स्मर स्मरमिव प्रिय रमयसे यमालिङ्गनात् ।"

कामदेव के सदृश उस प्रिय का स्मरण करो, जिसके आलिङ्गन से तुम रमण करती हो।

यहाँ 'स्मर, स्मर' पद की आवृत्ति से यमक अलङ्कार है और 'स्मरमिव' में उपमा अलङ्कार है। इन दोनों अलङ्कारो की स्थिति एक वाक्य म होने से यह एकवाक्यप्रवेश सङ्कर है। इस सङ्कर म कोई भी अलङ्कार प्रतीयमान नही हैं, दोनो ही वाच्य हैं। अत इनमे गौण या प्रधान का भाव न होने से ध्वनि नही हो सकती।

एकवाक्यांशप्रवेश का उदाहरण—

तुल्योदयावसानत्वाद् गतेऽस्त प्रति भास्वति ।
वासाय वासर क्लान्तो विशतीव तमोगुहाम् ॥

सूर्य और दिन का उदय और अवसान तुल्य होने के कारण सूर्य के अस्त हो जाने पर खिन्न होता हुआ दिन निवास करने के लिये मानो अन्धकार रूपी गुफा मे प्रवेश कर रहा है।

यहाँ 'इव' पद से उत्प्रेक्षा अलङ्कार है और 'तमोगुहाम्' पद मे एकदेशविवर्ति रूपक अलङ्कार है। यह अलङ्कार "सूर्य की विपत्ति म दिन का अन्धकार रूपी गुफा मे प्रवेश, स्वामि की विपत्ति मे समुचित व्रतग्रहण म प्रयत्नशील कुलपुत्र" का स्मरण करता है। यहाँ उत्प्रेक्षा और रूपक दोनों के वाच्य होने से ध्वनि नही हो सकती।

(३) अङ्गाङ्गिभाव सङ्कर—

जहाँ अलङ्कार परस्पर एक दूसरे का उपकार करके स्थित होते हैं, वह अङ्गाङ्गिभाव सङ्कर है। अभिनवगुप्त ने इसको चौथा प्रकार करके लिखा है (चतुर्थस्तु प्रागेव यत्र)। भामह ने इसका लक्षण इस प्रकार दिया है—

परस्परोपकारेण यत्रालङ्कृतय स्थिता ।
स्वातन्त्र्येणात्मलाभ नो लभन्ते सोऽपि सङ्कर ॥

जहाँ और अलङ्कार परस्पर उपकार के भाव से स्थित होते है और स्वतन्त्र रूप से आत्मलाभ प्राप्त नही करते, वह भी सङ्कर है।

जैसे—

प्रवातनीलोत्पलनिर्विशेष मधीरविप्रेक्षितमायताक्ष्या ।
तया गृहीत नु मृगाङ्गनाभ्यस्ततो गृहीत नु मृगाङ्गनाभि ॥

यह 'कुमारसम्भव' का श्लोक (१ ४६) है। उस दीर्घ लोचनो वाली पार्वती ने तेज वायु से हिलते हुये नील कमलो के सदृश अधीर दृष्टिपात को क्या मृगाङ्गनाओं से ग्रहण किया था, अथवा मृगाङ्गनाओं ने पार्वती से उसे ग्रहण किया था ?

यहाँ सन्देह अलङ्कार वाच्य है तथा उससे पार्वती की दृष्टि एव मृगाङ्गनाओं की दृष्टि, यह उपमा व्यङ्ग्य होती है। परन्तु यह उपमाजनित चमत्कार सन्देह की शोभा का ही पोषण करता है। अत व्यङ्ग्य उपमा के गुणीभूत हो जाने से यहाँ ध्वनि नही है।

इस प्रकार ध्वनिकार ने यह प्रदर्शित किया है कि सङ्कर अलङ्कार के किसी भी भेद मे ध्वनि नही होती। परन्तु यदि कही वाच्य अलङ्कार गुणीभूत होकर व्यङ्ग्य **अलङ्कार प्रधान** रूप से स्थित हो, तो वहाँ ध्वनि हो सकती है। जैसे—

होइ ण गुणाणुराओ खलाण णवर पसिद्धिसरणाणम।
किर पह्णिसइ ससिमणि चन्दे पिआमुहे दिट्ठे॥
(भवति न गुणानुराग खलाना केवल प्रसिद्धिशरणानाम्।
कि प्रस्नौति शशिमणि चन्द्रे न प्रियामुखे दृष्टे॥)

केवल प्रसिद्धि को ही चाहने वाले दुष्ट मनुष्यो को गुणो के प्रति अनुराग नही होता। चन्द्रकान्त मणि चन्द्रमा को देखकर ही द्रवित होता है प्रिया के मुख को देखकर नही।

इस पद्य मे अर्थान्तरन्यास अलङ्कार वाच्य है एव व्यतिरेक और अपह्नुति अलङ्कार व्यङ्ग्य है। व्यङ्ग्य अलङ्कारो के अतिशय चमत्कार जनक होने से यहाँ ध्वनि होगी।

जिन स्थलो मे व्यङ्ग्य अलङ्कारो की प्रधानता होगी वहाँ ध्वनि होगी, इसकी पुष्टि ध्वनिकार ने "सोऽप्यिध्वनिविषयोऽस्तु" कह कर की है। परन्तु सङ्कर मे सब स्थानो ध्वनि उसी प्रकार से नही हो सकती, जैसा कि पर्यायोक्त अलङ्कार के प्रसङ्ग मे प्रतिपादित किया जा सकता है। ध्वनि के महाविषय होने के कारण और अङ्गी होने के कारण इस प्रकार के सङ्कर के स्थलो मे ध्वनि तो हो सकती है, परन्तु उसमे ध्वनि का अन्तर्भाव नही हो सकता।

ध्वनिकार की यह भी मान्यता है कि सङ्करालङ्कार मे ध्वनि की स्थिति कही भी नही हो सकती। इसमे सङ्कर शब्द की उपस्थिति ही ध्वनि का निराकरण कर देती है। सङ्कीर्णता का अभिप्राय लोलीभाव अर्थात् परस्पर मिलकर एकाकार हो जाना है। तो उनमे गुणप्राधान्यभाव नही हो सकता और किसी अलकार के गौण या प्रधान न रहने के कारण ध्वनि भी नही हो सकती। 'होइ ण गुणाणुराओ' जैसे उदाहरणो मे सङ्कर मे ध्वनि प्रदर्शित की गई है। परन्तु इनको सङ्कर का उदाहरण समझना ही उचित नही है। यह ध्वनि के दूसरे भेद अलङ्कारध्वनि का उदाहरण है।

अप्रस्तुतप्रशंसायामपि यदा सामान्यविशेषभावान्निमित्तनिमित्तिभावाद्वा अभिधीयमानस्याप्रस्तुतस्य प्रतीयमानेन प्रस्तुतेनाभिसम्बन्धस्तदाऽभिधीयमानप्रतीयमानयोः सममेव प्राधान्यम्। यदा तावत् सामान्यस्याप्रस्तुतस्य अभिधीयमानस्य प्राकरणिकेन विशेषेण प्रतीयमानेन सम्बन्धस्तदा विशेषप्रतीतौ सत्यामपि प्राधान्येन तत्सामान्येनाविनाभावात् सामान्यस्यापि प्राधान्यम्। यदापि विशेषस्य सामान्यनिष्ठत्वं तदापि सामान्यस्य प्राधान्ये सामान्ये सर्वविशेषाणामन्तर्भावाद् विशेषस्यापि प्राधान्यम्। निमित्तनिमित्तिभावे चायमेव न्यायः।

यदा तु सारूप्यमात्रवशेनाप्रस्तुतप्रशंसायामप्रकृतप्रकृतयोः सम्बन्धस्तदाप्यप्रस्तुतस्य सरूपस्याभिधीयमानस्य प्राधान्येनाविवक्षायां ध्वनावेवान्तःपातः। इतरथात्वलङ्कारान्तरमेव।

अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार में ध्वनि का निषेध—

हिन्दी अर्थ—अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार में भी जब सामान्य-विशेषभाव से अथवा निमित्त-निमित्तिभाव से अभिधीयमान अप्रस्तुत का प्रतीयमान प्रस्तुत से सम्बन्ध होता है, तब अभिधीयमान अप्रस्तुत एवं प्रतीयमान प्रस्तुत दोनों की प्रधानता समान होती है। और जब अभिधीयमान सामान्य अप्रस्तुत का प्रतीयमान विशेष प्रस्तुत के साथ सम्बन्ध होता है, तब विशेष की प्रतीति की प्रधानता होने परभी उस विशेष का सामान्य के साथ अविनाभाव सम्बन्ध होने के कारण सामान्य का भी प्राधान्य होता है। जब विशेष सामान्यनिष्ठ होता है, तब सामान्य के प्राधान्य होने पर भी, समस्त विशेषों का अन्तर्भाव होने के कारण विशेष की भी प्रधानता होती है। निमित्तनिमित्तिभाव में भी यह नियम रहता है।

जब सादृश्यमूलक अप्रस्तुतप्रशंसा में अप्रस्तुत और प्रस्तुत का सम्बन्ध होता है, तब अभिधीयमान सदृश अप्रस्तुत के प्राधान्य की विवक्षा न होने पर इसका अन्तर्भाव ध्वनि में हो जाता है। अन्यथा (प्राधान्य की विवक्षा होने पर) यह एक प्रकार का अलंकार ही होगा।

यद्यपि पहले वृत्ति में ध्वनिकार ने अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार का उल्लेख नहीं किया था, तथापि 'सङ्करालङ्कारादौ' पद में आदि पद से अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार का ग्रहण करके वे इस अलंकार में ध्वनि के अन्तर्भाव का निषेध कर रहे हैं। अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार में वाच्य अप्रस्तुत के द्वारा व्यङ्ग्य प्रस्तुत का आक्षेप किया जाने से इस अलंकार में प्रतीयमान अर्थ नियत रूप से रहता है।

अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार का लक्षण भामह ने निम्न किया है—

अधिकारादपेतस्य वस्तुनोऽन्यस्य या स्तुतिः।
अप्रस्तुतप्रशंसा सा त्रिविधा परिकीर्तिता॥

अधिकार (प्रस्तुतत्व) से रहित अन्य (अप्रस्तुत) वस्तु का जब कथन होता है, उसे अप्रस्तुतप्रशंसा कहते हैं। यह अप्रस्तुतप्रशंसा तीन प्रकार की होती है—सामान्य विशेष भाव से, निमित्तनिमित्ति भाव (कारणकार्यभाव) से और सारूप्य से। इसकी व्याख्या अभिनवगुप्त ने इस प्रकार की है—

"अप्रस्तुतस्य वर्णनं प्रस्तुताक्षेपिणि इत्यर्थः । स चाक्षेपस्त्रिविधो भवति—सामान्यविशेषभावात्, निमित्तनिमित्तिभावात, सारूप्याच्च।

इनमें सामान्यविशेषभाव के दो भेद हैं—(१) अप्रस्तुत सामान्य से प्रस्तुत विशेष का आक्षेप और (२) अप्रस्तुत विशेष से प्रस्तुत सामान्य का आक्षेप।

निमित्तनिमित्तिभाव के भी दो भेद होते हैं—(१) अप्रस्तुत निमित्त से प्रस्तुत निमित्ती का आक्षेप और (२) अप्रस्तुत निमित्ती से प्रस्तुत निमित्त का आक्षेप।

सारूप्य के तीन भेद होते हैं—(१) श्लेषनिमित्तक, (२) समासोक्तिनिमित्तक और (३) सादृश्यमात्रनिमित्तक। परन्तु सारूप्य भेद से अप्रस्तुतप्रशंसा के भेद कम ही प्रदर्शित किये जाते हैं। अतः अप्रस्तुतप्रशंसा के मुख्य रूप से निम्न पाँच भेद किये गये हैं—

(१) अप्रस्तुत सामान्य से प्रस्तुत विशेष का आक्षेप।
(२) अप्रस्तुत विशेष से प्रस्तुत सामान्य का आक्षेप।
(३) अप्रस्तुत निमित्त से प्रस्तुत निमित्ती का आक्षेप।
(४) अप्रस्तुत निमित्ती से प्रस्तुत निमित्त का आक्षेप।
(५) अप्रस्तुत सदृश वस्तु से प्रस्तुत सदृश वस्तु का आक्षेप।

आचार्य मम्मट ने अप्रस्तुतप्रशंसा का लक्षण करते हुए ऊपर कहे गये प्रकार से ही इस अलंकार के भेद प्रदर्शित किये हैं—

अप्रस्तुतप्रशंसा या सा सैव प्रस्तुताश्रया॥
कार्ये निमित्ते सामान्ये विशेषे प्रस्तुते यदि॥
तदन्यस्य वचस्तुल्ये तुल्यस्येति च पञ्चधा।

काव्यप्रकाश १०.९८-९९॥

अप्रस्तुत अर्थ द्वारा प्रस्तुत अर्थ का आक्षेप करने पर अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार होता है। वह पाञ्च प्रकार का होता है—(१) अप्रस्तुत निमित्त से प्रस्तुत कार्य का आक्षेप, (२) अप्रस्तुत कार्य से प्रस्तुत निमित्त का आक्षेप, (३) अप्रस्तुत विशेष से प्रस्तुत सामान्य का आक्षेप, (४) अप्रस्तुत सामान्य से प्रस्तुत विशेष का आक्षेप और प्रस्तुत तुल्य से प्रस्तुत तुल्य का आक्षेप।

आचार्य आनन्दवर्धन ने अप्रस्तुतप्रशंसा के पहले चारों भेदों सामान्य और विशेष, एवं निमित्त और निमित्ती में वाच्य और व्यङ्ग्य अर्थ में सम प्राधान्य मान कर इनमें ध्वनि के विषयत्व का खण्डन किया है। परन्तु सारूप्य भेद में यदि व्यङ्ग्य अर्थ में अधिक चमत्कार है तो वह ध्वनि का विषय हो सकता है, और यदि उसमें वाच्य अर्थ की अपेक्षा अधिक चमत्कार नहीं है, तो वह अलंकारमात्र है।

अप्रस्तुत प्रशंसा के इन भेदों के उदाहरण देकर उनमें ध्वनि के विषयत्व की विवेचना की जाती है।

(१) अप्रस्तुत सामान्य से प्रस्तुत विशेष का आक्षेप—

अहो संसारनैर्घृण्यमहो दौरात्म्यमापदाम् ।
अहो निसर्गजिह्मस्य दुरन्ता गतयो विधेः ॥

संसार की निर्दयता आश्चर्यजनक है। आपत्तियों की दुष्टता आश्चर्यजनक है, स्वभाव से कुटिल विधाता की गतियों का पार न पा सकना आश्चर्यजनक है।

'सर्वत्र विधि का ही प्राधान्य है।' इस अप्रस्तुत सामान्य से किसी प्रस्तुत विनाशरूप विशेष वस्तु का आक्षेप होता है। यहाँ अप्रस्तुत वाच्य सामान्य और प्रस्तुत प्रतीयमान विशेष, इन दोनों अर्थों के समप्राधान्य होने से यह ध्वनि का विषय नहीं है।

(२) अप्रस्तुत विशेष से प्रस्तुत सामान्य का आक्षेप—

एतत्तस्यमुखात् कियत्कमलिनीपत्रे कणं वारिणो
यन्मुक्तामणिरित्यमंस्त स जडः शृण्वन्यदस्मादपि ।
अङ्गुल्यग्रलघुक्रियाप्रविलयिन्यादीयमाने शनैः ।
कुत्रोड्डीय ममेत्यनुदिनं निद्राति नान्त.शुचा ॥

उसके मुख से यह कितनी सी बात निकली थी कि उस मूर्ख ने कमलिनी के पत्ते पर पड़े हुए पानी के कण को मोती समझ लिया था। अब उससे आगे की बात भी सुनो। उस मोती को जब वह धीरे से अङ्गुली के अगले भाग से उठाने लगा और उस क्रिया से वह मोती विलुप्त हो गया, तो मेरा वह मोती उड़कर न जाने कहाँ चला गया है, अन्त.करण के इस शोक से उसको नींद नहीं आती है।

यहाँ अप्रस्तुत वाच्य जलबिन्दु में 'मोती की सम्भावना', इस विशेष से प्रस्तुत-प्रतीयमान 'अयोग्य स्थान पर महत्व की सम्भावना—इस सामान्य का आक्षेप होता है। परन्तु वाच्यविशेष और प्रतीयमान सामान्य दोनों के समप्राधान्य होने से यहाँ ध्वनि नहीं है।

(३) अप्रस्तुत निमित्त में प्रस्तुत निमित्ती का आक्षेप—

ये यान्त्यभ्युदये प्रीतिं नोज्झन्ति व्यसनेषु च ।
ते बान्धवास्ते सुहृदो लोकः स्वार्थपरोऽपरः ॥

जो उन्नति होने पर प्रसन्न होते हैं और आपत्ति आने पर छोड़ते नहीं हैं, वे ही बन्धु हैं और वे ही मित्र हैं। दूसरे लोग स्वार्थी हैं।

यहाँ अप्रस्तुत 'सुहृद्बान्धवरूप निमित्त' से प्रस्तुत 'सज्जनों के गौरव के प्रति श्रद्धारूप कार्य' की अभिव्यक्ति होती है। इन दोनों वाच्य निमित्त तथा प्रतीयमान कार्य के समप्राधान्य होने से यहाँ ध्वनि नहीं है।

(४) अप्रस्तुत निमित्ती से प्रस्तुतनिमित्त का आक्षेप—

सर्गं अपारिजाअ कोत्थुहलच्छिरहिअं महुमहस्स उरम् ।
सुमराभि महणपुरओ अमुद्धअन्दं च हरजडापब्भारम् ॥

स्वर्गगपारिजात कौस्तुभलक्ष्मीरहितं मधुसूदनस्य उर ।
स्मरामि मन्दरोत्थगिरगुपचन्द्र च हरजटाभारम् ॥

समुद्रमन्थन से पूर्व के पारिजात से रहित स्वर्ग को, कौस्तुभ एव लक्ष्मी से रहित विष्णु के वक्ष स्थल को तथा सुन्दर चन्द्रमा से रहित शिव की जटाओं के भार को मैं स्मरण करता हूँ।

यहाँ अप्रस्तुत वाच्य 'कौस्तुभ, लक्ष्मीरहित विष्णु के वक्षःस्थल आदि' कार्यों के द्वारा जाम्बवान् न प्रस्तुत प्रतीयमान कारण 'मन्त्रि व के लिये उपादेय गुणो-वृद्ध-सेवा, चिरजीवित्व, व्यवहारकौशल' आदि का वर्णन किया है। इस पद्य मे अप्रस्तुत वाच्य कार्य एव प्रस्तुत प्रतीयमान कारण, इन दोनो के समान रूप से चमत्कारी होने के कारण ध्वनि नही है।

(५) अप्रस्तुत सदृश वस्तु से प्रस्तुत सदृश वस्तु का आक्षेप—

अप्रस्तुत प्रशसा के सारूप्य भेद म ध्वनिकार के अनुसार दो स्थितियाँ हो सकती हैं। यदि प्रस्तुत प्रतीयमान अर्थ म अप्रस्तुत वाच्य अर्थ की अपेक्षा से प्रधानता नही है, तो यहाँ ध्वनि नहीं होगी। यदि अप्रस्तुत वाच्य अर्थ की अपेक्षा प्रस्तुत प्रतीयमान अर्थ अधिक चमत्कारी है, तो वह ध्वनि का विषय होगा। दोनो के उदाहरण क्रमश दिये जाते हैं—

प्राणा येन समर्पितास्तव बलाद्येन त्वमुत्थापित
स्कन्धे यस्य चिर स्थितोऽसि विदध यस्ते सपर्यामिति ।
तस्यास्य स्मितमात्रेण जनयन् प्राणापहारक्रिया
भ्रात प्रत्युपकारिणा धुरि पर वेताल लीलायसे ॥

हे भाई वेताल! जिसने तुम्हारे म प्राणो को अर्पित किया था, जिसने अपने बल से तुमको उठाया था, जिसके कन्धे पर तुम देर तक बैठे रहे थे, जिसने तुम्हारी पूजा की थी, उस प्रकार के इस व्यक्ति के प्राणो को स्मितमात्र से अपहृत करते हुये तुम प्रत्युपकार करने वालो के सबसे आगे शोभित होते हो।

यहाँ अप्रस्तुत वेताल के वृत्तान्त के सादृश्य से किसी दूसरे प्रस्तुत कृतघ्न का वृत्तान्त आक्षिप्त होता है। परन्तु उस प्रस्तुत प्रतीयमान कृतघ्न के वृत्तान्त की अपेक्षा यहाँ अप्रस्तुत वाच्य वेताल का वृत्तान्त ही अधिक चमत्कारी है। अत यहाँ ध्वनि न होकर अलङ्कार मात्र है। यह पद्य अभिनवगुप्त के गुरु भट्टेन्दुराज की रचना है। अथवा—

भावग्रानहठाज्जनस्य हृदयान्याक्रम्य यन्नर्तयन्
भङ्गीभिर्विविधाभिरात्महृदय प्रच्छाद्य सङ्क्रीडसे ।
स त्वामाह जड तत सहृदयम्मन्यत्वदु शिक्षितो
मन्यामुष्य जडात्मता स्तुतिपद त्वत्साम्यसम्भावनात् ॥

सौन्दर्य के आकर चन्द्रमा आदि हे पदार्थसमूह! तुम विविध प्रकार की भङ्गिमाओ से अपने हृदय के रहस्य को छिपाकर जो लोगो के हृदयो को बलपूर्वक

तदयमत्र संक्षेपः—

व्यङ्ग्यस्य यत्राप्राधान्यं वाच्यमात्रानुयायिनः ।
समासोक्त्यादयस्तत्र वाच्यालंकृतयः स्फुटाः ॥
व्यङ्ग्यस्य प्रतिभामात्रे वाच्यार्थानुगमेऽपि वा ।
न ध्वनिर्यत्र वा तस्य प्राधान्यं न प्रतीयते ॥
तत्परावेव शब्दार्थौ यत्र व्यङ्ग्यं प्रति स्थितौ ।
ध्वनेः, स एव विषयो मन्तव्यः सङ्कारोज्झितः ॥

तस्मान्न ध्वनेरन्तर्भावः ।

आकृष्ट करके नचाते हुये खेलते हो, इसी कारण अपने आप को सहृदय मानने से दु शिक्षित जन तुमको जड (शीतल) कहता है। परन्तु मैं ऐसा समझता हूँ कि उसको जड (मूर्ख) कहना भी उसकी स्तुति है, क्योंकि उससे तुम्हारे साथ उनकी समानता (मूर्खता) की सम्भावना होती है।

इस पद्य मे किसी वीतराग महापुरुष का उदार चरित प्रतीयमान है, जो कि अत्यधिक विद्वान् और गुणवान् होते हुये भी अपने गुणो को प्रकाशित न करने के कारण लोगो द्वारा मूर्ख समझा जाता है। यहाँ अप्रस्तुत वाच्य चन्द्रमा के वृत्तान्त की अपेक्षा प्रस्तुत प्रतीयमान महापुरुष का लोकोत्तर चरित अधिक चमत्कारजनक है और वही प्रधान है। अत प्रतीयमान अर्थ के प्रधान होने से यह ध्वनि (वस्तुध्वनि) है। इसको अलकार न कह कर ध्वनि ही कहगे।

इस प्रकार ध्वनिकार यह सिद्ध करते है कि अप्रस्तुत प्रशसा के सामान्य विशेष भाव एव निमित्तनिमित्तिभाव भेदो मे वाच्य और प्रतीयमान अर्थों मे प्रतीयमान अर्थ का प्राधान्य न होने से ध्वनि नही है। परन्तु सारूप्य भेद म जहाँ प्रतीयमान अर्थ की प्रधानता है, वहाँ ध्वनि होगी और जहाँ प्रधानता नही है, वहाँ वह अलकारमात्र ही होगा।

अलङ्कारो मे ध्वनि का समावेश नही हो सकता, इस तथ्य का ध्वनिकार ने विस्तृत रूप स युक्तियो द्वारा प्रतिपादित किया है। अपने इस प्रतिपादन को वे अब सक्षेप से श्लोको म कहते हैं—

हिन्दी अर्थ—इस सब कथन का साराश यह है—

जिन समासोक्ति आदि अलङ्कारो मे व्यङ्ग्य अर्थ वाच्य अर्थ का अनुगमन करते हुये प्राधान्य रूप से विवक्षित नहीं होने, वे समासोक्ति आदि अलङ्कार स्पष्ट रूप से वाच्यालङ्कार हैं।

जिन अलङ्कारो मे व्यङ्ग्य अर्थ का आभासमात्र होता है या वे वाच्य अर्थ का अनुगमन करने वाले होते हैं और उनका प्राधान्य प्रतीत नहीं होता, वहाँ भी ध्वनि नहीं है।

जहाँ वाच्य अर्थ और वाचक शब्द व्यङ्ग्य अर्थ के प्रति तत्पर होकर ही स्थित होते हैं, अर्थात् जहाँ व्यङ्ग्य अर्थ की प्रधानता होती है, उसको ही ध्वनि का विषय समझना चाहिये। परन्तु सङ्कर को छोड़कर। अर्थात् सङ्कर ध्वनि का विषय नहीं होता।

इस कारण ध्वनि का अन्तर्भाव अलङ्कार आदियों से नहीं हो सकता।

तदयमत्र सक्षेप —इस पद की व्याख्या करते हुए अभिनवगुप्त का कथन है कि वृत्ति में जो आदि पद का ग्रहण किया गया है, उससे व्याजस्तुति आदि उन सब अलङ्कारों का ग्रहण कर लेना चाहिये, जिनमें व्यङ्ग्य अर्थ का अनुप्रवेश सम्भावित है—

"उद्देशे यदादिग्रहणं कृतं समासोक्तीत्यत्र द्वन्द्वे तेन व्याजस्तुतिप्रभृतिरलङ्कारवर्गोऽपि सम्भाव्यमानव्यङ्ग्यानुप्रवेशः सम्भावितः। तत्र सर्वत्र साधारणमुत्तरं दातुमुपक्रमते—तदयमत्रेति।

प्रतिभामात्रे—इस पद का अर्थ है कि जहाँ व्यङ्ग्य अर्थ की प्रतीति स्पष्ट नहीं है, उसका आभासमात्र है। इसको अभिनवगुप्त ने इस प्रकार स्पष्ट किया है—

"यत्रोपमादौ क्लिष्टार्थप्रतीतिः'

इसी भाव को ध्वनिकार ने दूसरे उद्योत में स्पष्ट किया है—

यत्र प्रतीयमानोऽर्थः प्रक्लिष्टत्वेन भासते।

वाच्यस्याङ्गतया वापि नास्यासौ गोचरोध्वनेः ॥२ ३१॥

वाच्यार्थानुगमे—इसको अभिनवगुप्त ने इस प्रकार स्पष्ट किया है—

"वाच्येनार्थेनानुगमं समं प्राधान्यम् अप्रस्तुतप्रशंसायामिवेत्यर्थः।'

जहाँ व्यङ्ग्य अर्थ का प्राधान्य वाच्य अर्थ के समान होता है, जैसा कि—अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार में है।

इस प्रकार दूसरे श्लोक में कहा गया है—जहाँ व्यङ्ग्य अर्थ की प्रतीति क्लिष्ट हो, वाच्य के साथ समप्राधान्य हो, अथवा अस्फुट प्राधान्य हो, वहाँ ध्वनि नहीं होती।

सङ्करोज्झित —जहाँ सङ्कर अलङ्कार है, वहाँ ध्वनि नहीं होगी। इस पद की व्याख्या अभिनवगुप्त ने इस प्रकार की है—

"सङ्करेणालङ्कारानुवेशसम्भावनया उज्झित इत्यर्थः। सङ्करालङ्कारेणेति त्वसत्। अन्यालङ्कारोपलक्षणत्वे हि क्लिष्टं स्यात्"।

सङ्कर से अर्थात् समासोक्ति आदि अलङ्कारों के अनुप्रवेश की सम्भावना से रहित होने से उज्झित शब्द का प्रयोग किया गया है। यहाँ 'सङ्करालङ्कार से' यह व्याख्या करना ठीक नहीं है। दूसरे अलङ्कारों का उपलक्षण मानने पर यह व्याख्यान क्लिष्ट हो जायेगा।

सङ्कर अलङ्कार में ध्वनि का निषेध आनन्दवर्धन ने वृत्ति में ही स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया है—

"अपि च सङ्करालङ्कारेऽपि क्वचित् सङ्करोक्तिरेव ध्वनिसम्भावनां निराकरोति"।

इतश्च नान्तर्भावः । यतः काव्यविशेषोऽङ्गी ध्वनिरिति कथितः । तस्य पुनरङ्गानि अलङ्कारा गुणा वृत्तयश्चेति प्रतिपादयिष्यन्ते । न चावयव एव पृथग्भूतोऽवयवीति प्रसिद्धः । अपृथग्भावे तु तदङ्गत्वं तस्य । न तु तत्त्वमेव । यत्रापि तत्त्वं तत्रापि ध्वनेर्महाविषयत्वान्न तन्निष्ठत्वमेव ।

'सूरिभिः कथितः' इति विद्वदुपज्ञेयमुक्तिः, न तु यथाकथञ्चित् प्रवृत्तेति प्रतिपाद्यते ।

पिछले प्रकरण मे ध्वनिकार ने यह प्रतिपादित किया है कि अलङ्कार आदि मे ध्वनि का अन्तर्भाव नही हो सकता । इसको प्रतिपादित करने के लिये वे पुनः एक और युक्ति देते हैं—

हिन्दी अर्थ—और इस कारण भी ध्वनि का अन्तर्भाव अलङ्कार आदि मे नहीं हो सकता, क्योंकि ध्वनि को काव्यविशेष अङ्गी कहा गया है । आगे यह भी प्रतिपादित किया जायेगा कि अलङ्कार, गुण और वृत्तियां उस काव्य के अङ्ग हैं । यह बात प्रसिद्ध है कि अवयव ही पृथक होकर अवयवी नहीं कहा जाता । अपृथक् होने पर अर्थात् ध्वनि से अलग रूप मे स्थित न होने पर वे अलङ्कार आदि ध्वनि के अङ्ग ही होते हैं । उनका तत्व (अङ्गीरूप होना) नहीं होता । जहां कहीं तत्त्व (अङ्गीरूप से होना) होता भी है वहा भी ध्वनि के महाविषय होने से उसकी तन्निष्ठता (अलङ्कार मे अन्तर्भाव होना) नहीं हो सकती ।

ध्वनिकार ने अलङ्कार आदि मे ध्वनि के अन्तर्भाव न होने की एक और युक्ति दी है कि ध्वनि अङ्गी है तथा अलंकार, गुण और वृत्तियाँ उसकी अङ्गरूप है । ये अलङ्कार आदि ध्वनि से अलग होकर उसी प्रकार अङ्गी नही हो सकते जिस प्रकार कोई अवयव अपने अवयवी से पृथक् होकर अवयवी नहीं कहला सकते । ध्वनि के साथ रहने पर ये सदा ध्वनि के अङ्गरूप मे रहते है तथा ये अङ्गी नहीं हो सकते । परन्तु कभी-कभी वे अङ्गीरूप मे भी हो सकते हैं, जैसे कि 'भ्रमधार्मिक विस्रब्ध', 'माता अत्र निमज्जति', 'कस्य वा न भवति रोषः' आदि पर्यायोक्त के उदाहरणो मे है । परन्तु ध्वनि के महाविषय (अधिक स्थानो मे होना उन स्थानों के अतिरिक्त अन्य स्थानों पर भी होता) होने से ध्वनि का अन्तर्भाव उनमे नहीं किया जा सकता । इसके विपरीत इन स्थितियों मे वे अलंकार ही ध्वनि के विषय होंगे और वहां ध्वनि का एक भेद अलङ्कारध्वनि होगा ।

ध्वनि काव्य के लक्षण (कारिका १३) मे ध्वनिकार ने 'सूरिभिः कथितः' पदों का प्रयोग किया है । इसके अभिप्राय को वे स्पष्ट करते है—

हिन्दी अर्थ—'विद्वानो ने कहा है', इसका अभिप्राय है कि यह ध्वनि सिद्धान्त विद्वानो के मत के अनुसार (विद्वन्मतमूलक) है यों ही जैसे तैसे (अप्रामाणिक रूप से अपनी कल्पना के अनुसार ही) नहीं चल पड़ा है, जो इसका प्रतिपादन किया जा रहा है ।

प्रथमे हि विद्वांसो वैयाकरणा, व्याकरणमूलत्वात् सर्वविद्यानाम्। ते च श्रूयमाणेषु वर्णेषु ध्वनिरिति व्यवहरन्ति। तथैवान्यैस्तन्मतानुसारिभिः सूरिभिः काव्यतत्त्वार्थदर्शिभिर्वाच्यवाचकसम्मिश्रः शब्दात्मा काव्यमिति व्यपदेश्यो व्यञ्जकत्वसाम्याद्ध्वनिरित्युक्तः।

ध्वनिकार के कथन का अभिप्राय यह है कि ध्वनि का प्रयोग हमने अपनी कल्पना से ही नहीं कर दिया है अपितु प्राचीन काल से ही विद्वानों ने, वैयाकरणों ने इसका प्रतिपादन किया है, इसीलिये इस सिद्धान्त का ध्वनिविरोधियों को खण्डन नहीं करना चाहिये, अपितु इस पर विश्वास करना चाहिये।

विद्वदुपज्ञा—इस पद की व्युत्पत्ति दो प्रकार से हो सकती है—'विदुषाम् उपज्ञा' (तत्पुरुष समास) और 'विद्वद्भ्यः उपज्ञा प्रथम उपक्रमो यस्या उक्तेः सा (बहुव्रीहि समास)। अभिनवगुप्त का कथन है कि इसमें बहुव्रीहि समास मानना चाहिये। यदि यह तत्पुरुष समास होता तो इसमें "उपज्ञोपक्रम तदाद्याचिख्यासायाम्" (पा० २ ४ २१) नियम से नपुंसकलिङ्ग होता, जैसे कि 'पाणिन्युपज्ञमकालकं व्याकरणम्' में हुआ है।

अब ध्वनिकार विद्वानों, वैयाकरणों द्वारा ध्वनि सिद्धान्त के प्रतिपादन का उल्लेख करते हैं—

हिन्दी अर्थ—प्रथम (सबसे प्रमुख) विद्वान् वैयाकरण हैं, क्योंकि व्याकरण सभी विद्याओं का मूल है। वे वैयाकरण सुनाई देने वाले वर्णों में ध्वनि है, इस प्रकार से व्यवहार करते हैं। उसी प्रकार से उन वैयाकरणों के मत का अनुसरण करने वाले काव्यतत्वार्थदर्शी दूसरे विद्वानों ने भी (१) वाच्य, (२) वाचक (३) सम्मिश्र—व्यङ्ग्य अर्थ (४) शब्दात्मा—व्यञ्जना व्यापार और (५) काव्य पद से व्यवहार्य अर्थात् काव्य, इन पाञ्चों को व्यञ्जकत्व की समानता के कारण ध्वनि इस प्रकार से कहा है।

प्रथमे हि विद्वांसो वैयाकरणाः—वैयाकरणों को सबसे प्रमुख विद्वान् माना गया है, क्योंकि सभी विद्याओं का मूल व्याकरण है। सभी ग्रन्थ किसी भाषा में लिखे जाते हैं। इस भाषा को समझने के लिये व्याकरण का ज्ञान अनिवार्य है। अतः व्याकरण सबसे प्रमुख है। जैसा कि कहा गया है—

उपासनीयं यत्नेन शास्त्रं व्याकरणं महत्।
प्रदीपभूतं सर्वासां विद्यानां यदवस्थितम्॥

वाक्यपदीय में व्याकरण और वैयाकरणों की प्रशंसा इस प्रकार की गई है—

इदमाद्य पदस्थान मुक्तिसोपान पर्वणाम् ।
इय सा मोक्षमाणानामजिह्मा राजपद्धति ॥
रूपान्तरेण त देवा विचरन्ति महीतले ।
ये व्याकरणसस्कारपवित्रित मुरस्या नरा ॥

ते च श्रूयमाणेषु वर्णेषु ध्वनिरिति व्यवहरन्ति—वैयाकरणो का कथन है कि श्रूयमाण वर्णों म ध्वनि होती है तथा उसी के द्वारा हमको शब्द से अर्थ का बोध होता है। यह ध्वनि या वैयाकरणा का स्फोट शब्द के अर्थ का ज्ञान कराता है। आलङ्कारिका की ध्वनि का वैयाकरणा के स्फोट के साथ साम्य है। वैयाकरणा के स्फोट के सिद्धान्त को समझने के लिये सुनन की प्रक्रिया एव तदनन्तर अर्थ की अभिव्यक्ति की प्रक्रिया को समझ लेना आवश्यक है।

जब कोई शब्द उत्पन्न होता है, तो वह आद्य रूप म श्रुतिगोचर नही होता। यह उत्पन्न होकर नष्ट हो जाता है, परन्तु नष्ट होन से पूव दूसर शब्द को उत्पन्न करता है। इसी प्रकार दूसरा शब्द तीसरे को, तीसरा चौथ को, चौथा पाचवे को उत्पन्न करते जाते हैं। इसको 'वीचीमस्तनन्याय' कहते हैं। जिन प्रकार किसी जलाशय म एक ककड को डाल देने पर एक छोटी सी गोलाकार लहर उत्पन्न होती है, जो एक के बाद दूसरी गोलाकार लहरो को उत्पन्न करती सारे जलाशय को व्याप्त कर लेती है, उसी प्रकार से उत्पन्न शब्द अपने उत्पत्ति स्थान के चारा ओर एक शब्दतरग के चक्र को उत्पन्न करता है और यह बढते बढते सुदूर आकाश क्षेत्र म व्याप्त हो जाता है। इस प्रकार से उत्पन्न य तरगचक्र घण्टानुरणरूप होते हैं। जिस प्रकार घण्टे के बजने के पश्चात् भी कुछ समय तक उनका अनुरणन (गुञ्जन) बना रहता है, उसी प्रकार की यह स्थिति है और घण्टानुरणरूप होन के कारण इसको ध्वनि कहते हैं।

शब्द, जिनको कि हम सुनते हैं, तीन प्रकार के होते हैं—सयोगज, विभागज और शब्दज। दो वस्तुओ के सयोग से उत्पन्न होने वाले शब्द सयोगज हैं, जैस कि घण्टे पर मुगरी के सयोग से घण्टे का शब्द उत्पन्न होता है। वियोग से उत्पन्न शब्द वियोगज है, जैस कि कागज को फाडन से शब्द उत्पन्न होता है। प्रारम्भिक शब्द की उत्पत्ति सयोगज या वियोगज है। परन्तु य प्रारम्भिक शब्द श्रोता को श्रुतिगोचर नही होने परन्तु उन शब्दो से आकाशीय क्षेत्र म जो तरङ्ग के रूप म शब्दधारा उत्पन्न होती है, वही श्रोता के कर्ण प्रदेश म आकर श्रुतिगोचर होती है। यह शब्द ही शब्दज है तथा शब्दज शब्द ही सुनाई देते हैं। वस्तुत घण्टे का जो आद्य शब्द है वह श्रुतिगोचर नहीं है, अपितु उससे उत्पन्न हुए उसके सदृश शब्दज शब्द ही श्रुतिगोचर होते हैं। य आद्य शब्द, जो कि सयोगज या वियोगज हैं, स्वय नष्ट हो जाते हैं। अनित्यतावादी नैयायिको के अनुसार इन आद्य शब्दो का विनाश होता है एव नित्यतावादी वैयाकरण इनका तिरोभाव मानते हैं। सयोग या वियोग से उत्पन्न

आद्य शब्दों को वैयाकरणों ने स्फोट कहा है, उससे उत्पन्न शब्दों को ध्वनि कहा है, जैसा कि भर्तृहरि का कथन है—

य संयोगविभागाभ्यां करणैरुपजन्यते ।

स स्फोट शब्दजा शब्दा ध्वनयोऽन्यैरुदाहृता ॥

करणों अर्थात् जिह्वा आदि स्थानों के संयोग और वियोग से जो उत्पन्न होता है, वह शब्द स्फोट है, शब्दों से उत्पन्न शब्दों को दूसरा ने ध्वनि कहा है ।

इस प्रकार जो आद्य शब्द है, वैयाकरण उनको स्फोट कहते हैं। तदनन्तर जो शब्द शब्दज है, वे श्रूयमान है उनको वैयाकरण नाद कहते है ।

शब्द से अर्थ की अभिव्यक्ति किस प्रकार होती है, इसके लिये वैयाकरणों ने 'स्फोटवाद' की कल्पना की है। 'स्फोट' पद का अर्थ है—स्फुटयति अर्थं व्यनक्ति स स्फोट', अथवा स्फुटित अर्थ यस्मात स स्फोट,। नैयायिकों के अनुसार शब्द उत्पन्न होते ही नष्ट हो जाता है, एवं वैयाकरणों के अनुसार इसका तिरोभाव हो जाता है। इस सम्बन्ध में पतञ्जलि का कथन है—

एकैकवर्णवर्तित्वाद् वाच , उच्चरितप्रध्वंसित्वाच्च वर्णानाम्।

एकैकवर्णवर्तिनी वाक्, न द्वौ वर्णौ युगपदुच्चारयति ।

तद् यथा—गौरित्युक्ते यावद गकारे वाक् प्रवतत तावत नौकारे न विसर्जनीये । यावदौकारे न गकारे न विसर्जनीये। यावद् विसर्जनीये न गकारे नौकारे । उच्चरितप्रध्वंसित्वाच्च वर्णानाम् । उच्चारित प्रध्वस्तश्च । अथापर प्रयुज्यते न वर्णो वर्णस्य सहाय ।

अर्थात् वाणी द्वारा एक-एक वर्ण का प्रवतन करने से और उच्चारण किये गये वर्ण का प्रध्वंस होने से। वाणी एक-एक वर्ण का प्रवर्तन करती है, एक साथ दो वर्णों का उच्चारण नहीं करती। वह इस प्रकार से है—'गौ' का उच्चारण करने पर जब वाणी 'ग्' का उच्चारण करती है, तो 'औ' और विसर्ग के लिये प्रवर्तित नहीं होती है। जब 'औ' का उच्चारण करती है, तो 'ग्' और विसर्ग' के लिये प्रवर्तित नहीं होती। जब 'विसर्ग' का उच्चारण करती है, तो 'ग्' और 'औ' के लिये प्रवर्तित नहीं होती, क्योंकि वर्णों का उच्चारण होते ही प्रध्वंस हो जाता है। वर्ण उच्चरित हुआ और प्रध्वस्त हो गया। इसके लिये दूसरा इसप्रकार प्रयोग करता है—वर्ण वर्ण का सहायक नहीं होता।

इस प्रकार वर्णों का एक साथ उच्चारण न होने से सम्पूर्ण शब्द एवं वाक्य का बोध किस प्रकार होगा ? यह प्रश्न उपस्थित होता है। इसका समाधान वैयाकरणों ने स्फोटवाद के द्वारा किया है। उनका कथन है कि श्रूयमाण वर्णों के विनष्ट हो जाने पर भी उनके अनुभव से उत्पन्न संस्कार के साथ अन्तिम वर्ण के श्रवण से बुद्धि में समस्त वर्णों का समुदायरूप एवं नित्य शब्द अभिव्यक्त होता है। इसको वैयाकरणस्फोट कहते है। इसकी संस्कृत में व्याख्या इस प्रकार है—

"पूर्वपूर्ववर्णानुभवजनितसंस्कारसहकृतान्तिमवर्णश्रवणेन स्फोटो व्यज्यते ।"

वैयाकरण जब शब्द को नित्य कहते हैं तब उनका अभिप्राय इसी 'स्फोट' रूप की नित्यता से है। जिस प्रकार अनेक वर्णों के समुदाय रूप पद की अभिव्यक्ति वर्णों द्वारा होती है, उसी प्रकार अनेक पदों के समुदाय रूप वाक्य की अभिव्यक्ति वर्णों द्वारा होती है। इस प्रकार वैयाकरणों ने आठ प्रकार के स्फोटों की कल्पना की है—वर्णस्फोट,पदस्फोट, वाक्यस्फोट, अखण्डपदस्फोट, अखण्डवाक्यस्फोट, वर्णगतस्फोट, पदगतस्फोट और वाक्यगतस्फोट।

इस प्रकार श्रूयमाण वर्ण, जो कि 'नाद' शब्द से भी वाच्य हैं, अन्तिम बुद्धि से नितरां ग्राह्य स्फोट को भी अभिव्यञ्जित करने वाले हैं, इनको ध्वनि कहा गया है। भर्तृहरि ने भी इस प्रकार कहा है—

प्रत्ययैरनुपाख्येयैर्ग्रहणानुगुणैस्तथा ।
ध्वनिप्रकाशिते शब्दे स्वरूपमवधार्यते ॥

जिनकी व्याख्या नहीं की जा सकती, परन्तु जो स्फोट के ग्रहण करने के लिये अनुकूल हैं, ऐसे प्रत्ययों से शब्द में ध्वनि के प्रकाशित हो जाने पर उसके स्वरूप का अवधारण किया जाता है। महाभाष्य के पस्पश आह्निक में प्रतीत पद के अर्थ को व्यक्त करने वाली वस्तु को ध्वनि कहा गया है—

"अथवा प्रतीतपदार्थको लोके ध्वनिः शब्द इत्युच्यते ।"

आलंकारिकों ने वैयाकरणों के मत का अनुसरण करते हुए ही काव्य में ध्वनि पद का व्यवहार किया है, आचार्य मम्मट ने भी "काव्यप्रकाश" में इसका समर्थन किया। उत्तम काव्य का लक्षण बताते हुये वे कहते हैं—

"बुधैर्वैयाकरणैः प्रधानभूतस्फोटरूपव्यङ्ग्यव्यञ्जकस्य शब्दस्य ध्वनिरिति व्यवहार कृत, ततस्तन्मतानुसारिभिरन्यैरपि न्यग्भावितवाच्यव्यङ्ग्यव्यञ्जनक्षमस्य शब्दार्थयुगलस्य ।"

सर्वैरन्यैस्तन्मतानुसारिभिः······ध्वनिरित्युक्त—ध्वनिकार का कथन है कि वैयाकरणों के मत का अनुसरण करते हुये ही आलङ्कारिकों ने काव्य में ध्वनि शब्द का व्यवहार किया था। वैयाकरणों ने तो शब्द में ही ध्वनि को माना था, परन्तु ध्वनिकार ने प्रतिपादित किया कि काव्य में वाच्य, वाचक, व्यङ्ग्य अर्थ, व्यञ्जना व्यापार एवं इनका समुदाय रूप काव्य, इन पाँचों को ध्वनि की संज्ञा दी जा सकती है।

(१) वाच्य—वाच्य अर्थ को ध्वनि कहा जा सकता है, क्योंकि यह व्यङ्ग्य अर्थ को अभिव्यक्त करने में समर्थ होता है।

(२) वाचक—वाचक शब्द को भी ध्वनि कहा जा सकता है, क्योंकि यह भी व्यङ्ग्य अर्थ को अभिव्यक्त करने में समर्थ है।

(३) व्यङ्ग्य अर्थ—अभिधेय पद से स्पष्ट है कि व्यङ्ग्य अर्थ भी ध्वनि

नचैवंविषस्य ध्वनेर्वक्ष्यमाणप्रभेदतद्भेदसङ्कलनया महाविषयस्य यत् प्रकाशनं तदप्रसिद्धालङ्कारविशेषमात्रप्रतिपादनेन न तुल्यमिति तद्भावितचेतसा युक्त एव सरम्भः। न च तेषु कथञ्चिदीर्ष्यया कलुषितशेमुषीकत्वमाविष्करणीयम्। तदेवं ध्वनेरभाववादिनः प्रत्युक्ताः।

है, क्योंकि यह ध्वनित होता है। सम्मिश्र पद की व्याख्या अभिनवगुप्त ने इस प्रकार की है—

'सम्मिश्र्यते विभावानुभावसवत्नतया" जो विभाव अनुभाव से सम्मिश्रित होता है, वह व्यङ्ग्य अर्थ भी ध्वनि है।

(४) व्यञ्जना व्यापार—शब्दात्मा पद से प्रकट है कि व्यञ्जना व्यापार भी ध्वनि है। इसकी व्याख्या इस प्रकार है— शब्दनं शब्दः शब्दव्यापार, न चासौ अभिधादिरूप, अपि त्वात्मभूत, सोऽपि ध्वननध्वनि। शब्दनशब्द, अर्थात् शब्द का व्यापार यहाँ अभिधा आदि नहीं है, अपितु आत्मभूत व्यञ्जना व्यापार है। यह अभिधा, तात्पर्य लक्षणा व्यापारों से भिन्न है। यह भी 'ध्वनन' व्युत्पत्ति के अनुसार ध्वनि है।

(५) काव्यविशेष—'काव्यमिति व्यपदेश्यतया' पद से यह प्रकट है कि जिस काव्य में पूर्वोक्त ध्वनिचतुष्टय की स्थिति विद्यमान है, वह काव्य भी ध्वनि है।

व्यङ्ग्यव्यञ्जकसाम्यात्—ये पाँचों ही ध्वनि हैं इसके लिये ध्वनिकार अन्त में युक्ति देते हैं—'व्यङ्ग्यव्यञ्जकसाम्यात्।' क्योंकि पाँचों में व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव समान रूप से रहता है अतः ये सब ध्वनि कहलाते हैं।

इसप्रकार अभाववादी ध्वनिविरोधियों की युक्तियों का खण्डन करके और ध्वनि की सत्ता को प्रतिपादित करके ध्वनिकार अपने कथन के औचित्य को प्रतिपादित करते हैं—

हिन्दी अर्थ— इस प्रकार की ध्वनि का प्रकाशन जो कि आगे कहे जाने वाले भेदों और इनके प्रभेदों के सङ्कलन से अत्यधिक व्यापक (महाविषय) है, अप्रसिद्ध अलङ्कारविशेष मात्र के प्रतिपादन के सदृश नहीं है, इसलिये उस ध्वनि के प्रति ***भावित चित्त वाले सहृदयों का उत्साहातिशय (सरम्भ) ठीक ही है। अतः उन ध्वनि-*** **वादियों के प्रति किसी प्रकार की ईर्ष्या से कलुषित चित्तवृत्ति को प्रकट नहीं करना चाहिये। तो इस प्रकार ध्वनि के अभाववादियों के मतों का निराकरण कर दिया।**

एवंविधस्यध्वने—इस प्रकार ध्वनि का। जिस ध्वनि का अस्तित्व एवं वाच्य अर्थ तथा अलङ्कारों से पृथक्त्व प्रतिपादित किया जा चुका है, तथा जिसका लक्षण कह दिया गया है।

अस्ति ध्वनिः । स चासावविवक्षितवाच्यो विवक्षितान्यपरवाच्यश्चेति द्विविधः सामान्येन ।

वक्ष्यमाणप्रभेदतद्भेदकलनया—वक्ष्यमाणानां प्रभेदानां मुख्यभेदानां तेषां मुख्यभेदानां च भेदानाम् अवान्तरभेदानां च सङ्कलनया गणनया ।

महाविषयस्य—अशेषलक्ष्यव्यापिनः । सभी लक्ष्यों में व्याप्त रहने वाले ।

अप्रसिद्धालङ्कारविशेषमात्रप्रतिपादनेन—अप्रसिद्धा ये अलङ्कारा तेषां विशेषस्य मात्रस्य प्रतिपादनेन । यहाँ विशेष शब्द का कथन अलङ्कारों के अव्यापकत्व को और मात्र शब्द का कथन उनके अङ्गित्व के अभाव को प्रकट करता है ।

तद्भावितचेतसाम्—तेन ध्वनिना भावितानि अधिवासितानि चेतांसि येषां तेषाम् ।

संरम्भः—उत्साहातिशयः ।

कलुषितशेमुषीकत्वम्—कलुषितशेमुषीप्रज्ञा यस्य तस्य भावः तत्त्वम् । क्योंकि ध्वनि के अस्तित्व की सिद्धि के लिये दी गई युक्तियाँ दृढ और ठोस हैं, अतः ध्वनिवादियों के प्रति ईर्ष्या करना उचित नहीं है ।

तदेवं ध्वनेस्तावदभाववादिनः प्रत्युक्ताः—इस प्रकार से ध्वनिकार ने इस प्रकरण में ध्वनि के अभाववादियों के तीनों पक्षों की युक्तियों का खण्डन करके उनका प्रत्युत्तर दे दिया है ।

ध्वनि के अस्तित्व को सिद्ध करके ध्वनिकार उसके दो मुख्य भेदों को प्रदर्शित करते हैं—

हिन्दी अर्थ—ध्वनि का अस्तित्व है । और वह सामान्य रूप से अविवक्षितवाच्य और विवक्षितान्यपरवाच्य भेद से दो प्रकार का है ।

ध्वनिकार ने ध्वनि के प्रथम दो भेद दिखाये हैं—

(१) **अविवक्षितवाच्य**—लक्षणामूलध्वनि अविवक्षितवाच्य ध्वनि है । "अविवक्षितं तन्त्रं वाच्यं मुख्यार्थं यत्र सः, जिसमें वाच्य अर्थ की विवक्षा नहीं होती । मुख्य वाच्य अर्थ के बाधित होने से इसमें लक्ष्य अर्थ विवक्षित होता है, अतः इसको लक्षणामूल भी कहते हैं । इसके सम्बन्ध में मम्मट ने कहा है—

'लक्षणामूलगूढव्यङ्ग्यप्राधान्ये सत्येव अविवक्षितं वाच्यं यत्र स 'ध्वनौ' इत्यनुवादाद् ध्वनिरिति ।'

(२) **विवक्षितान्यपरवाच्य**—अभिधामूल ध्वनि को विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि कहते हैं । 'विवक्षितम् अन्यपरं व्यङ्ग्यनिष्ठं च वाच्यं यत्र सः' । जहाँ वाच्य अर्थ विवक्षित होने पर भी व्यङ्ग्य अर्थ में प्रतिनिष्ठ होता है, वह विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि है ।

तत्राद्यस्योदाहरणम्—

सुवर्णपुष्पां पृथिवीं चिन्वन्ति पुरुषास्त्रयः।
शूरश्च कृतविद्यश्च यश्च जानाति सेवितुम् ॥

द्वितीयस्यापि—

शिखरिणी क्व नु नाम कियच्चिरं किमभिधानमसावकरोत्तपः।
सुमुखी येन तवाधरपाटलं दशति बिम्बफलं शुकशावकः ॥१३॥

सामान्येन—यद्यपि ध्वनि के वस्तु, अलङ्कार और रसादि के भेद से तीन मुख्य भेद किये गये हैं, तथापि वाच्य में इसके दो मुख्य भेद—अविवक्षितवाच्य और विवक्षितान्यपरवाच्य किये गये हैं और यह ध्वनि इन दो मुख्य भेदों के अनुसार परिगणित की गई है।

ध्वनि के दो प्रमुख भेदों को कहकर उनके उदाहरण कहे जाते हैं—

हिन्दी अर्थ—उनमें से पहले का (अविवक्षितवाच्य का) उदाहरण यह है—

सुवर्ण रूप पुष्पों वाली पृथिवी का चयन तीन प्रकार के पुरुष करते हैं—पहला शूर, दूसरा विद्वान् और तीसरा वह जो उसका सेवन करना जानता है।

इस श्लोक में पृथिवी न तो कोई वृक्ष या लता है और न ही इसमें पुष्प विकसित होते हैं, जिनका कि चयन किया जाता है। अतः इसका वाच्य अर्थ सङ्गत न होने से मुख्यार्थबाधा उपस्थित होती है। अभिधा व्यापार के सङ्गत न होने से लक्षणा का प्रयोग करना होता है। लक्षणा द्वारा 'सुवर्णपुष्प' शब्द का अर्थ 'विपुल धन' और 'चयन' का अर्थ समृद्धि का अनायास उपार्जन लक्ष्य अर्थ होंगे। इस लक्षणा का प्रयोजन होगा—शूर, कृतविद्य और सेवा में विचक्षण पुरुषों का प्राशस्त्य। यह प्रयोजन व्यङ्ग्य अर्थ है, जो कि स्वपदवाच्य न होकर सुन्दर नायिका के कुचकलश के समान सौन्दर्यातिशय से सम्पन्न है। इस प्रकार लक्षणामूल होने के कारण यह अविवक्षितवाच्य ध्वनि है। इस पद्य की व्याख्या में अभिधा, लक्षणा, तात्पर्य और व्यञ्जना, ये चारों वृत्तियाँ कार्य करती हैं। यहाँ मुख्य रूप से शब्द व्यञ्जक है तथा सहकारी रूप से अर्थ भी व्यञ्जक है।

अभिनवगुप्त ने यहाँ 'सुवर्णपुष्पा' का विग्रह 'सुवर्णानि पुष्पति पुष्पति या सा' किया है। इस प्रकार का विग्रह करने पर सुवर्ण उपपद होने से "कर्मण्यण्" सूत्र से 'अण्' प्रत्यय होकर 'टिड्ढाणञ्०' सूत्र से ङीप् प्रत्यय होकर 'सुवर्णपुष्पी' रूप बनेगा, सुवर्णपुष्पा नहीं। अतः यहाँ उपपद समास के रूप में विग्रह करना उचित नहीं। यदि यहाँ 'सुवर्णमय पुष्प यस्या सा', इस प्रकार बहुव्रीहि समास के रूप में विग्रह किया जाये, तो 'सुवर्णपुष्पा' रूप बन सकेगा। इसलिये यहाँ यही विग्रह करना उचित होगा।

अविवक्षितवाच्यध्वनि का उदाहरण प्रस्तुत करके विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि का उदाहरण देते हैं—

हिन्दी अर्थ—दूसरे का उदाहरण इस प्रकार है—

हे सुन्दर मुख वाली! इस शुकशावक ने किस पर्वत पर, कितनी देर तक, कौनसी तपस्या की थी, जिसके कारण यह तुम्हारे अधर के समान लाल रंग के बिम्ब-फल को काट रहा है।

इस पद्य में नायिका के अधर को प्राप्त करने में सौभाग्य का अतिशय, एवं उसके रसास्वादन की अभिलाषा व्यञ्जित होती है। 'क्व शिखरिणि' से व्यञ्जित है कि श्रीपर्वत आदि पवित्र पर्वत धाम भी तपस्या का यह फल नहीं दे सकते। 'कियच्चिरम्' का अभिप्राय है कि इस तपस्या के लिये कल्प आदि की अवधि बहुत कम है। 'किमभिधानम्' का अभिप्राय है कि यह फल पञ्चाग्नि आदि तप से भी प्राप्त नहीं हो सकता। इस प्रकार नायिका के अधर को प्राप्त करने में सौभाग्य का अतिशय अभिव्यक्त होकर कामुक नायक अपनी प्रमिका के रक्तवर्ण के अधर का आस्वादन करने की कामना अभिव्यक्त कर रहा है।

'तवाधरपाटलम्' पद में 'तव' और 'अधर' का समास नहीं किया गया। कुछ का विचार है कि छन्द के अनुरोध से ऐसा नहीं हुआ। परन्तु अभिनवगुप्त ने इस समास के न होने में विशेष व्यङ्ग्य की अभिव्यञ्जना मानी है। 'तव' का 'अधर' के साथ समास होने पर यह 'अधर' का विशेषण हो जाता और उसकी प्रधानता नहीं रहती। इस समास के न होने से शुकशावक की रसज्ञता अभिव्यक्त होती है कि वह उस फल का आस्वादन कर रहा है, उसको खाकर पेट नहीं भर रहा। नायक भी नायिका के अधर का उसी प्रकार आस्वादन करना चाहता है।

अभिनवगुप्त का कथन है कि विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि में अभिधा, तात्पर्य एवं ध्वनन, ये तीन ही व्यापार होते हैं। मुख्यार्थ बाधा आदि के न होने से इसमें लक्षणा व्यापार नहीं है। इसके साथ ही उनका यह भी कहना है कि यदि इसमें लक्षणा का उपयोग किया भी जावे और इस प्रकार चार व्यापार माने भी जावें, तो भी इसका अविवक्षितवाच्य ध्वनि से भेद रहेगा। कारण यह है कि पहले उदाहरण में व्यञ्जना व्यापार में लक्षणा ही प्रधान सहकारिणी है जबकि इस विवक्षितान्यपरवाच्य-ध्वनि के उदाहरण में व्यङ्ग्य की प्रतीति मुख्य रूप से अभिधा एवं तात्पर्य वृत्ति की सहकारिता से होती है ॥१३॥

इस स्थल पर यह शङ्का उत्पन्न होती है कि ध्वनिकार ने ग्रन्थ के प्रारम्भ में ध्वनिविरोधियों के तीन मत प्रस्तुत किये थे—अभाववादी, भक्तिवादी, अलक्षणीयता-वादी। ध्वनिकार ने अभाववादियों का खण्डन करके ध्वनि के दो भेद किये, तदनन्तर भक्तिवादियों और अलक्षणीयतावादियों का खण्डन किया, जबकि प्रकरण के अनुसार उनको चाहिये था कि पहले तीनों ध्वनिविरोधी मतों का खण्डन करते, तदनन्तर ध्वनि के भेद प्रस्तुत करके उनके उदाहरण देते। इसमें यह ध्यान देने योग्य है कि भक्तिवादियों एवं अलक्षणीयतावादियों के मतों का खण्डन करने से पूर्व ध्वनि के दो भेद एवं उनके उदाहरण देकर ध्वनिकार इनके आधार पर उन दोनों मतों का खण्डन करेंगे।

यदप्युक्तं भक्तिर्ध्वनिरिति, तत्प्रतिसमाधीयते—

भक्त्या बिभर्ति नैकत्वं रूपभेदादयं ध्वनिः ।

अयमुक्तप्रकारो ध्वनिर्भक्त्या नैकत्वं बिभर्ति भिन्नरूपत्वात् । वाच्यव्यतिरिक्तस्यार्थस्य वाच्यवाचकाभ्यां तात्पर्येण प्रकाशनं यत्र व्यङ्ग्यप्राधान्ये स ध्वनिः । उपचारमात्रं तु भक्तिः ।

ध्वनिकार अब ध्वनिविरोधियों के तीसरे मत भक्तिवाद का खण्डन करते हैं—

हिन्दी अर्थ—यह जो कहा गया है कि भक्ति ही ध्वनि है, उसका समाधान किया जाता है—

रूप मे भेद होने के कारण यह ध्वनि भक्ति के साथ एकत्व को प्राप्त नहीं हो सकती ।

यह उक्त प्रकार की ध्वनि भिन्नरूप वाली होने के कारण भक्ति के एकत्व को धारण नहीं कर सकती । जहाँ वाच्य और वाचक के द्वारा वाच्य के भिन्न अर्थ का तात्पर्य के द्वारा प्रकाशन किया जाता है, वहाँ व्यङ्ग्य अर्थ के प्रधान होने पर ध्वनि होती है । भक्ति तो उपचारमात्र है ।

जिस प्रकार ध्वनिकार ने अभाववादियों के तीन विकल्पों को प्रस्तुत करके उनका खण्डन किया है, उसी प्रकार वे भक्तिवाद के तीन विकल्प प्रस्तुत करके उनका खण्डन करते है ।

(१) ध्वनि को भक्ति से अभिन्न कहने का पहला अभिप्राय यह हो सकता है कि क्या ध्वनि भक्ति का पर्याय हो सकता है ? जैसे घट और कलश परस्पर पर्यायवाची शब्द है ।

(२) क्या भक्ति ध्वनि का लक्षण हो सकती है ? जैसे पृथिवी का लक्षण है— जिस द्रव्य मे पृथिवीत्व है, वह पृथिवी है । अथवा "गन्धवती पृथिवी" जो द्रव्य गन्धवान् है, वह पृथिवी है । किसी वस्तु के असाधारण धर्म को कहना अथवा उसको समान जातीय एव असमानजातीय वस्तुओं से पृथक् करना लक्षण है (लक्षणत्वसाधारणधर्मवचनम्, अथवा समानासमानजातीयव्यवच्छेदो हि लक्षणार्थः)। वैशेषिक दर्शन के अनुसार नौ द्रव्य है—पृथिवी, अप्, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा और मन । इन सजातीय द्रव्यों मे से गन्ध या पृथिवीत्व केवल पृथिवी मे है तथा यह गन्ध या पृथिवीत्व पृथिवी के असमानजातीय गुण, कर्म, समवाय आदि मे नहीं है । अत पृथिवी का लक्षण 'गन्धवती' या 'पृथिवीत्ववती' इसको समान जातीय एव असमानजातीय वस्तुओं से पृथक् करता है । अत. यह पृथिवी का लक्षण है । क्या भक्ति भी ध्वनि का इसी प्रकार से लक्षण है ?

(३) क्या भक्ति ध्वनि का उपलक्षण है ? जैसे 'काकवत्त्व' देवदत्त के घर का उपलक्षण है । उपलक्षण का अभिप्राय है—'व्यावर्तकम् अवर्तमान विधेयान्वयि उप-

मा चैतत् स्याद् भक्तिर्लक्षणं ध्वनेरित्याह—
अतिव्याप्तेरथाव्याप्तेर्न चासौ लक्ष्यते तया ॥१४॥

लक्षणम्।" अर्थात् जिसके द्वारा अप्रतिपाद्य वस्तु का अन्य वस्तुओं से पृथक् दिखाया जा सके, जो प्रतिपाद्य न रहा हो, परन्तु सदा विद्यमान न रहता हो, उसको उपलक्षण कहते हैं। जैसे "काकवद् देवदत्तस्य गृहम्।" इसका अभिप्राय यह है कि दो व्यक्ति साथ साथ जा रहे थे। मार्ग में देवदत्त का घर पड़ा, जिस पर बहुत से कौये बैठे थे। दोनों में से एक ने पूछा कि देवदत्त का कौन सा घर था। दूसरे ने उत्तर दिया कि जिस घर पर कौये बैठे थे, वही देवदत्त का घर था यद्यपि बाद में उस घर पर कौये नहीं भी हो सकते हैं। इस प्रकार 'काकवत्त्व' देवदत्त के घर का अन्य घरों से विभेद प्रकट करता है, तथा उसका उपलक्षण है। जो धर्म किसी वस्तु में सदा विद्यमान रहे, वह विशेषण कहलाता है तथा जो सदा विद्यमान न रहे, वह उपलक्षण कहलाता है। क्या भक्ति ध्वनि का उसी प्रकार से उपलक्षण है जिस प्रकार 'काकवत्त्व' देवदत्त के घर का उपलक्षण है।

इस प्रकार भक्तिवादियों के तीन विकल्पों की कल्पना करके ध्वनिकार पहले विकल्प का खण्डन करते हैं—भक्ति ध्वनि का पर्याय नहीं हो सकती, क्योंकि दोनों का रूप भिन्न है।

ध्वनि का रूप पहले बताया जा चुका है कि यह पाञ्च प्रकार से हो सकती है—वाच्य में, वाचक में, व्यङ्ग्य में, व्यञ्जना व्यापार में और काव्यविशेष में। परन्तु भक्ति का रूप इससे भिन्न है। भक्ति तो केवल उपचार मात्र है, किन्तु ध्वनि वहाँ है जहाँ वाच्य और वाचक द्वारा तात्पर्य रूप में वाच्य से अतिरिक्त व्यङ्ग्य अर्थ का प्रकाशन हो, तथा वह व्यङ्ग्य अर्थ प्रधान हो। इस प्रकार भक्ति और ध्वनि के रूपों में भिन्नता होने से ये दोनों पर्याय नहीं हो सकते।

तात्पर्येण—'*विश्रान्तिधामतया प्रयोजनत्वेन*।' तात्पर्य का अभिप्राय है कि जो अन्तिम अर्थ प्रयोजन के रूप में अन्तिम रूप से विवक्षित है।

उपचारमात्रम्—"उपचारो गुणवृत्तिर्लक्षणा। उपचरणमतिशयितो व्यवहार, इत्यर्थः।" उपचार पद का अभिप्राय है गौण रूप से प्रयोग करना या लक्षणा। अभिनवगुप्त के अनुसार अतिशयित व्यवहार के उपचरण कहते हैं। सङ्केतित अर्थ को छोड़कर उससे सम्बद्ध अर्थ का बोध होना अतिशयित व्यवहार या उपचार है। उपचार का लक्षण यह भी हो सकता है—'अतच्छब्दस्य तच्छब्देनाभिधानमुपचारः।' उपचार पद का प्रयोग साहित्य में गुणवृत्ति या लक्षणा के लिए किया गया है।

यहाँ मात्र पद के प्रयोग का अभिप्राय यह है कि लक्षणा व्यापार से अतिरिक्त प्रयोजन द्योतनरूप चौथा व्यञ्जना व्यापार वस्तुस्थिति के साथ सम्भव हुआ भी उपयुज्यमान न होने के कारण आदर का पात्र न होकर नहीं के तुल्य है।

हिन्दी अर्थ—यह भी नहीं कह सकते कि भक्ति ध्वनि का लक्षण है। क्योंकि—

अतिव्याप्ति तथा अव्याप्ति दोष होने के कारण भक्ति से ध्वनि लक्षित नहीं हो सकती॥१४॥

नैव भक्त्या ध्वनिर्लक्ष्यते । कथम् ? अतिव्याप्तेरव्याप्तेश्च । तत्राति-व्याप्तिर्ध्वनिव्यतिरिक्तेऽपि विषये भक्तेः सम्भवात् । यत्र हि व्यङ्ग्यकृतं महत् सौष्ठवं नास्ति, तत्राप्युपचरितशब्दवृत्त्या प्रसिद्ध्यनुरोधप्रवर्तितव्य-वहाराः कवयो दृश्यन्ते । यथा—

भक्तिवादियों के प्रथम विकल्प "भक्ति और ध्वनि पर्यायवाची हैं" का खण्डन करके ध्वनिकार दूसरे विकल्प का, "भक्ति ध्वनि का लक्षण है" इसका खण्डन करते हैं—

भक्ति से ध्वनि लक्षित नहीं होती है। कैसे ? अतिव्याप्ति और अव्याप्ति दोष होने से। इसमें अतिव्याप्ति दोष इस प्रकार है कि ध्वनि से भिन्न विषय में भी भक्ति सम्भव हो सकती है। क्योंकि जहाँ व्यङ्ग्यकृत महान् काव्यसौन्दर्य नहीं है, वहाँ भी उपचरित शब्द व्यापार (गौणी लक्षणा व्यापार) के द्वारा कवि जन प्रसिद्धि के अनुरोध से व्यवहारों को प्रवर्तित करते हुये देखे जाते हैं। जैसे—

ध्वनिकार का कथन है कि भक्ति को ध्वनि का लक्षण दो कारणों से नहीं माना जा सकता है—(१) अतिव्याप्ति एवं (२) अव्याप्ति दोष होने से। लक्षण में तीन दोष हो सकते हैं = (१) असम्भवता, (२) अतिव्याप्ति और अव्याप्ति।

(१) यदि वह लक्षण लक्ष्य वस्तु में उपस्थित न हो तो यह असम्भवता दोष है।

(२) यदि वह लक्षण लक्ष्य वस्तु से भिन्न वस्तुओं में भी हो तो यह अतिव्याप्ति दोष है।

(३) यदि वह लक्षण लक्ष्य वस्तु में कहीं हो और कहीं न हो, तब यह अव्याप्ति दोष है।

भक्ति को ध्वनि का लक्षण मानने में अतिव्याप्ति और अव्याप्ति दोष उत्पन्न हो जाते हैं, अतः इसको ध्वनि का लक्षण स्वीकार नहीं किया जा सकता। अनेक स्थलों पर, जहाँ ध्वनि नहीं है वहाँ भी भक्ति सम्भव हो सकती है। यद्यपि यह युक्ति दी जा सकती है कि भक्ति (गौणी लक्षणा) में प्रयोजन (व्यङ्ग्य अर्थ) सदा विद्यमान रहता है, क्योंकि यह प्रयोजन पर ही आधारित है, तथापि ध्वनि वहीं है जहाँ व्यङ्ग्य अर्थ की प्रधानता हो, व्यङ्ग्य अर्थ का चमत्कार अधिक हो। परन्तु अनेक स्थलों में काव्यों में यह देखा गया है कि प्रयोजन (व्यङ्ग्य अर्थ) का अधिक चमत्कार नहीं भी होता। कवि लाक्षणिक शब्दों का इसलिये प्रयोग कर देते हैं, क्योंकि इनका प्रयोग प्राचीन परम्परा से प्रचलित है। वे यह विचार नहीं करते कि इनके प्रयोग से काव्य के सौन्दर्य में वृद्धि होगी या नहीं। इन अवस्थाओं में काव्य में भक्ति के होने पर भी ध्वनि नहीं होगी। यदि भक्ति को ध्वनि का लक्षण मान लिया जावे तो इन काव्यों में भक्ति के होने पर भी ध्वनि अवश्य होनी चाहिये। परन्तु ऐसा नहीं है। जैसे—

परिम्लानं पीनस्तनजघनसङ्गादुभयतः
तनोर्मध्यस्यान्तः परिमिलनमप्राप्य हरितम् ।
इदं व्यस्तन्यासं श्लथभुजलताक्षेपवलनैः
कृशाङ्ग्याः सन्तापं वदति बिसिनीपत्रशयनम् ॥

तथा—

चुम्बिज्जइ सअहुत्तं अवरुन्धिज्जइ सहस्सहुत्तम्मि ।
विरमिअ पुणोरमिज्जइ पिओ जणोणत्थि पुनरुत्तम् ॥
(चुम्ब्यते शतकृत्वोऽवरुध्यते सहस्रकृत्वः ।
विरम्य पुना रम्यते प्रियो जनो नास्ति पुनरुक्तम् ॥)

यह पद्य श्रीहर्षकृत 'रत्नावली' नाटिका से उद्धृत किया गया है। लताकुञ्ज से मदनशय्या को छोडकर सागरिका चली गई है। इस शय्या की अवस्था को देखकर सागरिका की मदनपीडा का अनुमान करके राजा उदयन विदूषक से कहता है—

हिन्दी अर्थ—यह कमलिनी के पत्तो की शय्या मोटे स्तनो और जघनो के सम्पर्क के कारण दोनों ओर मे मुरझाई हुई है, शरीर के मध्यभाग में सम्पर्क को प्राप्त न करने से हरी है और शिथिल भुजलताओं के इधर उधर फेंकने तथा मरोडने के कारण अस्तव्यस्त हो गई है, अत यह उस कृशाङ्गी के सन्ताप को कह रही है।

'वदति' पद का वाच्य अर्थ है—व्यक्त वाणी को कहना (वद व्यक्तायां वाचि)। परन्तु 'बिसिनीपत्रशयन' के अचेतन होने के कारण यह वाच्य अर्थ बाधित होता है। वाच्य अर्थ के बाधित होने से मुख्य अर्थ से सम्बन्धित लक्ष्य अर्थ 'प्रकट करती है (प्रकटयति), लक्षणा द्वारा लक्षित होता है।

यहाँ यह युक्ति दी जा सकती है कि 'प्रकटयति' पद का प्रयोग न करके 'वदति' पद के प्रयोग करने का प्रयोजन स्फुटीकरण प्रतीति है, जो कि व्यङ्ग्य अर्थ है। अत व्यङ्ग्य अर्थ के होने से यह ध्वनि काव्य हुआ। परन्तु यह युक्ति सारहीन है। ध्वनि वही होती है, जहाँ व्यङ्ग्य अर्थ मे चारुत्वप्रतीति होती है। इस प्रयोजन की प्रतीति मे कोई चारुत्व नाही है और नाही इससे किसी प्रकार से काव्य के सौन्दर्य मे वृद्धि होती है। यदि 'वदति' के स्थान पर 'प्रकटयति' पद का प्रयोग किया जाता, तो भी काव्य मे किसी प्रकार का अचारुत्व नही आता और अभिधा द्वारा ही कवि के प्रयोजन की सिद्धि हो जाती। इस प्रकार यहाँ ध्वनि न होने पर भी भक्ति है। यदि भक्ति को ध्वनि का लक्षण मान लिया जाता तो यहाँ भी ध्वनि माननी पडती। इसलिये ध्वनि से भिन्न स्थान पर भक्ति के अतिव्याप्त होने की सम्भावना से उसको ध्वनि का लक्षण नही माना जा सकता।

हिन्दी अर्थ—उसी प्रकार से-

प्रियजन सैकडो बार चुम्बन किया जाता है, हजारो बार आलिङ्गन किया जाता है और रुक रुक कर पुनः पुनः रमण किया जाता है, तो भी वह पुनरुक्त नहीं होता।

तथा—

> कुविआओ पसन्नाओ ओरण्णमुहीओ विहसमाणाओ।
> जह गहिओ तह हिअअं हरन्ति उच्छिन्तमहिलाओ ॥
> (कुपिता प्रसन्ना अवरुदितमुख्यो विहसन्त्यः।
> यथा गृहीतास्तथा हृदयं हरन्ति स्वैरिण्यो महिलाः ॥)

तथा—

> अज्जाए पहारो णवलदाए दिण्णो पिएण थणवट्टे।
> मिउओ कि दूसहो जाओ हिअए सवत्तीणम् ॥
> (भार्यायाः प्रहारो नवलतया दत्त. प्रियेण स्तनपृष्ठे।
> मृदुकोऽपि दुस्सह इव जातो हृदये सपत्नीनाम् ॥)

यहाँ 'पुनरुक्त' पद का वाच्य अर्थ बाधित होता है, क्योंकि उसी कार्य का पुन पुन होना पुनरुक्त ही है। अत मुख्य अर्थ के बाधित होने से लक्ष्य अर्थ—'अनुपादेयता, अरुचिकरता' लक्षित होता है। यहाँ भी प्रयोजन 'अतिशयफलशालित्व' के प्रधान न होने के कारण यह काव्य ध्वनि नहीं है। अत अतिव्याप्ति दोष के कारण भक्ति को ध्वनि का लक्षण नहीं कहा जा सकता।

हिन्दी अर्थ—उसी प्रकार से—

नाराज होती हुई, प्रसन्न होती हुई, रोती हुई या हसती हुई स्वैरिणी स्त्रियाँ जैसे भी ग्रहण करें वैसे ही हृदय का हरण कर लेती हैं।

यहाँ 'गृहीता' और 'हरन्ति' पदों के वाच्य अर्थ बाधित है, क्योंकि हृदय का न तो ग्रहण किया जा सकता है और न हरण किया जा सकता है। अत इन पदों से क्रमश लक्ष्य अर्थ 'उपादेयता' और 'अधीनता' लक्षित होते हैं। 'गृहीत' पद के प्रयोग का प्रयोजन 'आत्मसात्करण' और 'हरन्ति' पद के प्रयोग का प्रयोजन 'अत्यधिक विवश होना' है। परन्तु इन प्रयोजनों (व्यङ्ग्य अर्थों) की प्रधानता न होने से यहाँ ध्वनि नहीं है। *यदि भक्ति को ध्वनि का लक्षण मान लेते तो यहाँ लक्षणा होने से* इस काव्य को भी ध्वनि काव्य मानना पड़ता। इसलिये अतिव्याप्ति दोष होने से भक्ति को ध्वनि का लक्षण नहीं माना जा सकता।

हिन्दी अर्थ—उसी प्रकार से—

कनिष्ठा भार्या के स्तनों पर प्रिय के द्वारा नवलता से दिया गया प्रहार कोमल होता हुआ भी सौतो के हृदय मे दुस्सह हो गया।

यहाँ 'दत्त' पद का वाच्यार्थ बाधित है। दान का लक्षण है—'स्वस्वत्वनिवृत्तिपूर्वक परस्वत्वोत्पादन दानम्'। किसी वस्तु में अपने अधिकार को छोड़कर उस पर दूसरे का अधिकार करा देना दान है। 'दत्त' पद का 'दान देना' अर्थ बाधित होने से यहाँ इस पद से 'सम्पन्न होना (प्रकट होना)' इस लक्ष्य अर्थ का बोध होता है। इसमें सौभाग्यातिशय की प्रतीति प्रयोजन है। इस पद्य में प्रयोजन (व्यङ्ग्य

तथा—

परार्थे य पीडामनुभवति भङ्गेऽपि मधुरो
यदीय. सर्वेषामिह खलु विकारोऽप्यभिमत. ।
न सम्प्राप्तो वृद्धि यदि स भृशमक्षेत्रपतितः
किमिक्षोर्दोषोऽसौ न पुनरगुणाया मरुभुवः ॥

अत्रेक्षुपक्षेऽनुभवतिशब्दः ।
न चैवंविध. कदाचिदपि ध्वनेर्विषय. ॥१४॥

अर्थ) के प्रधान न होने से ध्वनि नही है । भक्ति को ध्वनि लक्षण मानने पर यहाँ भी ध्वनि माननी पडती । इसलिये अतिव्याप्ति दोष होने से भक्ति को ध्वनि का लक्षण नही माना जा सकता ।

हिन्दी अर्थ—उसी प्रकार से–

इस पद्य के दो अर्थ इक्षु पक्ष मे और सज्जन पक्ष मे सङ्गत होते हैं। इक्षु पक्ष मे–जो दूसरो के लिये कोल्हू मे पेला जाता है, तोडा जाने पर भी मधुर होता है, जिससे बने हुये सभी पदार्थ गुड, शकर आदि यहाँ सबको अच्छे लगते हैं, यदि वह किसी ऊसर खेत मे पड कर वृद्धि को प्राप्त नहीं होता, तो वह इक्षु का दोष नहीं है, अपितु उस रेतीली भूमि का दोष है ।

सज्जन पक्ष में—जो दूसरे व्यक्तियो के लिये पीडा को सहन करता है, अपमानित होने पर भी जिसका व्यवहार मधुर रहता है जिसके क्रोध आदि विकार भी यहाँ सबको अच्छे लगते हैं, वह सज्जन व्यक्ति भी यदि अयोग्य स्थान मे पडा हुआ उन्नति को प्राप्त नहीं करता तो यह उसका दोष नहीं है, अपितु उस निर्गुण स्थान का दोष है ।

इस पद्य मे इक्षु पक्ष के अर्थ मे 'अनुभवति' पद भाक्त है ।

यहाँ 'अनुभवति' पद का मुख्य अर्थ बाधित है क्योकि अचेतन होने से वह पीडा का अनुभव नही कर सकता । अत यहाँ लक्षणा द्वारा लक्ष्य अर्थ 'कोल्हू म पेला' जाना' लक्षित होता है । इसका प्रयोजन 'पीड्यमानत्व' की प्रतीति है । प्रयोजन (व्यङ्ग्य अर्थ) के प्रधान न होने से यहाँ ध्वनि नही है । यदि भक्ति को ध्वनि का लक्षण मान लेते तो यहाँ भी ध्वनि माननी पडती । अत अतिव्याप्ति दोष होने के कारण भक्ति को ध्वनि का लक्षण नही माना जा सकता ।

प्रतिपक्षी शका कर सकते है कि उक्त पद्यो मे प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति होने से ध्वनि होगी, उसी का ध्वनिकार उत्तर देते हैं—

हिन्दी अर्थ—इस प्रकार का काव्य कभी भी ध्वनि का विषय नहीं हो सकता ।

ध्वनि वहीं होती है, जहाँ व्यङ्ग्य अर्थ की प्रतीति का प्राधान्य होता है । इन काव्यो मे प्रयोजन का प्राधान्य नहीं है, अत ये ध्वनि काव्य नहीं है ॥१४॥

अलङ्कारशास्त्रियो के अनुसार लक्षणा दो प्रकार की होती है–रूढा और प्रयोजनवती। रूढा लक्षणा में भक्ति—अर्थात् लक्षणा तो रहती है, परन्तु इसमे प्रयोजन रूप व्यङ्ग्य अर्थ का अभाव होता है। प्रयोजनवती लक्षणा म प्रयोजन व्यङ्ग्य तो होता है, परन्तु इसकी प्रतीति लक्षणा से नही, अपितु व्यञ्जना से होती है।

ध्वनिकार ने यह प्रतिपादित किया है कि प्रयोजनवती लक्षणा मे ध्वनि हो भी सकती है और नही भी हो सकती। यदि वहाँ प्रयोजन (व्यङ्ग्य अर्थ) का चारुत्व प्रधान है तो वहाँ ध्वनि होगी, परन्तु यदि वह प्रधान नही है तो ध्वनि नही होगी। इसके विपरीत रूढा लक्षणा मे प्रयोजन होता ही नही, अत· वह कभी भी ध्वनि का विपय नही हो सकती। इस कथन को ध्वनिकार न 'लावण्य' आदि शब्दा क उदाहरण द्वारा स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है।

'लावण्य' पद का विग्रह है—लवणस्य भाव लावण्यम्'। परन्तु 'लावण्य' पद का प्रयोग लवणरसयुक्त के अर्थ मे नही किया जाता। यह पद सौन्दर्य के अर्थ मे प्रयुक्त होता है और इसी अर्थ मे रूढ या प्रसिद्ध हो गया है। इसी प्रकार के अन्य बहुत से शब्द—अनुलोम, प्रतिकूल, कुशल आदि है, जो मुख्य वाच्य अर्थ को छोडकर लक्ष्य अर्थ का कथन करते हैं। इनमे उपचरित शब्दवृत्ति = लक्षणा तो है, परन्तु कोई प्रयोजन नही है, जिसको लक्ष्य करके लक्षणा का प्रयोग हुआ हो और उसके द्वारा यहाँ ध्वनि का व्यवहार हो सकता हो। अभिनवगुप्त का कथन है कि रूढ होने से ही इनम लक्षणा के तीन हेतुओ–मुख्यार्थबाधा, मुख्याथयोग और प्रयोजन की अपेक्षा नही है तथा इन शब्दो से अभिधा के सदृश ही अर्थ की प्रतीति होनी है। इसके लिये वे कुमारिलभट्ट की युक्ति देत हैं—

"निरूढा लक्षणा काश्चित् सामर्थ्यादभिधानवत्"

निरूढा लक्षणायें अपने सामर्थ्य से अभिधा के समान अर्थ का बोध कराती हैं।

इस कारण इन रूढा लक्षणाओं मे लावण्य आदि पदो द्वारा प्रयोजन (व्यङ्ग्य अर्थ) की प्रतीति न होने से ध्वनि का व्यवहार नहीं हो सकता।

इस सम्बन्ध मे एक शका यह उत्पन्न होती है कि लावण्य आदि पदो के प्रयोग मे भी व्यङ्ग्य अर्थ की प्रतीति है। जैसे—'देवडितिलुणाहि पलुअम्मिगमिज्वालगणु-ज्ज्वल गुमरिफेल्लपरण्य' म लावण्य शब्द के होने पर भी प्रतीयमान अर्थ की अभि-व्यक्ति है।

इसका उत्तर भी ध्वनिकार ने दिया है—यह ठीक है कि इन स्थलो पर लावण्य आदि पदो के होने पर भी प्रतीयमान अर्थ अभिव्यक्त होता है। परन्तु यहाँ प्रतीयमान अर्थ प्रतीत होन पर भी यह प्रतीति लावण्य पद के द्वारा नही, अपितु पदान्तर से है।

अपि च—

मुख्यां वृत्तिं परित्यज्य गुणवृत्त्यार्थदर्शनम् ।
यदुद्दिश्य फलं तत्र शब्दो नैव स्खलद्गतिः ॥१७॥

तत्र हि चारुत्वातिशयविशिष्टार्थप्रकाशनलक्षणे प्रयोजने कर्त्तव्ये यदि शब्दस्यामुख्यता तदा तस्य प्रयोगे दुष्टतैव स्यात् । न चैवम् ॥१७॥

समग्र वाक्य के अर्थ के बोधित होने पर यह प्रतीयमान अर्थ व्यञ्जना व्यापार द्वारा बोधित होता है कि प्रियतमा का मुख ही समस्त आशाओं का प्रकाशक है। इस प्रकार इन स्थलों में व्यञ्जना व्यापार द्वारा व्यङ्ग्य अर्थ की प्रतीति हुई है। लक्षणा द्वारा नहीं ॥१६॥

रूढा लक्षणा में व्यङ्ग्य अर्थ न होने से ध्वनि नहीं हो सकती, इस तथ्य को प्रतिपादित करके ध्वनिकार यह सिद्ध करते हैं कि प्रयोजनवती लक्षणा में भी प्रयोजन (व्यङ्ग्य अर्थ) की प्रतीति लक्षणा द्वारा नहीं होती।

हिन्दी अर्थ—और भी—

जिस (शैत्य पावनत्व आदि) फल को लक्ष्य करके मुख्य अभिधा व्यापार को छोड़कर गुणवृत्ति (लक्षणा व्यापार) द्वारा अर्थ का बोध कराया जाता है, उस फलरूप अर्थ का बोध कराने में शब्द स्खलद्गति अर्थात् बाधितार्थ नहीं है ॥१७॥

क्योंकि यदि वहाँ चारुत्व के अतिशय से विशिष्ट अर्थ के प्रकाशन रूप प्रयोजन के सम्पादन में शब्द की अमुख्यता अर्थात् बाधितार्थता हो जाये तो शब्द का प्रयोग करने में ही दोष उपस्थित हो जायेगा। परन्तु ऐसा नहीं है।

अभिप्राय यह है कि दूसरे प्रकार की लक्षणा प्रयोजनवती लक्षणा होती है। इसमें प्रयोजन की प्रतीति के लिये लक्षणा द्वारा अर्थ का बोध होता है। परन्तु प्रयोजन की प्रतीति लक्षणा द्वारा नहीं, अपितु व्यञ्जना द्वारा होती है। लक्षणा का प्रयोग वहाँ इसलिये नहीं होता, क्योंकि प्रयोजन रूप व्यङ्ग्य अर्थ यहाँ बाधित नहीं है।

इसको उदाहरण के द्वारा इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है—

"गङ्गायां घोषः" पद में 'गङ्गा' का वाच्य अर्थ 'गङ्गा का प्रवाह' है, जो कि बाधित होता है, क्योंकि गङ्गा के प्रवाह में घोष की उपस्थिति नहीं हो सकती। अतः 'गङ्गा' पद से 'गङ्गातट' अर्थ लक्षणा द्वारा लिया जाता है। 'गङ्गातट' इस लक्ष्य अर्थ का मुख्य अर्थ से सामीप्य सम्बन्ध है। इस प्रकार यहाँ लक्षणा के प्रयोग के लिये दो हेतु—मुख्यार्थबाध और मुख्यार्थयोग उपस्थित हैं। तीसरा हेतु—प्रयोजन भी होना चाहिये। प्रयोजन यह है कि 'गङ्गायाम् घोषः' कहने से घोष में गङ्गा के गुण शीतलत्व, पावनत्व आदि धर्मों की प्रतीति होती है। यदि वक्ता का प्रयोजन इन धर्मों की

प्रतीति कराना न होता, तो वह 'गङ्गातटे घोष' ही कह सकता था। उसको गङ्गाया घोष' कहने की आवश्यकता नहीं थी।

इस उदाहरण में पहले 'अभिधा द्वारा वाच्य अर्थ की प्रतीति होती है। तदनन्तर वाच्य अर्थ के बाधित होने पर लक्षणा द्वारा लक्ष्य अर्थ की प्रतीति होती है। तदनन्तर व्यञ्जना द्वारा व्यङ्ग्य अर्थ प्रयोजन की प्रतीति होती है। यहाँ व्यञ्जना की अनिवार्यता है, इस विषय में बहुत विवाद है। लक्षणावादियों का कथन है कि यहाँ प्रयोजन रूप व्यङ्ग्य अर्थ की प्रतीति भी लक्षणा द्वारा हो जावेगी। उसके लिये व्यञ्जना वृत्ति को मानने की आवश्यकता नहीं है। इसका उत्तर ध्वनिकार ने यह दिया है कि लक्षणा का प्रयोग वहीं होता है, जहाँ अर्थ की प्रतीति बाधित होती हो, अर्थात् शब्द स्खलद्गति हो। परन्तु यहाँ प्रयोजन की प्रतीति होने में किसी प्रकार की बाधकता नहीं है, अतः यह लक्षणा का विषय नहीं है। इस तथ्य को अभिनवगुप्त ने इस प्रकार स्पष्ट किया है—

"न चासौ लक्षणैव, यतः स्खलन्ती बाधकव्यापारेण विधुरीक्रियमाणा गतिरवबोधनशक्तिरस्य शब्दस्य तदीयो व्यापारो लक्षणा। न च प्रयोजनमवगमयतः शब्दस्य बाधकयोगः। तथाभावे तत्रापि निमित्तान्तरस्य प्रयोजनान्तरस्य चापेक्षणेनानवस्थानात्। तेन नायं लक्षणलक्षणाया विषयः।"

प्रयोजन की प्रतीति लक्षणा से हो सकती है, इसका खण्डन आचार्य मम्मट ने प्रबल युक्तियों द्वारा 'काव्यप्रकाश' में किया है। वे लिखते हैं—

यस्य प्रतीतिमाधातुं लक्षणा समुपास्यते।
फले शब्दैकगम्येऽत्र व्यञ्जनान्नापरा क्रिया॥
नाभिधा समयाभावाद् हेत्वभावान्न लक्षणा।
लक्ष्यं न मुख्यं नाप्यत्र बाधो योगः फलेन नो॥
न प्रयोजनमेतस्मिन् न च शब्दः स्खलद्गतिः।
एवमप्यनवस्था स्याद् या मूलक्षयकारिणी॥

काव्यप्रकाश २ १४–१६॥

जिस प्रयोजन रूप फल की प्रतीति कराने के लिये लक्षणा का प्रयोग किया जाता है, शब्दमात्र से बोधित होने वाले उस फल की प्रतीति में व्यञ्जना से अतिरिक्त दूसरा व्यापार नहीं है। इस प्रयोजन के प्रति साक्षात् संकेत का अभाव होने से अभिधा व्यापार नहीं हो सकता और हेतुत्रय के अभाव के कारण लक्षणा नहीं हो सकती। हेतुत्रय की अनुपस्थिति इस प्रकार है—यहाँ लक्ष्य अर्थ मुख्य अर्थ नहीं है और नाही यह लक्ष्य अर्थ बाधित होता है, नाही लक्ष्य अर्थ का प्रयोजन रूप अर्थ से कोई सम्बन्ध है, नाही प्रयोजन को लक्ष्य अर्थ मानने पर अन्य कोई प्रयोजन प्रतीत होना है और नाही शब्द स्खलद्गति है। यदि प्रयोजन का लक्ष्य अर्थ मानकर किसी अन्य प्रयोजन की कल्पना की जावे तो इसमें अनवस्था दोष उत्पन्न हो जावेगा, जो मूल लक्षणा का ही विनाश कर देगा।

इस प्रकार लक्षणा मूल व्यङ्ग्य अर्थ की प्रतीति में लक्षणा व्यापार को न मान कर व्यञ्जना व्यापार को स्वीकार करना ही होगा। इस कारण ध्वनि के व्यञ्जना व्यापार मूल होने से भक्ति को उसका लक्षण नहीं कहा जा सकता॥१७॥

तस्मात्—

वाचकत्वाश्रयेणैव गुणवृत्तिर्व्यवस्थिता ।
व्यञ्जकत्वैकमूलस्यध्वनेः स्याल्लक्षणं कथम् ॥१८॥

तस्मादन्यो ध्वनिः, अन्या च गुणवृत्तिः ।

अव्याप्तिरप्यस्य लक्षणस्या । न हि ध्वनिप्रभेदो विवक्षितान्यपरवाच्यलक्षणः, अन्ये च बहवः प्रकारा· भक्त्या व्याप्यन्ते । तस्माद् भक्तिरलक्षणम ॥१८॥

अपने कथन का उपसहार करते हुये ध्वनिकार कहते हैं—

हिन्दी अर्थ—इसलिये—

गुणवृत्ति (भक्ति, लक्षणा) वाचकत्व (अभिधा व्यापार) का आश्रय लेकर ही प्रवस्थित है । इसलिये वह ध्वनि का, जिसका एकमात्र मूल व्यञ्जना व्यापार है, लक्षण कैसे हो सकती हैं ॥१८॥

अत. ध्वनि भिन्न है और गुणवृत्ति भिन्न हैं ।

वाचकत्वाश्रयेण—लक्षणा सदा वाचकत्व (अभिधा व्यापार) का आश्रय लेकर अपना व्यापार करती है । प्रथम अभिधा द्वारा मुख्य अर्थ उपस्थित होता है, उसके वाधित होने पर लक्षणा द्वारा मुख्य अर्थ से सम्बन्धित लक्ष्य अर्थ का बोध होता है । अत समालोचको ने लक्षणा को अभिधा की पूछ कहा है । परन्तु व्यन्जना को अपने व्यापार के लिये न अभिधा की अपेक्षा है और न लक्षणा की । इसी को 'काव्यप्रकाश' मे मम्मट ने इस प्रकार स्पष्ट किया है—

"यथा च समयमव्यपेक्षा भिधा तथा मुख्यार्थवाधादि त्रयसमयविशेषस-यपेक्षा लक्षणा । अत एवाभिधापुच्छभूता सेत्याहुः । न च लक्षणात्मकमव ध्वनन, तदनुगमन तस्य दर्शनात् । न च तदनुगतमेव, अभिधावलम्बनेनापि तस्य भावात् । न चोभयानुसार्येव, अवाचकवर्णानुसारेणापि तस्य दृष्टे । न च शब्दानुसार्येव, अशब्दात्मकनेत्रत्रिभागावलोकनादिगतत्वेनापि तस्य प्रसिद्धे । इति, अभिधातात्पर्यलक्षणात्व्यापारत्रयातिवर्ती ध्वननादिपर्यायो व्यापारोऽनपह्नवनीय एव ।" पन्चम उल्लास ।

भक्ति को ध्वनि का लक्षण नही कहा जा सकता, इसके लिये ध्वनिकार ने दोष अतिव्याप्ति और अव्याप्ति बताये थे । इस लक्षण मे अतिव्याप्ति के दोष का प्रतिपादन करके वे अव्याप्ति दोष को उद्घाटित करते हैं ।

हिन्दी अर्थ—भक्ति को ध्वनि का लक्षण कहने मे अव्याप्ति दोष भी है । विवक्षितान्यपरवाच्य नामक ध्वनि का भेद (अभिधामूल ध्वनि) तथा ध्वनि के अन्य अनेक प्रकार के भेद भक्ति से व्याप्त नहीं हैं । इसलिये भक्ति ध्वनि का लक्षण नहीं है ॥१८॥

कस्यचिद् ध्वनिभेदस्य सा तु स्यादुपलक्षणम् ।

सा पुनर्भक्तिर्वक्ष्यमाणप्रभेदमध्यादन्यतमस्य भेदस्य यदि नामोपलक्षणतया सम्भाव्येत । यदि च गुणवृत्त्यैव ध्वनिर्लक्ष्यत इत्युच्यते, तदाभिधाव्यापारेण तदितरोऽलङ्कारवर्ग समग्र एव लक्ष्यत इति प्रत्येकमलङ्काराणां लक्षणकरणवैयर्थ्यप्रसङ्ग ।

भक्ति को ध्वनि का लक्षण मानने में अव्याप्ति दोष उत्पन्न है। ध्वनि के दो मुख्य भेद है—अविवक्षितवाच्य एवं विवक्षितान्यपरवाच्य। अविवक्षितवाच्य ध्वनि मे तो लक्षणा है, परन्तु विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि मे लक्षणा का लेशमात्र भी नही है। विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि के भेदो प्रभेदो, असलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य, रसध्वनि, भावध्वनि आदि मे मुख्यार्थ की बाधा उपस्थित न होने से लक्षणा व्यापार नही होगा, अत वहाँ भक्ति कैसे हो सकती है ? इस कथन को अभिनवगुप्त ने इस प्रकार स्पष्ट किया है—

'एवमतिव्याप्तेरथाव्याप्तेर्न चासौ लक्ष्यते तया"—इति कारिकागतामतिव्याप्ति व्याख्याय अव्याप्ति व्याचष्टे—अव्याप्तिरप्यस्येति । अस्य गुणवृत्तिरूपस्य । यत्र-यत्र ध्वनिस्तत्र तत्र यदि भक्तिर्भवेत्, न स्यादव्याप्ति । न चैवम् । अविवक्षितवाच्येऽस्ति भक्ति —सुवर्णपुष्पामित्यादौ 'शिखरिणी' इत्यादौ तु सा कथम् ।"

"इस प्रकार "अतिव्याप्ति और अव्याप्ति के कारण वह ध्वनि भक्ति से लक्षित नही हो सकती' इस कारिकागत अतिव्याप्ति की व्याख्या करके अव्याप्ति की व्याख्या करते है—इसकी अव्याप्ति भी है। 'अस्य' का अभिप्राय है—गुणवृत्ति रूप भक्ति की। यदि यह व्याप्ति मान ली जावे—'जहाँ-जहाँ ध्वनि है, वहाँ-वहाँ भक्ति है", तो यह अव्याप्ति नहीं होगी। परन्तु ऐसा नही है। 'सुवर्णपुष्पाम्' आदि अविवक्षित वाच्य ध्वनि के उदाहरणो मे तो भक्ति है। परन्तु 'शिखरिणी क्व नु नाम कियच्चिरम्०' आदि विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि के उदाहरणो मे भक्ति नही है। इसलिये अव्याप्ति दोष होने से भक्ति को ध्वनि का लक्षण कैसे कहा जा सकता है ? ॥१८॥

भक्तिवादियो के दो विकल्प—(१) 'भक्ति ध्वनि का पर्याय है (२) भक्ति ध्वनि का लक्षण है" का खण्डन करके ध्वनिकार अब तीसरे विकल्प—"भक्ति ध्वनि का उपलक्षण है' का खण्डन करते है—

हिन्दी अर्थ—वह भक्ति ध्वनि के किसी विशेष भेद का उपलक्षण हो सकती है।

आगे ध्वनि के अनेक भेद कहे जायेगें, उन भेदों में से किसी भेद का यह भक्ति उपलक्षण हो सकती है, इसकी सम्भावना की जा सकती है। अर्थात् सम्पूर्ण ध्वनि का यह उपलक्षण नहीं हो सकती। यदि कहा जावे कि गुणवृत्ति से ही सम्पूर्ण ध्वनि लक्षित होती हैं, तो अभिधा व्यापार से ही उससे भिन्न सम्पूर्ण अलङ्कार भी लक्षित हो सकेंगे और इस प्रकार प्रत्येक अलङ्कार का अलग अलग लक्षण करना व्यर्थ हो जायेगा।

भक्तिवादियों का तीसरा विकल्प यह हो सकता है कि भक्ति ध्वनि का उपलक्षण हो सकती है। यह ठीक है कि ध्वनि और भक्ति एक रूप नही हैं तथा भक्ति को ध्वनि का लक्षण भी नहीं कहा जा सकता। परन्तु वह उपलक्षण हो सकती है, क्योंकि जहाँ ध्वनि है, वहाँ भक्ति है।

किञ्च—

लक्षणेऽन्यैः कृते चास्य पक्षसंसिद्धिरेव नः ॥१६॥

कृते वा पूर्वमेवान्यैर्ध्वनिलक्षणे पक्षसंसिद्धिरेव नः, यस्माद् ध्वनिरस्तीति नः पक्षः। स च प्रागेव संसिद्ध इति, अयत्नसम्पन्नसमीहितार्थाः सम्पन्नाः स्मः।

परन्तु ध्वनिवादि इस युक्ति को स्वीकार नही करते। ध्वनि के सभी स्थानो पर भक्ति नही है। और यदि कही हो भी तो इससे भक्तिवादियो का क्या सिद्ध हो जाता है तथा ध्वनिवादियो का क्या बिगड जाता है? ध्वनिवादी स्वय स्वीकार करते है कि ध्वनि के किसी भेद म भक्ति हो सकती है। परन्तु इससे ध्वनि का भक्ति मे अन्तर्भाव नही हो जायेगा। इसकी व्याख्या अभिनवगुप्त ने इस प्रकार की है—

ननु मा भूद् ध्वनिरिति भक्तिरिति चैक रूपम्। मा च भूद् भक्तिर्ध्वनेर्लक्षणम्। उपलक्षणं तु भविष्यति, यत्र ध्वनिर्भवति तत्र भक्तिरप्यस्ति, इति भक्त्युपलक्षितो ध्वनि। न तावदेतत् सर्वत्रास्ति, इयता च किं परस्य सिद्धम्? किं वा न त्रुटितम्? इति तदाह-कस्यचिदित्यादि।

भक्तिवादी पुन एक और युक्ति दे सकते है। प्राचीन आचार्यों ने भक्ति का वर्णन किया है तथा यह भक्ति ध्वनि के किन्ही भेदो म अनिवार्य रूप से रहती है, अत उसके उपलक्षण के द्वारा ध्वनि को भी समग्र भेदो सहित लक्षित कर लेगे तथा जान लेगे। तो ध्वनि का भक्ति से पृथक् प्रतिपादन करने की क्या आवश्यकता है?

इस युक्ति के उत्तर मे ध्वनिकार का कथन है कि यदि ध्वनि के समग्र भेदो मे भक्ति के न होने पर भी भक्ति के द्वारा उसको जान लेने के सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया जावे, तो प्राचीन भामह उद्भट आदि अलङ्कारवादियो द्वारा शास्त्ररचना ही व्यर्थ होगी। अलकारो का आधार शब्द और उनके अर्थ हैं तथा सकेत एव अभिधा व्यापार से उनकी स्थिति होती है। वैयाकरणो और मीमासको ने शब्द, अर्थ और अभिधा व्यापार का पूरी तरह से विश्लेषण और वर्णन किया है। इस अवस्था मे यदि भक्ति द्वारा ध्वनि को लक्षित माना जा सकता है, तो यही सिद्धान्त अलङ्कारो के वर्णन पर भी लागू होगा और यह मानना होगा कि अभिधा व्यापार के वर्णन द्वारा ही सम्पूर्ण अलङ्कारो का विवेचन हो गया है तथा भामह आदि द्वारा अलङ्कारो का पृथक् पृथक् विवेचन व्यर्थ है। क्योकि भक्तिवादी इस बात को स्वीकार नही कर सकते, अत उनको भक्ति द्वारा ध्वनि को उपलक्षित करने तथा भक्ति म ध्वनि के अन्तर्भाव के आग्रह का भी छोड देना चाहिये।

भक्तिवादी पुन यह कह सकते हैं कि ध्वनिवादियो का ध्वनि के प्रतिपादन के लिये इतना अधिक आग्रह व्यर्थ ही है, क्योकि प्राचीन आचार्यों ने भक्ति का प्रतिपादन किया है तथा पर्यायोक्त, अप्रस्तुतप्रशसा आदि अलकारो के वर्णन के प्रसङ्ग मे ध्वनि को भी लक्षित कर दिया है। इसका उत्तर ध्वनिकार देते है—

हिन्दी अर्थ—और क्या?—

यदि अन्य प्राचीन आचार्यों ने ध्वनि का लक्षण कर दिया है, तो इससे हमारे ही पक्ष की सिद्धि होती है ॥१६॥

अथवा यदि पहले ही किन्हीं अन्य आचार्यों ने ध्वनि का लक्षण कर दिया है, तो इससे हमारे ही पक्ष की सिद्धि होती है, क्योकि हमारा पक्ष यह है कि ध्वनि की सत्ता है और वह यदि पहले ही सिद्ध हो गया है, तो हमारा अभीष्ट तो बिना प्रयत्न के ही सम्पन्न हो जाता है।

येऽपि सहृदयहृदयसंवेद्यमनाख्येयमेव ध्वनेरात्मानमाम्नासिषुस्तेऽपि न परीक्ष्यवादिन । यत उक्तया नीत्या वक्ष्यमाणया च ध्वनेः सामान्यविशेषलक्षणे प्रतिपादितेऽपि यद्यनाख्येयत्वं तत् सर्वेषामेव वस्तूनां तत्प्रसक्तम् । यदि पुनर्ध्वनेरतिशयोक्त्याऽनया काव्यान्तरातिशायि तै स्वरूपमाख्यायते तत्तेऽपि युक्ताभिधायिन एव ॥१९॥

इति श्रीराजानकानन्दवर्धनाचार्यविरचिते ध्वन्यालोके

प्रथम उद्योतः ।

इसकी व्याख्या अभिनवगुप्त ने इस प्रकार की है—

'या भूद्वाऽपूर्वोन्मीलन पूर्वोन्मीलितमवास्माभि सम्यड् निरूपित, तथापि को दोप इत्यभिप्रायेणाह—कि चेत्यादि ।

यदि भक्तिवादी यह कहते है कि ध्वनि का उन्मीलन पहले ही आचार्यों द्वारा किया जा चुका है, तथा उन्मीलन अपूर्व वस्तु का नही है, तो उनकी बात ठीक हो सकती है । उसका ध्वनिवादी विरोध कहाँ करते हैं । ध्वनिवादियों ने तो उसका सम्यक निरूपण किया है । ध्वनिवादियो का अपूर्व उन्मीलन के प्रति उनका आग्रह नही है । यदि यह पहले से उन्मीलित है, तो उनका अभीष्ट बिना प्रयास के ही सम्पन्न हो जाता है ।

प्रथम उद्योत के प्रारम्भ मे आनन्दवर्धन ने ध्वनिविरोधियो के तीन पक्ष प्रस्तुत किये थे—अभाववादी, भक्तिवादी और अलक्षणीयतावादी । यहाँ तक उन्होंने प्रथम दो पक्षो—अभाववादियो और भक्तिवादियो का युक्तिपूर्वक खण्डन किया है । अब वे तीसरे अलक्षणीयतावादियो के पक्ष का भी निराकरण कर रहे हैं—

हिन्दी अर्थ—जिन भी विद्वानो ने सहृदय जनो के हृदयो द्वारा संवेद्य ध्वनि की आत्मा को अनाख्येय (अवर्णनीय या अलक्षणीय) कहा है, वे भी परीक्षा करके ऐसा नहीं कहते क्योकि पहले कहे गये एव आगे कहे जाने वाले प्रकार से ध्वनि के सामान्य एव विशेष लक्षणों के प्रतिपादित किये जाने पर भी यदि ध्वनि को अनाख्येय कहा जा सकता है, तो यह अनाख्येयत्व सभी वस्तुओ मे प्राप्त होगा । पुन यदि वे विद्वान् इस अतिशयोक्ति के द्वारा ध्वनि के अन्य काव्यो को अतिशयित करने वाले स्वरूप को कहते हैं, तो वे भी ठीक ही कहते हैं ।

ध्वनिकार ने अलक्षणीयतावादियो का, जो कि ध्वनि को अनाख्येय कहते हैं, इस प्रकार खण्डन किया है, हमने ध्वनि का दो प्रकार से लक्षण किया है—सामान्य रूप से और विशेष रूप से । यहाँ 'उक्तया नीत्या' का अभिप्राय प्रथम उद्योत म कहे गये ध्वनि के सामान्य लक्षण "यत्रार्थ शब्दो वा०" (कारिका १३) से है, एव 'वक्ष्यमाणया नीत्या' से अभिप्राय है कि आगे दूसरे उद्योत म ध्वनि के विशेष भेद प्रभेद कहे जायेंगे । ध्वनिकार का कथन है कि उन्होंने प्रथम उद्योत म ध्वनि के सामान्य लक्षण को कह दिया है तथा दूसरे उद्योत म वे ध्वनि के विशेषो, भेदो-प्रभेदो के लक्षण कहेंगे । इस अवस्था म ध्वनि को अनाख्येय (अलक्षणीय) कैसे कहा जा सकता है । यदि अलक्षणीयतावादी इसको अब भी अनाख्येय कहते हैं, तो सभी वस्तुयें अनाख्येय होंगी ।

इस प्रसङ्ग म एक शङ्का हो सकती है कि ध्वनिकार ने अभाववादियो एव भक्तिवादियो के खण्डन के लिए कारिकाओ की रचना करके उनकी व्याख्या वृत्ति म

की है, परन्तु अलक्षणीयतावादियो के पक्ष के खण्डन के लिये कारिका की रचना नही है, केवल वृत्ति मे ही इस पक्ष का खण्डन किया गया है। इसका उत्तर अभिनवगुप्त ने इस प्रकार दिया है—

'एव त्रिप्रकारमभाववाद भक्त्यन्तर्भूततां च निराकुर्वता अलक्षणीयत्वमेतन्मध्ये निराकृतमेव। अत एव मूलकारिका साक्षात्तन्निराकरणार्था न श्रूयते। वृत्तिकृत्तु निराकृतमपि प्रमेयशय्यापूरणाय कण्ठेन तत्पक्षमनूद्य निराकरोति—'केऽप्याहुः' इत्यादिना।'

इस प्रकार तीन प्रकार के अभाववाद का और भक्ति मे ध्वनि के अन्तर्भावित होने का खण्डन करके, इनके मध्य म ही ध्वनि के अलक्षणीयत्व का खण्डन कर दिया है। इसी कारण उस अलक्षणीयत्व का साक्षात् रूप से खण्डन करने के लिये मूलकारिका श्रुत नही है। परन्तु प्रमेय (खण्डन के योग्य तीन पक्ष) के सन्निवेश को पूरा करने के लिये निराकृत भी उस पक्ष को (अलक्षणीयतावाद को) शब्दो से कह कर 'केऽपि' इत्यादि शब्दो से उसका निराकरण किया है।

ध्वनिकार ने ध्वनि के अनाख्येयत्व का एक हेतु भी प्रस्तुत किया है। उनका कथन है। कि यदि कोई वस्तु अतिशय गुणान्वित होती है, तो भी उसको अनाख्येय, अवर्णनीय कह दिया जाता है, जैसे वेदान्ती परब्रह्म को 'तान्यक्षराणि हृदये किमपि स्फुरन्ति', 'न शक्यते वर्णयितु गिरा तदा' आदि पदो से अनिर्वचनीय कहते हैं। यदि अलक्षणीयतावादियो ने इस प्रकार की अतिशयोक्ति के द्वारा ध्वनि को अनाख्येय कहा है और वे इसके स्वरूप को अन्य काव्यो से उत्कृष्ट मानते हैं, तो वे भी ठीक हैं। ध्वनि का अनाख्येयता के सम्बन्ध म आनन्दवर्धन का कथन है कि ध्वनि का यह अनाख्येयत्व भासित होता है, परन्तु उसका लक्षण किया जा सकता है, जो कि उन्होने किया है। इस कथन को वे तृतीय उद्योत के अन्त म वृत्ति भाग म इस प्रकार स्पष्ट करते है—

अनाख्येयांशभासित्व निर्वाच्यार्थतया ध्वनेः।
न लक्षण लक्षण तु साधीयोऽस्य यथोदितम्॥

अतिशयोक्त्या—वृत्ति म कहे गये अतिशयोक्ति पद से अतिशयोक्ति अलकार का ग्रहण नही किया जाना चाहिये, अपितु यहाँ अतिशय पद का अर्थ है—जो वचनगोचर न होकर सबसे श्रेष्ठ रूप म विद्यमान है।

ध्वन्यालोक की लोचन टीका पर टीका करते हुये उत्तुङ्गोदय ने अपनी कौमुदी टीका म इसको इस प्रकार स्पष्ट किया है—

अतिशयोक्तिरलङ्कार इति न मन्तव्यमित्याह अनाख्येयतोक्त्येति। अतिशयो वचनगोचरातिवर्तिस्वरूपोऽत्र विवक्षितः। तस्योक्तिरतिशयोक्तिः।

इस प्रसङ्ग मे अतिशयोक्ति पद से अतिशयोक्ति अलङ्कार को नहीं समझना चाहिये। इसीलिये यहाँ 'अनाख्येयतोक्ति' पद को कहा गया है। यहाँ अतिशय का अर्थ—'वचनो के विषय को अतिक्रान्त करने वाला' विवक्षित है। उसका कथन अतिशयोक्ति है॥१६॥

इति डाक्टरोपाध्यलङ्कृतकृष्णकुमारकृतव्याख्यायुतस्य ध्वन्यालोकस्य प्रथम उद्योत.

द्वितीय उद्योतः

एवमविवक्षितवाच्य-विवक्षितान्यपरवाच्यत्वेन ध्वनिर्द्विप्रकार प्रकाशित । तत्राविवक्षितवाच्यस्य प्रभेदप्रतिपादनायेदमुच्यत—

अर्थान्तरे सड्क्रमितमत्यन्त वा तिरस्कृतम ।
अविवक्षितवाच्यस्य ध्वनेर्वाच्य द्विधा मतम ॥१॥

तथाविधाभ्या च ताभ्या व्यङ्ग्यस्यैव विशेष

प्रथम उद्योत मे वृत्ति मे ध्वनिकार ने ध्वनि के दो भेद बताय हैं। इस उद्यात मे ध्वनि के भेदा का वणन करने के लिये ध्वनिकार पहले अविवक्षितवाच्य ध्वनि क भेद कहते हैं—

हिन्दी अथ—इस प्रकार अविवक्षितवाच्य और विवक्षितान्यपरवाच्य के रूप में ध्वनि को दो प्रकार का प्रकाशित किया था। उनमे से अविवक्षितवाच्य ध्वनि के प्रभेदों के प्रतिपादन के लिये यह कहा जाता है—

अविवक्षितवाच्य ध्वनि का वाच्य अथ दो प्रकार का माना गया है—
अर्थान्तर मे सङ्क्रमित एव अत्यन्त तिरस्कृत ॥१॥

उस प्रकार के उन दोनों अर्थान्तरसङ्क्रमित और अत्यन्ततिरस्कृत ध्वनियों मे व्यङ्ग्य अथ का ही विशेष उत्कष सम्पादित होता है।

अविवक्षितवाच्य ध्वनि मे वाच्य अथ अविवक्षित है अर्थात् वाच्य अर्थ के बाधित होने पर लक्षणा द्वारा लक्ष्य अथ की प्रतीति होती है और तदनन्तर व्यञ्जना द्वारा व्यङ्ग्य अथ की प्रतीति होती है। 'अर्थान्तरसङ्क्रमित' पद मे णिच प्रत्यय के प्रयोग स उनका प्रयोजक कर्ता अपेक्षित है और वह लक्षणा व्यापार है। अर्थात् लक्षणा के द्वारा वाच्य अथ दूसरे अथ मे सङ्क्रमित हो जाता है। इसी प्रकार की अवस्था अत्यन्त तिरस्कृत म भी है जब कि लक्षणा द्वारा वाच्य अथ का अत्यन्त तिरस्कार अत्यधिक परित्याग होता है।

यद्यपि अविवक्षित वाच्य ध्वनि म वाच्य अथ अविवक्षित है वह अर्थान्तर मे सङ्क्रमित या अत्यन्त तिरस्कृत है और इन्ही दो प्रकारा से इस ध्वनि के दो भेद किये गये हैं तथापि इन वाच्य अर्थों से ही इन ध्वनिया म व्यङ्ग्य अथ का प्रतिपादन होता है। ध्वनि के व्यङ्ग्यात्मक होने पर भी अविवक्षितवाच्य ध्वनि के दो भेदों को वाच्य अथ के दो भेदो द्वारा करने का अभिप्राय यही है कि इनमे व्यङ्ग्य अर्थ का प्रतिपादन लक्ष्य अथ द्वारा नही अपितु वाच्य अथ द्वारा किया जाता है।

अविवक्षितवाच्य ध्वनि मे प्रयोजक सहकारी लक्षणा है, अत इस ध्वनि को लक्षणामूल ध्वनि कहा गया है। इसकी व्याख्या मम्मट ने इस प्रकार की है—

"लक्षणामूलगूढव्यङ्ग्यप्राधान्ये सत्येव अविवक्षित वाच्यम्"

यत्र स ध्वनौ इत्यनुवादाद् ध्वनिरिति ज्ञेय"।

जिस ध्वनि मे लक्षणामूल गूढ व्यङ्ग्य की प्रधानता होने पर ही वाच्य अविवक्षित वाच्य है, वह ध्वनि अविवक्षित वाच्य है। इस प्रकार इस ध्वनि की पाँच विशेषतायें होती है—

(१) वाच्य अर्थ अविवक्षित होता है।

(२) व्यङ्ग्य अर्थ लक्षणामूलक होता है।

(३) व्यङ्ग्य अर्थ गूढ होता है ।

(४) व्यङ्ग्य अर्थ की प्रधानता होती है।

(५) व्यङ्ग्य अर्थ का उत्कर्ष (प्रतिपादन) वाच्य अर्थ द्वारा होता है।

अविवक्षितवाच्य ध्वनि लक्षणामूलक है तथा लक्षणा के प्रभाव से इसमे वाच्य अर्थ अर्थान्तरसक्रमित या अत्यन्त तिरस्कृत होता है, इसलिये इस प्रसङ्ग मे लक्षणा व्यापार को सक्षेप मे समझ लेना उचित होगा ।

लक्षणा के स्वरूप का निरूपण काव्यप्रकाशकार ने इस प्रकार किया है।

मुख्यार्थबाधे तद्योगे रूढितोऽथ प्रयोजनात् ।

अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत्सा लक्षणारोपिता क्रिया ॥ (काव्यप्रकाश २ ६ ॥)

मुख्य अर्थ (वाच्य अर्थ) के बाधित होने पर रूढि या प्रयोजन के कारण मुख्य अर्थ से सम्बन्धित अन्य लक्ष्य अर्थ की प्रतीति जिस शब्द व्यापार से होती है, वह लक्षणा व्यापार है और वह आरोपित शब्द व्यापार है।

इसका अर्थ है कि लक्षणा द्वारा मुख्य अर्थ से सम्बद्ध अर्थ की ही प्रतीति हो सकती है, असम्बद्ध की नही । यह सम्बन्ध ६ प्रकार का हो सकता है—सादृश्य, सयोग, सामीप्य, समवाय, वैपरीत्य और क्रियायोग। इनमे सादृश्य सम्बन्ध होने पर गौणी लक्षणा तथा अन्य सम्बन्ध होने पर शुद्धा लक्षणा होती है।

अवान्तर भेद से लक्षणा के दो अन्य भेद आलङ्कारिको ने किये हैं—

स्वसिद्धये पराक्षेप परार्थं स्वसमर्पणम् ।

उपादान लक्षण चेत्युक्ता शुद्धैव सा द्विधा ॥ काव्यप्रकाश २ १० ॥

जहाँ मुख्य अर्थ अपनी सिद्धि के लिये दूसरे अर्थ का आक्षेप कर लेता है, इसको उपादान लक्षणा कहते हैं और जहाँ दूसरे अर्थ की सिद्धि के लिये मुख्य अर्थ अपने आपका परित्याग कर देता है, उसको लक्षण-लक्षणा कहते हैं। यह दोनो ही प्रकार की लक्षणा शुद्धा कहलाती है। उपादान लक्षणा और लक्षण-लक्षणा के उदाहरण क्रमश 'कुन्ता प्रविशन्ति' एव 'गङ्गाया घोष' है। इन दोनो उदाहरणो के द्वारा 'अर्थान्तरसक्रमित' और 'अत्यन्ततिरस्कृत' भेदो को स्पष्ट किया जा सकता है।

तत्रार्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यो यथा—

स्निग्धश्यामलकान्तिलिप्तवियतो वेल्लद्बलाकाघना
वाताः शीकरिणः पयोदसुहृदामानन्दकेकाः कलाः ।
कामं सन्तु दृढं कठोरहृदयो रामोऽस्मि सर्वं सहे
वैदेही तु कथं भविष्यति ह हा हा देवि धीरा भव ॥

इत्यत्र रामशब्द । अनेन हि व्यङ्ग्यधर्मान्तरपरिणतः संज्ञी प्रत्याय्यते, न सञ्ज्ञिमात्रम् ।

कुन्ता प्रविशन्ति—इस वाक्य मे अचेतन कुन्ता म प्रवेश क्रिया असम्भव है, अत मुख्य अर्थ 'कुन्त' बाधित होता है। इसलिये 'कुन्त' मुख्य अर्थ से सम्बद्ध लक्ष्य अर्थ 'कुन्तधारी पुरुष' लक्षित होता है। इस अर्थ का करने मे मुख्य अर्थ 'कुन्त' ने अपने सम्पूर्ण अर्थ का परित्याग नही किया, अपितु अपने से सम्बन्ध 'कुन्तधारी पुरुष' का आक्षेप कर लिया। यह उपादान लक्षणा है। इसको 'अजहत्स्वार्था' लक्षणा भी कहते है, क्योकि वाच्य अर्थ का इसमे परित्याग नही होता।

अर्थान्तरसक्रमित वाच्य ध्वनि मे भी उपादान लक्षणा होती है। इसमे वाच्य अर्थ का सम्पूर्ण परित्याग नही होता, अपितु यह अपने अर्थ से सम्बद्ध दूसरे अर्थ मे सक्रमित हो जाता है।

गङ्गायां घोष—इस वाक्य मे गङ्गा के प्रवाह मे घोष की उपस्थिति असम्भव है, अत गङ्गा पद का मुख्य अर्थ 'गगा का प्रवाह' बाधित होता है। इसलिये 'गगा का प्रवाह' इस मुख्य अर्थ द्वारा सामीप्य सम्बन्ध से सम्बन्धित 'तट' यह लक्ष्य अर्थ लक्षित किया जाता है। इस अर्थ को करने मे 'गङ्गा' पद के मुख्य अर्थ ने अपने को सम्पूर्ण रूप से परित्याग करके 'तट' अर्थ को सम्पादित किया। यह लक्षण-लक्षणा है। इसको 'जहत्स्वार्था' लक्षणा भी कहते हैं, क्योकि इसमे वाच्य अर्थ 'गगा का प्रवाह' का सम्पूर्ण रूप मे परित्याग कर दिया गया है।

अत्यन्ततिरस्कृत वाच्य ध्वनि मे भी लक्षण-लक्षणा होती है। इसमे वाच्य अर्थ का सम्पूर्ण रूप म परित्याग होता है। वाच्य अर्थ का सम्पूर्ण रूप मे परित्याग ही उसका अत्यन्त तिरस्कार है।

इस प्रकार अविवक्षित वाच्य ध्वनि के मूल मे लक्षणा वृत्ति सहकारी है तथा इसके भेदो–अर्थान्तरसक्रमित और अत्यन्त तिरस्कृत के मूल मे क्रमश उपादान लक्षणा और लक्षण लक्षणा है।

अविवक्षित वाच्य ध्वनि के दो भेदो को बताकर इनके उदाहरण कहते हैं—

हिन्दी अर्थ—इसमें से अर्थान्तर सक्रमित वाच्य का उदाहरण है, जैसे—

स्निग्ध और श्यामल कान्ति से आकाश को लिप्त कर देने वाले और बक-पंक्तियों को विहार कराने वाले मेघ छा गये हैं, शीतल जलकणों से युक्त पवन बह रहे हैं, मेघों के मित्र मयूरो की आनन्द से भरी अव्यक्त मधुर कूकें सुनाई दे रही हैं। ये सभी बातें (कामवर्धक) चाहे प्रचुर हो, मैं तो दृढ़ कठोर हृदय वाला राम हूँ। इन सबको सहन कर लूँगा। परन्तु विदेहपुत्री सीता की कैसी अवस्था होगी? हा, हा, हे देवि, तुम धैर्य धारण करो।

इस उदाहरण मे राम शब्द अर्थान्तरसक्रमित वाच्य है। इस राम शब्द से केवल राम नाम के व्यक्ति का ही बोध नहीं होता, अपि व्यङ्ग्य धर्म (दुःख को सहन करना) से विशिष्ट राम नाम के व्यक्ति का बोध होता है।

यथा च ममैव विषमबाणलीलायाम्—

ताला जाअन्ति गुणा जाला दे सहिअएहिं घेप्पन्ति ।
रइ किरणानुग्गहिआइँ होन्ति कमलाइँ कमलाइँ ॥
तदा जायन्ते गुणा यदा ते सहृदयैगृ ह्यन्ते ।
रविकिरणानुगृहीतानि भवन्ति कमलानि कमलानि ॥)

इत्यत्र द्वितीयः कमलशब्दः ।

इस उदाहरण मे 'मेघो का आकाश मे व्याप्त होना' आदि उद्दीपन विभावो द्वारा राम विप्रलम्भ द्योतित होता है तथा इससे राम के हृदय का अत्यधिक कष्ट व्यक्त है । परन्तु राम इस कष्ट को इसलिये सहन कर सकते हैं, क्योकि वे पिता के अत्यन्त वियोग राज्य त्याग, वनवास, चीवर धारण, स्त्रीहरण आदि अनेक दु खो को सहन करने से अत्यधिक कठोर हृदय वाले हो गये हैं । क्योकि राम स्वय इस पद्य का कह रहे हैं, अत 'राम' पद का वाच्य अर्थ बाधित होने से 'दु खसहिष्णुविशिष्ट राम' अर्थ का आक्षेप किया जाता है । इस प्रकार वाच्य अर्थ के अर्थान्तर मे सक्रमित होने से यहाँ अर्थान्तरसक्रमित अविवक्षितवाच्य ध्वनि है । इसमे राम का विप्रलम्भ शृङ्गार व्यङ्ग्य है, जो कि वाच्य एव लक्ष्य अर्थ अपेक्षा अधिक चमत्कारी है ।

अर्थान्तिरसक्रमित का एक उदाहरण देकर ध्वनिकार ने इसका दूसरा उदाहरण अपनी ही एक कृति 'विषमबाणलीला' से दिया है—

हिन्दी अर्थ—और जैसे कि मेरी ही कृति विषम बाणलीला मे है—

गुण तब गुण होते हैं, जब वे सहृदयों द्वारा स्वीकार किये जाते हैं । सूर्य की किरणों मे अनुगृहीत होने पर ही कमल कमल होते हैं ।

यहाँ दूसरा कमल शब्द अर्थान्तरसक्रमित है ।

इस उदाहरण मे दूसरे 'कमल' पर का वाच्य अर्थ बाधित है,

अत इससे विकासादिगुणविशिष्ट कमल' अर्थ लक्षित होता है और इसमे चारुत्व का अतिशय व्यङ्ग्य है। वाच्य अर्थ 'कमल' के अर्थान्तर मे 'विकासादिगुण-विशिष्ट कमल अर्थ से सक्रमित हो जाने के कारण यह अर्थान्तरसक्रमित अविवक्षित-वाच्य ध्वनि का उदाहरण होता है ॥१॥

दो पद्यो द्वारा अर्थान्तरसक्रमितवाच्य ध्वनि के उदाहरण दिखलाकर आनन्द-वर्धन अब दो पद्यो से अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ध्वनि के उदाहरणो को प्रदर्शित करते हैं ।

अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यो यथादिकवेर्बाल्मीकेः-

रविसङ्क्रान्तसौभाग्यस्तुषारावृतमण्डलः ।
निःश्वासान्ध इवादर्शश्चन्द्रमा न प्रकाशते ॥इति ॥

अत्रान्धशब्दः ।

गअण च मत्तमेह धारालुलिअज्जुणाइँ अ वणाइँ ।
णिरहंकारमिअंका हरन्ति नीलाओ वि णिसाओ ॥
(गगनं च मत्तमेघ धारालुलितार्जुनानि च वनानि ।
निरहङ्कारमृगाङ्का हरन्ति नीला अपि निशाः ॥)

अत्रमत्तनिरहङ्कारशब्दौ ॥१॥

हिन्दी अर्थ—अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य का उदाहरण, जैसे कि आदि कवि बाल्मीकि का है—

सूर्य मे जिसका सौभाग्य सक्रमित हो गया है ऐसा और तुषार से आवृत घेरे वाला चन्द्रमा उसी प्रकार से प्रकाशित नहीं हो रहा, जैसे कि निश्वास से मलिन दर्पण प्रकाशित नहीं होता ।

यहाँ अन्ध शब्द अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ध्वनि है ।

यह श्लोक पञ्चवटी मे हेमन्त का वर्णन करते हुये राम ने पढा है । इस पद्य मे 'अन्ध' शब्द का वाच्य अर्थ वाधित होता है । नेत्र से हीन व्यक्ति को 'अन्ध' कहा जाता है । चन्द्रमा या दर्पण मे अन्धत्व अनुपपन्न होने से मुख्य अर्थ वाधित होकर चन्द्रमा मे और दर्पण मे पदार्थों की स्फुटीकरण की असमर्थता लक्षित होती है और अप्रकाशातिशय व्यङ्ग्य है । इस उदाहरण मे 'अन्ध' के वाच्य अर्थ का सर्वथा निराकरण करने, अत्यन्ततिरस्कृत होने से अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ध्वनि है ।

अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ध्वनि का दूसरा उदाहरण—

हिन्दी अर्थ—मदमाते मेघों से भरा आकाश, धारासार वर्षा से आन्दोलित अर्जुन वृक्षों वाले वन और गर्वहीन चन्द्रमा वाली काली रातें भी मन का हरण कर लेती हैं ।

यहाँ मत्त और निरहङ्कार शब्दों मे अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ध्वनि है ।

मदिरा के पान करने से उत्पन्न क्षीवता 'मत्त' पद का मुख्य अर्थ है और सौन्दर्य आदि के कारण उत्पन्न घमण्ड 'अहङ्कार' पद का मुख्य अर्थ है। ये दोनो विशेषतायें चेतन मे हो सकती हैं। मेघो मे मत्तता तथा चन्द्रमा मे अहङ्कार की सम्भावना न होने से मुख्य अर्थ बाधित होता है । इस प्रकार यह मत्त शब्द से सादृश्य सम्बन्ध से मेघो मे असमञ्जकारित्व, दुर्निवारत्व आदि धर्म लक्षित होते हैं । निरहङ्कार पद से चन्द्रमा मे पारतन्त्र्य, विच्छायत्व, उदय होने की इच्छा का त्याग आदि धर्म लक्षित होते हैं। इसप्रकार वाच्य अर्थ का सर्वथा त्याग हो जाने के कारण यहाँ अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ध्वनि है ॥१॥

असंलक्ष्यक्रमोद्योतः क्रमेण द्योतितः परः ।
विवक्षिताभिधेयस्य ध्वनेरात्मा द्विधा मतः ॥२॥

मुख्यतया प्रकाशमानो व्यङ्ग्योऽर्थो ध्वनेरात्मा । स च वाच्यार्थापेक्षया कश्चिदलक्ष्यक्रमतया प्रकाशते कश्चित् क्रमेणेति द्विधा मत. ॥२॥

अविवक्षितवाच्य ध्वनि के भेदो को प्रदर्शित करके ध्वनिकार अब विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि के भेदो का निरूपण करते हैं—

हिन्दी अर्थ—जिस ध्वनि मे वाच्य अर्थ विवक्षित है, उस ध्वनि का आत्मा दो प्रकार का होता है—एक तो वह जिसमे वाच्य व्यङ्ग्य अर्थों का क्रम लक्षित नहीं होता, दूसरा वह जिसमे यह क्रम लक्षित हो जाता है । इसमे पहले को असलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य और दूसरे को सलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य कहते हैं ॥२॥

काव्य में जो व्यङ्ग्य अर्थ प्रधान रूप से प्रकाशित होता है, वह ही ध्वनि का आत्मा है । वह कोई तो वाच्य अर्थ की अपेक्षा से अलक्ष्यक्रमरूप होकर प्रकाशित होता है और कोई क्रम से प्रकाशित होता है, इस तरह से दो प्रकार का माना गया है ।

ध्वनि के दो भेद—अविवक्षित वाच्य तथा विवक्षितान्यपरवाच्य नाम से किये गये हैं । इनमे पहला भेद लक्षणामूल है, क्योकि इसमे लक्षणा की सहायता से वाच्य अर्थ से व्यङ्ग्य अर्थ क प्रतीति होती है । दूसरा भेद, विवक्षितान्यपरवाच्य अभिधामूल है । इसमे अभिधा द्वारा वाच्य अर्थ का बोध होता है तथा उससे व्यङ्ग्य अर्थ की प्रतीति दो प्रकार से हो सकती है—( ) दोनो अर्थों की प्रतीति के मध्य इतना कम अन्तर होता है, कि यह प्रतीत नही होता और वाच्य तथा व्यङ्ग्य अर्थ एक साथ होते प्रतीत होते है । इनको अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य कहते हैं । इनम अन्तर तो है परन्तु प्रतीत न होने से अक्रम कहा गया है जैसा कि मम्मट ने कहा है—

"अलक्ष्येति न खलु विभावानुभावव्यभिचारिण एव रस, अपितु रसस्तैरित्यस्ति क्रम, स तु लाघवान्न लक्ष्यते" । काव्यप्रकाश चतुर्थ उल्लास ॥

अलक्ष्य का यह अभिप्राय नही है कि विभाव और व्यभिचारी भाव ही रस हैं, अपितु रस उनसे निष्पन्न होता है, इस प्रकार क्रम तो है, परन्तु शीघ्रता के कारण वह लक्षित नही होता । असलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि को सामान्य रूप से रसादि ध्वनि भी कहा जाता है । इसके भेद आगे कहे जायेंगे ।

(२) वाच्य और व्यङ्ग्य अर्थों की प्रतीति मे समय का अन्तर यदि लक्षित हो जावे तो यह सलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि है । इस ध्वनि के प्रधान रूप से दो भेद है—वस्तु ध्वनि और अलङ्कार ध्वनि । इनके भेद अगले प्रकरणो मे समुचित स्थान पर कहे जायेंगे ॥२॥

॥३॥

वेनावभासमानो

...र आचार्य अव

...आदि भेद से अनेक

...ाव (प्रधान रूप) से

...आ प्रतीत होता है।

...है।

...व' पाठ है, जिसका

...ादि की प्रतीति वाच्य

...गुप्त की लोचन टीका

'सह+इव' सन्धिच्छेद

...पि क्रमस्य व्याख्याता।

प्रतीति में क्रम तो है,

ध्वनिकार ने प्रतिपादित ... पर प्रतीत नहीं होता, इसलिये इसको असंलक्ष्यक्रम ध्वनि कहते हैं। जिस प्रकार कमल के १०० पत्तों को एक बार सुई से छेदने पर उनके पृथक् पृथक् छेदन का क्रम लक्षित नहीं होता (उत्पलशतपत्रव्यतिभेदवत् लाघवात् न संलक्ष्यते), उसी प्रकार वाच्य अर्थ एवं रस की प्रतीति का क्रम लक्षित नहीं होता।

ध्वनिकार ने रस आदि को प्रधान होने पर ही इनको रसादिध्वनि कहा है। जब रस आदि प्रधान रूप से न हों, तब वहाँ रसवद् आदि अलङ्कार होते हैं। इस तथ्य को अगली कारिकाओं (४ और ५) में अधिक स्पष्ट किया गया है। रसवद् आदि अलङ्कारों का स्पष्टीकरण अगली कारिकाओं की व्याख्या में किया गया है। इस प्रसङ्ग में रसों का तथा उनकी निष्पत्ति का विवेचन करना उपयुक्त होगा।

(१) रस-प्रक्रिया—

रस शब्द की व्युत्पत्ति है—रस्यते आस्वाद्यते इति रसः। जिसका आस्वादन किया जाता है, वह रस है। यह रस की अनुभूति अखण्ड आनन्द रूप होती है। 'साहित्यदर्पण' में इस अनुभूति का वर्णन इस प्रकार है—

सत्त्वोद्रेकादखण्डस्वप्रकाशानन्दचिन्मयः।
वेद्यान्तरस्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वादसहोदरः॥
लोकोत्तरचमत्कारप्राणः कैश्चित् प्रमातृभिः।
स्वाकारवदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रसः॥ सा० ॥

असंलक्ष्यक्रमोद्योतः क्रमेण द्योतितः परः ।
विवक्षिताभिधेयस्य ध्वनेरात्मा द्विधा मतः ॥२॥

मुख्यतया प्रकाशमानो व्यङ्ग्योऽर्थो ध्वनेरात्मा । स च वाच्यार्थापेक्षया कश्चिदलक्ष्यक्रमतया प्रकाशते कश्चित् क्रमेणेति द्विधा मत ॥२॥

अविवक्षितवाच्य ध्वनि के भेदो को प्रदर्शित करके ध्वनिकार अब विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि के भेदो का निरूपण करते हैं—

हिन्दी अर्थ —जिस ध्वनि मे वाच्य अर्थ विवक्षित है, उस ध्वनि का आत्मा दो प्रकार का होता है—एक तो वह जिसमे वाच्य व्यङ्ग्य अर्थों का क्रम लक्षित नहीं होता, दूसरा वह जिसमे यह क्रम लक्षित हो जाता है । इसमें पहले को असलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य और दूसरे को सलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य कहते हैं ॥२॥

वाच्य में जो व्यङ्ग्य अर्थ प्रधान रूप से प्रकाशित होता है, वह ही ध्वनि का आत्मा है । वह कोई तो वाच्य अर्थ की अपेक्षा से अलक्ष्यक्रमरूप होकर प्रकाशित होता है और कोई क्रम से प्रकाशित होता है, इस तरह से दो प्रकार का माना गया है ।

ध्वनि के दो भेद—अविवक्षित वाच्य तथा विवक्षितान्यपरवाच्य नाम से किये गये हैं । इनम पहला भेद लक्षणामूल है, क्याकि इसमे लक्षणा की सहायता से वाच्य अर्थ से व्यङ्ग्य अर्थ क प्रतीति होती है । दूसरा भेद, विवक्षितान्यपरवाच्य अभिधामूल है । इसमे अभिधा द्वारा वाच्य अर्थ का बोध होता है तथा उससे व्यङ्ग्य अर्थ की प्रतीति दो प्रकार से हो सकती है—( ) दोनो अर्थों की प्रतीति के मध्य इतना कम अन्तर होता है, कि यह प्रतीत नही होता और वाच्य तथा व्यङ्ग्य अर्थ एक साथ होते प्रतीत होते है । इनको अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य कहते हैं । इनम अन्तर तो है परन्तु प्रतीत न होने से अक्रम कहा गया है जैसा कि मम्मट ने कहा है—

'अलक्ष्येति न खलु विभावानुभावव्यभिचारिण एव रस, अपितु रसस्तैरित्यस्ति क्रम, स तु लाघवान्न लक्ष्यते'। *काव्यप्रकाश चतुर्थ उल्लास ॥*

अलक्ष्य का यह अभिप्राय नही है कि विभाव और व्यभिचारी भाव ही रस हैं, अपितु रस उनसे निष्पन्न होता है, इस प्रकार क्रम तो है, परन्तु शीघ्रता के कारण वह लक्षित नही होता । असलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि को सामान्य रूप से रसादि ध्वनि भी कहा जाता है । इसके भेद आगे कहे जायेंगे ।

(२) वाच्य और व्यङ्ग्य अर्थों की प्रतीति मे समय का अन्तर यदि लक्षित हो जावे तो यह सलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि है । इस ध्वनि के प्रधान रूप से दो भेद हैं—वस्तु ध्वनि और अलङ्कार ध्वनि । इनके भेद अगले प्रकरणो में समुचित स्थान पर कहे जायेंगे ॥२॥

तत्र—

रसभावतदाभासतत्प्रशान्त्यादिरक्रमः ।
ध्वनेरात्माङ्गिभावेन भासमानो व्यवस्थितः ॥३॥

रसादिरर्थो हि सहेव वाच्येनावभासते । स चाङ्गीत्वेनावभासमानो ध्वनेरात्मा ॥३॥

विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि के दो मुख्य भेदो को कहकर आचार्य अब असलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि (अक्रम) ध्वनि का निरूपण करते है।

हिन्दी अर्थ—उन दोनों मे से—

अक्रम ध्वनि रस, भाव, रसाभास, भावाभास भावशान्ति आदि भेद से अनेक प्रकार का होता है। इसमे ध्वनि के आत्मारूप रस आदि अङ्गीभाव (प्रधान रूप) से प्रतीत होते हुये स्थित होते हैं ॥३॥

रस आदि रूप अर्थ वाच्य अर्थ के साथ ही निष्पन्न होता हुआ प्रतीत होता है। और अङ्गी रूप से भासमान होता हुआ वह ही ध्वनि का आत्मा है।

सहेव—'ध्वन्यालोक' के निर्णयसागरीय सस्करण मे 'सहैव' पाठ है, जिसका सन्धि विच्छेद 'सह+एव' होता है। इसका अर्थ है कि रस आदि की प्रतीति वाच्य अर्थ के साथ ही होती है। किन्तु यह पाठ भ्रमपूर्ण है। अभिनवगुप्त की लोचन टीका से 'सहेव' पाठ ही अधिक सगत प्रतीत होता है, क्योकि उन्होने 'सह+इव' सन्धिच्छेद करके इसकी व्याख्या की है—इव शब्देनासलक्ष्यताविद्यमानत्वेऽपि क्रमस्य व्याख्याता। ध्वनिकार ने प्रतिपादित किया है कि वाच्य और रस आदि की प्रतीति मे क्रम तो है, पर प्रतीत नही होता, इसलिये इसको असलक्ष्यक्रम ध्वनि कहते हैं। जिस प्रकार कमल के १०० पत्तो को एक बार सुई से छेदने पर उनके पृथक् पृथक छेदन का क्रम लक्षित नही होता (उत्पलशतपत्रव्यतिभेदवत् लाघवात् न सलक्ष्यते), उसी प्रकार वाच्य अर्थ एव रस की प्रतीति का क्रम लक्षित नहीं होता।

ध्वनिकार ने रस आदि को प्रधान होने पर ही इनको रसादिध्वनि कहा है। जब रस आदि प्रधान रूप से न हों, तब वहाँ रसवद् आदि अलङ्कार होते है। इस तथ्य को अगली कारिकाओ (४ और ५) मे अधिक स्पष्ट किया गया है। रसवद् आदि अलङ्कारो का स्पष्टीकरण अगली कारिकाओ की व्याख्या म किया गया है। इस प्रसङ्ग मे रसा का तथा उनकी निष्पत्ति का विवेचन करना उपयुक्त होगा।

(१) रस प्रक्रिया—

रस शब्द की व्युत्पत्ति है—रस्यते आस्वाद्यते इति रस। जिसका आस्वादन किया जाता है, वह रस है। यह रस की अनुभूति अखण्ड आनन्द रूप होती है। 'साहित्यदर्पण' मे इस अनुभूति का वर्णन इस प्रकार है—

सत्वोद्रेकादखण्डस्वप्रकाशानन्दचिन्मय ।
वेद्यान्तरस्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वादसहोदर ॥
लोकोत्तरचमत्कारप्राण कैश्चित् प्रमातृभि ।
स्वाकारवदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रस ॥ सा० द० ३ २-३ ॥

ही सबसे अधिक युक्ति सगत है। रस प्रक्रिया को समझने के लिये इन मतो की समीक्षा सक्षेप से प्रस्तुत करना यहाँ उपयोगी होगा।

(क) भट्टलोल्लट—भट्टलोल्लट के मत को 'उत्पत्तिवाद' कहा जाता है। उन्होंने 'सयोगात्' का अर्थ 'उत्पाद्य-उत्पादक भावात्' और 'निष्पत्ति' का अर्थ उत्पत्ति किया है। उनकी व्याख्या का साराश इस प्रकार है—

ललना, उद्यान आदि आलम्बन और उद्दीपन विभाव हैं। इनसे राम आदि मे रति आदि भावो की उत्पत्ति अर्थात् उद्बोधन होता है। तदनन्तर कटाक्ष, भुजक्षेप आदि कार्यरूप अनुभावो से रामगत रति आदि प्रतीति के योग्य हो जाते हैं और निर्वेद आदि सहकारी भावो से ये रति आदि भाव पुष्ट होते हैं। ये रति आदि भाव राम आदि पात्रो के हृदय मे रहते हैं। जब कोई अभिनेता राम आदि पात्रो का रूप रखकर राम का अभिनय करता है, तो सामाजिक उसमे रामत्व का आरोप कर लेते हैं, अर्थात् उसी को राम समझते हैं। इस प्रकार यह राम आदि गत रति सामाजिको को नट मे प्रतीत होती हुई उनके हृदयो मे विशेष प्रकार के चमत्कार का आधान करती है और रस की पदवी को धारण करती है।

भट्टलोल्लट के इस उत्पत्तिवाद मे दोष यह है कि रस की निष्पत्ति राम आदि अनुकार्यों मे है एव राम आदि पात्रो का अभिनय करने वाले अभिनेताओ मे भी गौण रूप से निहित है। इस अवस्था मे रस की निष्पत्ति सामाजिको के हृदय मे नही हो सकेगी और वे रस का आस्वादन नही कर सकेंगे। यदि उनमे रस की स्थिति मानी भी जावे, तो यह भ्रान्तिमात्र होगी तथा काव्य आदि भ्रमोत्पादक होने से उपादेय न हो सकेंगे। परन्तु काव्य आदि से रसानुभूति होती है, यह सामाजिको के हृदयो के अनुभव से प्रत्यक्ष सिद्ध है।

(ख) श्रीशङ्कुक—भट्टलोल्लट की विवेचना मे उपर्युक्त दोष का अनुभव करके श्रीशङ्कुक ने रस को अनुमान का विषय सिद्ध करने का प्रयत्न किया। उनका मत 'अनुमितिवाद' कहलाता है। उन्होंने 'सयोगात्' का अर्थ 'अनुमाप्य-अनुमापक सम्बन्धात्' तथा 'निष्पत्ति' का अर्थ 'अनुमिति' किया। इस मत की व्याख्या निम्न प्रकार से हो सकती है—

सामाजिक किसी अभिनेता को राम का अभिनय करते देखता है। तब वह उस नट को ही राम समझ लेता है। परन्तु इस अवस्था मे नट मे जो राम की प्रतीति है, यह ज्ञान विलक्षण है। यह ज्ञान न तो सम्यक् ज्ञान है, न सशय ज्ञान है, न मिथ्या-ज्ञान है और सादृश्यमात्र की प्रतीति है। परन्तु यह प्रतीति 'चित्रतुरगन्याय' की प्रतीति है। जिस प्रकार चित्र मे घोडे को देखकर उस चित्र के वस्तुत घोडा न होते हुये भी यह घोडा है, इस प्रकार की प्रतीति होती है, उसी प्रकार अभिनय में राम के उपस्थित न होते हुये भी राम का अभिनय करने वाले अभिनेता मे सामाजिक को राम की प्रतीति होती है। जब सामाजिक उस अभिनेता को ही राम समझ लेता है तो शिक्षा और अभ्यास करने की कुशलता के कारण उसके कृत्रिम विभाव, अनुभाव

और व्यभिचारी भावो को भी वह कृत्रिम नही समझता और उनके द्वारा वह अभिनेता मे रति आदि स्थायी भावो का अनुमान करता है। रति आदि भावो का यह अनुमान अन्य शास्त्रोक्त अनुमानो से विलक्षण होता है, क्योकि सामान्य अनुमिति परोक्ष ज्ञान पर आश्रित है, जबकि यह अनुमिति प्रत्यक्षात्मक है। इस प्रकार रति आदि स्थायी भावो के अभिनेताओ मे न होने पर भी सामाजिक अपने हृदय मे निहित वासना के द्वारा उन भावो का अभिनेताओं मे अनुमान करते हुये रस का आस्वादन करते हैं।

शङ्कुक के इस अनुमितिवाद मे कुछ दोष हैं—(१) शङ्कुक ने जिन विभाव आदियो को अनुमिति का हेतु बनाया है, वे कल्पित, कृत्रिम हैं। इस कारण अभिनेताओं मे रस का अनुमान भी कर लिया जावे तो यह चमत्कारजनक नही होगा। (२) सहृदय जनो मे रस का प्रत्यक्ष अनुभव ही सिद्ध होता हैं, अनुमान नही। (३) यदि सामाजिक को यह निश्चय हो जाये कि ये सीता आदि विभाव कृत्रिम हैं तो उसको रति आदि भावो की अनुमिति न हो सकने से रसानुभूति भी नही होगी।

(ग) भट्टनायक—रस की निष्पत्ति के सम्बन्ध मे भट्टनायक ने अन्य आचार्यों के मतो का खण्डन करके अपने पक्ष की स्थापना की। इनका मत 'भुक्तिवाद' कहलाता है। आचार्य मम्मट के शब्दो मे भट्टनायक ने अन्य आचार्यों का खण्डन इस प्रकार किया है—

"न ताटस्थ्येन नात्मगतत्वेन रस प्रतीयते नोत्पद्यते नाभिव्यज्यते।"

भट्टनायक के अनुसार रस की स्थिति न तो तटस्थ (पात्र या अभिनेता) मे होती है और न आत्मगत (सामाजिकगत) होती है। यदि रस को राम आदि पात्रगत या अभिनेतागत मान ले तो उसका सामाजिक के हृदय के साथ सम्बन्ध नही बन सकेगा, क्योकि वे सामाजिक के लिये तटस्थ होने से निष्प्रयोजन है। यदि रस को आत्मगत (सामाजिकगत) मान लें तो यह भी सङ्गत नही होगा, क्योकि रस की निष्पत्ति सीता आदि विभावो के द्वारा होती है। ये सीता आदि राम के प्रति तो विभाव हो सकते हैं, परन्तु सामाजिको के प्रति नही। इसके साथ ही सीता आदि के प्रति पूज्य बुद्धि होने से उनको सामाजिक किसी भी अवस्था मे विभाव आदि के रूप मे स्वीकार नही कर सकेगा। इस प्रकार रस की स्थिति न तो तटस्थगत (राम आदि पात्रगत या अभिनेतागत) है और न आत्मगत (सामाजिकगत) है। इसके अतिरिक्त रस की न तो इनमे प्रतीति (अनुमिति) होती है, न उत्पत्ति होती है और न अभिव्यक्ति होती है। इन तीन पदो द्वारा भट्टनायक ने श्रीशङ्कुक के अनुमितिवाद, भट्टलोल्लट के उत्पत्तिवाद और अभिनवगुप्त के अभिव्यक्तिवाद का खण्डन किया है। अनुमिति उस वस्तु की होती है, जो कि प्रत्यक्ष आदि द्वारा पूर्व अनुभूत हो। काव्य या नाटक मे पूर्व अनुभव की स्थिति न होने से रस की अनुमिति नही हो सकती। यदि रस के उत्पत्तिवाद को मान लिया जावे तो करुण आदि रसो के दुःखोत्पादक होने से उनके प्रति प्रवृत्ति नही होगी। रस की अभिव्यक्ति भी नही हो सकती। अभिव्यक्ति उस वस्तु की होती है, जो पूर्वसिद्ध हो। रस तो एक प्रकार की अनुभूति

है, जो अनुभव के समय वे पहले या बाद म अस्तित्व म नही रहती। सहृदयो के हृदयो म रस के वासनारूप मे रहने के सिद्धान्त को भी स्वीकार नही किया जा सकता, क्याकि इससे रससामग्री की उत्कृष्टता निकृष्टता का भी बोध होगा। अत रस को अनुमिति, उत्पत्ति एव अभिव्यक्ति का विषय भी नही माना जा सकता।

रस की निष्पत्ति के लिये भट्टनायक ने रससूत्र के 'सयोगात्' पद का अर्थ भोज्य-भोजकसम्बन्धात्' और निष्पत्ति का अर्थ 'भुक्ति' किया। उन्होंने कहा कि काव्यात्मक शब्दो म एक तो अभिधा व्यापार होता है, तथा उससे भिन्न दो अन्य व्यापार भावकत्व और भोजकत्व होते हैं। इनम अभिधा व्यापार वाच्यार्थविषयक, भावकत्व व्यापार रसादिविषयक और भोजकत्व व्यापार सहृदयविषयक होता है। केवल अभिधा व्यापार को मानने पर रसनिष्ठ काव्य का तन्त्र आदि शास्त्रो से तथा श्लेष आदि अलङ्कारो से कोई भेद नही रहेगा। अत अभिधा से अतिरिक्त भावकत्व और भोजकत्व व्यापार मानने होंगे।

भट्टनायक ने यह प्रतिपादित किया कि अभिधा द्वारा काव्य के अर्थ को जानने के अनन्तर उससे विलक्षण भावभाव व्यापार के द्वारा विभाव आदि का साधारणीकरण होता है। साधारणीकरण का अभिप्राय यह है कि राम, सीता आदि पात्र अपने विशिष्ट अश का परित्याग करके साधारण नायक नायिका आदि रूप म रह जाते हैं। राम और सीता म दो दो अश हैं, विशिष्ट अश रामत्व और सीतात्व, साधारण अश-नायकत्व और नायिकात्व। भावकत्व व्यापार के द्वारा साधारणीकरण होने से राम और सीता का रामत्व एव सीतात्वविशिष्ट अश परित्यक्त होकर वे केवल साधारण नायक-नायिकामात्र रह जाते हैं। इस प्रकार साधारणीकरण द्वारा रस आदि के भावित हो जाने पर तीसरे भोजकत्व व्यापार से स्थायी भाव का भोग निष्पन्न होता है। यह भोग चित्त के द्रुति विस्तर एव विकास रूप है, रजस् और तमस् के वैचित्र्य से अनुविद्ध सत्त्वमय है, निज चेतनस्वरूप है, परम आनन्दरूप है और परब्रह्मास्वाद के सदृश है। वही प्रधान अश सिद्धरूप है। भटटनायक की रसानुभूति (भोग) के स्वरूप का उल्लेख अभिनवगुप्त ने निम्न शब्दो म किया है—

भाविते च रसे तस्य भोग योऽनुभवस्मरणप्रतिपत्तिभ्यो विलक्षण एव द्रुति-विस्तरविकासात्मा रजस्तमोवैचित्र्यानुविद्धसत्त्वमयनिजचित्स्वभावनिवृ तिविश्रान्तिलक्षण परब्रह्मास्वादसविध । स एव च प्रधानभूताऽश सिद्धरूप इति।'

(घ) अभिनवगुप्त—भट्टनायक ने रस की निष्पत्ति के लिये 'भुक्तिवाद' के रूप मे जो विवेचना प्रस्तुत की थी, वह भी सब आचार्यों को स्वीकृत नही हुई। भट्टनायक के साधारणीकरण व्यापार को स्वीकार करके भी अन्य आचार्यों न भावकत्व और भोजकत्व व्यापार को अनावश्यक माना। अभिनवगुप्त का कहना है कि भाव-कत्व और भोजकत्व व्यापार न तो आवश्यक ही हैं और न प्रामाणिक ही हैं। व्यञ्जना व्यापार से ही रस की निष्पत्ति हो जाती है। अभिनवगुप्त ने 'सयोगात् का अर्थ

अभिव्यङ्ग्यमभिव्यञ्जकभावात्' तथा 'निष्पत्ति' का अर्थ 'अभिव्यक्ति' किया है। अभिनवगुप्त के प्रतिपादन की कुछ मुख्य विशेषतायें इस प्रकार हैं—

(i) सामाजिकों के हृदय में स्थायी भाव वासनारूप से सूक्ष्म रूप मे विद्यमान रहता है। लौकिक जीवन मे ललना, उद्यान, कटाक्ष आदि द्वारा जिन्होंने रति आदि स्थायी भावो के अनुमान करने मे जितनी अधिक कुशलता प्राप्त करली हैं, उनमे यह वासना उतनी ही अधिक विकसित रूप मे रहती है।

(ii) लोक मे रति आदि भावो के जो कारण, कार्य और सहकारी हैं, वे ही काव्य मे अलौकिक विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव कहलाते हैं।

(iii) काव्य की अलौकिक अभिव्यञ्जना शक्ति के कारण विभाव आदि का साधारणीकरण हो जाता है। उनमे स्वकीयत्व, परकीयत्व एव उपेक्षणीयत्व का भाव नष्ट हो जाता है। इस प्रकार राम एव सीता मे रामत्व एव सीतात्व का भाव नष्ट होकर युवकत्व एव युवतीत्व का भाव अवशिष्ट रह जाता है।

(iv) साधारणीकरण हो जाने के कारण प्रमाता (सामाजिक) के चित्त की सीमाओ के बन्धन नही रहते तथा उसकी चित्तवृत्ति अपरिमित हो जाती है। इससे रति आदि भावो का भी साधारणीकरण हो जाता है तथा इस साधारणीकरण को सभी सहृदय अनुभव करते हैं।

(v) सामाजिक को यह रसानुभूति अपने से अभिन्न अनुभूत होती है, तब भी वह अपने अन्दर रस की चर्वणा करता हुआ अनुभव करता है। इस प्रकार यह अभिव्यक्त स्थायीभाव ही रस है।

(vi) रस का रूप केवल आस्वाद्यमान है। जब तक विभाव आदि रहते हैं, तभी तक इसकी अनुभूति होती है। विभावादि की यह प्रतीति अलग-अलग रूप से नही होती, अपितु अखण्डात्मक रूप से होती है। जिसप्रकार इलायची, काली मिर्च, मिश्री, केसर आदि पदार्थों से निर्मित पानक मे उन समस्त वस्तुओ से विलक्षण एक स्वाद होता है, उसी प्रकार विभावादि से पृथक् रूप अलौकिक रस का आस्वादन होता है।

(v) रस का आस्वादन अलौकिक है। यह हृदय मे प्रविष्ट होता सा प्रतीत होता है, अपने अतिरिक्त अन्य सभी ज्ञानो को यह तिरोहित कर देता है और ब्रह्मज्ञान से आनन्द का अनुभव कराता है।

(vi) रस न तो कार्य है, न कारण है। यह कार्य भी है, कारण भी है। यह न तो ज्ञान है, न ज्ञेय है। यह ज्ञान भी है, और ज्ञेय भी है। इसकी अनुभूति सविकल्पक भी नहीं है, निर्विकल्पक भी नहीं हैं। यह सविकल्पक भी है, निर्विकल्पक भी है। इसप्रकार यह अलौकिक ही है।

(२) विभाव, अनुभाव एव व्यभिचारी भाव—

भरतमुनि ने कहा है—

'*विभावानुभावव्यभिचारीसयोगाद् रसनिष्पत्ति* ।"

विभाव, अनुभाव एव व्यभिचारी भावो के सयोग से रस की निष्पत्ति होती है। ये विभाव, अनुभाव एव व्यभिचारी भाव क्या हैं, इसका सक्षिप्त निरूपण करना यहाँ उपयोगी होगा।

(क) विभाव—

'साहित्यदर्पण' मे विभाव का निम्न लक्षण दिया गया है—

रत्याद्युद्बोधका लोके विभावा काव्यनाट्ययो ।
आलम्बनोद्दीपनाख्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ ॥३ २९॥

लोक मे जो पदार्थ रति आदि को उद्बोधित करते हैं, उनको काव्य और नाटक मे विभाव कहा जाता है। ये दो प्रकार के होते हैं—आलम्बन विभाव और उद्दीपन विभाव।

आलम्बन विभाव—

आलम्बनो नायकादिस्तमालम्ब्य रसोद्गमात् ॥ सा० द० ३ २९॥

नायक, नायिका आदि पात्र आलम्बन विभाव कहलाते हैं, क्योकि उनके आलम्बन से ही रस का उद्गम होता है।

उद्दीपन विभाव—

उद्दीपनविभावास्ते रसमुद्दीपयन्ति ये ।
आलम्बनस्य चेष्टाद्या देशकालादयस्तथा ॥ सा० द० ३ १३१ ॥

जो विभाव रस को उद्दीप्त करते हैं, वे उद्दीपन विभाव कहलाते है। ये उद्दीपन विभाव भी दो प्रकार के होते हैं—एक वे जिनका सम्बन्ध नायक, नायिका आदि पात्रो की चेष्टाओ, रूप, बोली, पहनावा आदि से होता है। दूसरे वे हैं, जिनका सम्बन्ध देश काल आदि, उद्यान, चन्द्रोदय, पर्वत, नदी, वन, वसन्त ऋतु आदि से होता है।

आलम्बन विभावो से स्थायी भाव उद्बुद्ध होकर पुन यह उद्दीपन विभावो से उद्दीप्त होता है।

(ख) अनुभाव—

उद्बुद्धं कारणै स्वै स्वैर्बहिर्भाव प्रकाशयन् ।
लोके य कार्यरूप सोऽनुभाव काव्यनाट्ययो ॥ सा० द० ३ १३२ ॥

उन विभाव आदि कारणो से उद्बुद्ध हुये अपने रति आदि भावो को प्रकाशित करने वाला लोक म जो कार्य है, वह काव्य और नाटक म अनुभाव कहलाता है। विभावो द्वारा रति आदि स्थायी भावो के उद्बुद्ध होने पर चेष्टायें अनुभाव कहलाती है। क्योकि स्थायी भाव के उद्बुद्ध होने के अनन्तर ये प्रकट होते हैं तथा रति आदि भावो को व्यक्त करते हैं, अत इनको अनुभाव कहते हैं (अनु पश्चात् भवन्ति भावयन्ति वा इति अनुभावा)।

ये अनुभाव दो प्रकार के होते हैं—(१) जो कि नायक, नायिका आदि की शरीर की चेष्टाओ के रूप में होते हैं, यथा—कटाक्ष, भुजक्षेप, स्मित आदि। (२) जो

नायक, आदि के मन के विकारो के कारण उत्पन्न होते है। इनको सात्विक अनुभाव कहते है। सात्विक अनुभावो की सख्या ७ कही गई है—

स्तम्भ स्वेदोऽथ रोमाञ्च स्वरभङ्गोऽथवेपथु ।
वैवर्ण्यमश्रु प्रलय इत्यष्टौ सात्विका स्मृता ॥ सा० द० ३ १३५ ॥

स्तम्भ, स्वेद, रोमान्च, स्वर का टूटना, कम्पन, विवर्णता, अश्रु और मूर्छा ये आठ सात्विक अनुभाव है।

व्यभिचारी भाव—

व्यभिचारी भाव स्थिर न रहने वाली चित्तवृत्तियां हैं, जो कि विभाव और अनुभाव की अपेक्षा से विभिन्न रसो मे अनुकूल होकर विचरण करते है। एक रस मे अनेक व्यभिचारी भावा की और एक व्यभिचारी भाव की अनेक रसो मे उपस्थिति होती है। इसका लक्षण भरत ने इस प्रकार दिया है—

"विविधमाभिमुख्येन रसेपु चरन्तीति व्यभिचारिण ।"

नाटयशास्त्र सप्तम अध्याय ॥

'दशरूपक' मे व्यभिचारी भावो की परिभाषा इस प्रकार है—

विशेपादाभिमुख्येन चरन्तो व्यभिचारिण ।

(ग) भावसन्धि—

स्थायिन्युन्मग्ननिर्मग्ना कल्लोला इव वारिधौ ॥ ४८ ॥

जो रस के प्रति उन्मुख होकर विशेष रूप से विचरण करते हैं और स्थायीभाव मे इसप्रकार डूबते उतराते हैं, जिस प्रकार समुद्र मे लहरें, वे व्यभिचारी भाव कहलाते हैं।

व्यभिचारी भावो की सख्या ३३ गिनी गई है—

निर्वेदग्लानिशङ्काख्यास्तथाऽसूया मदश्रमा ।
आलस्य चैव दैन्य च चिन्ता मोह स्मृतिर्धृ ति ॥
व्रीडा चपलता हर्ष आवेगो जडता तथा ।
गर्वोविपाद औत्सुक्य निद्राऽपस्मार एव च ॥
सुप्त प्रवोधोऽमर्षश्चाप्यवहित्थमथोग्रता ।
मतिर्व्याधिस्तथोन्मादस्तथा मरणमेव च ॥
त्रासश्चैव वितर्कश्च विज्ञेया व्यभिचारिण ।
त्रयस्त्रिशदमी भावा समाख्यातास्तु नामत ॥

काव्यप्रकाश ३ ३१-३४ ॥

कौन से व्यभिचारी भाव किस रस के साथ सम्बन्धित रहते हैं, इसकी गणना आचार्यों ने की है। विस्तार के भय से उसको यहां नही दिया जा रहा। इन ३३ के अतिरिक्त, स्थायी भाव भी कभी कभी व्यभिचारी भाव हो जाते हैं। जैसे शृ गार

और वीर मे हास, हास्य, करण और शान्त म वीर आदि। 'ध्वन्यालोक' मे अगले प्रकरणो मे इसका विस्तृत वर्णन है।

(४) स्थायी भाव—

व्यभिचारी भावो से विपरीत स्थायीभाव हैं। ये वासना के रूप म दीर्घकाल तक मनुष्या के हृदय म चित्तवृत्तिया के रूप म स्थिर रहते हैं। स्थायीभाव का लक्षण इस प्रकार किया गया है—

विरुद्धा अविरुद्धा वा य तिरोधातुमक्षया।
आस्वादाङ्कुरकन्दोऽसौ भाव स्थायीति सम्मत ॥ सा० द० ३ १७४ ॥

जिस भाव का न तो कोई प्रतिकूल भाव और ना ही कोई अनुकूल भाव तिराहित कर सकता है उसको स्थायी भाव कहते हैं। यह रस के आस्वादन के अकुरण का कद है।

मनुष्य जो कुछ देखता, सुनता या अनुभव करता है उसका सस्कार मन पर स्थिर हो जाता है। इस सस्कार को वासना भी कहते हैं। साहित्यशास्त्र म स्थायी भावो का निरूपण मनोवैज्ञानिक आधार पर किया गया है। ये मनोविज्ञान मे वर्णित मनोवेगो के समान हैं। सभी प्राणियो म प्रेम आदि की प्रवृत्तियाँ रहती हैं। किसी मे कोई प्रवृत्ति उत्कट होती है एव किसी म कोई। प्राचीन आचार्यों ने इन प्रवृत्तियो का वर्गीकरण करने का प्रयत्न किया। रस प्रक्रिया म इन स्थायी भावा की सख्या कही चार, कही आठ, कहीं नौ और कही दस है। सामान्यत, ८ स्थायी भाव गिनाये गये हैं—

रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौ भय त था।
जुगुप्सा विस्मयश्चेति स्थायिभावा प्रकीर्तिता ॥
काव्यप्रकाश ४ ३० ॥

'काव्यप्रकाश' म निर्वेद को भी स्थायी भावा म परिगणित करके शान्त को नवम रस माना गया है—

निर्वेदस्थायिभावोऽस्ति शान्तोऽपि नवमो रस ॥
काव्यप्रकाश ४ ३५॥

परन्तु विश्वनाथ ने शान्तरस का स्थायी भाव 'शम' माना है। उसन वत्सल को स्थायीभाव मानकर वत्सल को दशम रस कहा है—

स्फुट चमत्कारितया वत्सल च रस विदु।
स्थायी वत्सलतास्नेह पुत्राद्यालम्बनं मतम् ॥ सा० द० ३ २८१ ॥

परन्तु मम्मट ने पुत्र विषयक प्रेम को भाव माना है, रस नहीं।

(५) रसों की सख्या—

इन विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावा के सयोग से अभिव्यक्त स्थायीभाव ही रस है। अत जितने स्थायीभाव होंगे, रसा की सख्या भी उतनी ही होगी। भरतमुनि ने रसा की सख्या ८ गिनाई है—

शृङ्गारहास्यकरुणरौद्रवीरभयानकाः ।
बीभत्साद्भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः ॥

शृङ्गार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स और अद्भुत ये ८ रस नाट्य में होते हैं।

आचार्य मम्मट ने निर्वेद को स्थायीभाव मानकर शान्त को नवम रस कहा है। परन्तु कुछ आचार्यों ने शान्त रस का स्थायीभाव शम कहा है। अनेक आचार्य भक्ति और वत्सल को भी रस मानते हैं। रूपगोस्वामी ने 'भक्तिरसामृतसिन्धु' और 'उज्ज्वलनीलमणि' में भक्ति रस का विस्तार से वर्णन किया है। परन्तु आचार्य मम्मट तथा अन्य विद्वान् भक्ति और वत्सल को भाव में परिगणित करते हैं। आचार्य हेमचन्द्र ने 'काव्यानुशासन' में लिखा है—

"स्नेहो भक्तिर्वात्सल्यमिति हि रतेरेव विशेषाः ।"

शान्त रस के सम्बन्ध में भी कुछ विवाद है। कुछ आचार्यों का कथन है कि शान्त रस हो सकता है, परन्तु यह नाट्य में नहीं होना चाहिये। 'दशरूपक' में लिखा है—

शममपि केचित प्राहुः पुष्टिर्नाट्येषु नैतस्य ।
निर्वेदादिरताद्रूप्यादस्थायी स्वदते कथम ॥
वैरस्यायैव तत्पोषस्तेनाष्टौ स्थायिनो मताः ॥४ ३५-३६॥

इस पर धनिक ने निम्न टीका लिखी है—

"इह शान्तरस प्रतिवादिनामनेकधा विप्रतिपत्तयः । केचिदाहुः नास्त्येव शान्तो रस, तस्याचार्येण विभावाद्यप्रतिपादनाल्लक्षणाकरणात् । अन्ये तु वस्तुतस्तस्याभावं वर्णयन्ति । अनादिकालप्रवाहायातरागद्वेषयोरुच्छेत्तुमशक्यत्वात् । अन्ये तु वीरबीभत्सादावन्तर्भावं वर्णयन्ति । यथा तथा अस्तु । सर्वथा नाटकादावभिनयात्मनि स्थायित्वमस्माभिः शमस्य निषिध्यते । तस्य समस्तव्यापारप्रविलयरूपस्याभिनयायोगात् । यत्तु कैश्चिन्नागानन्दादौ शमस्य स्थायित्वमुपवर्णितं तत्तु मलयवत्यनुरागेण आप्रबन्धवृत्तेन, विद्याधरचक्रवर्तित्वप्राप्त्या विरुद्धम् । न ह्येकानुकार्यविभावालम्बनौ विषयानुरागापलब्धौ । अतो दयावीरोत्साहस्यैव तत्र स्थायित्वम् ।

विरुद्धाविरुद्धाविच्छेदित्वस्य निर्वेदादीनामभावादस्थायित्वम् । अत एव ते चिन्तादिस्वस्वव्यभिचार्यन्तरिता अपि परिपोषं नीयमाना वैरस्यमावहन्ति ।'

धनञ्जय और धनिक के ऊपर लिखे गये कथन से शान्त रस की नाट्यों में निषिद्धता के निम्न कारण प्रकट होते हैं—

(क) भरतमुनि ने शान्त रस के विभाव आदि का प्रतिपादन नहीं किया।

(ख) रागद्वेष का सर्वथा नाश हो जाने पर ही शम स्थायी भाव की स्थिति होती है। अनादि काल से चले आ रहे राग और द्वेष का सर्वथा विनाश असम्भव होने से शम स्थायी भाव नहीं हो सकेगा और शान्त रस भी नहीं होगा।

(ग) शान्त रस का अन्तर्भाव कुछ आचार्य वीर, बीभत्स आदि रसो मे करते है।

(घ) अभिनयात्मक नाट्यो मे शम का सर्वथा निषेध है, क्योकि समस्त व्यापारो का विलय करने वाले शम का अभिनय नही हो सकता।

(ङ) नागानन्द नाटक शम स्थायी भाव प्रधान नही है, अपितु उसमे दयावीर रस का उत्साह ही स्थायी भाव ही है।

(च) स्थायी भाव को विरुद्ध एव अविरुद्ध भावो से अविच्छेदी कहा गया है। निर्वेद आदि मे यह स्थिति नही है, अत वे स्थायी भाव न होकर सञ्चारी ही हैं।

(छ) नाटको मे शम का परिपोष विरसता उत्पन्न करने वाला होगा। अत. कम से कम नाटको मे शान्त रस की स्थिति नही ही होनी चाहिये।

(६) रसो मे प्रधानता—

आचार्यों ने कुछ रसो को अन्य रसो की अपेक्षा अधिक प्रधानता दी है और एक या अनेक रसो का मूल माना है। भोज ने 'शृङ्गारप्रकाश' मे शृङ्गार रस को सबसे प्रमुख सिद्ध किया है—

"शृङ्गारमेव रसनाद् रसमामनाम"

भवभूति 'उत्तररामचरित' मे करुण रस को सब रसो का मूल प्रतिपादित करते हैं—

"एको रस करुण एव निमित्तभेदात्।"

नारायण पण्डित ने अद्भुत रस को एव अभिनवगुप्त ने शान्त रस को प्रधानता दी है।

रसो की प्रधानता एव अप्रधानता का आधार चित्तवृत्ति को बनाया जाना चाहिये। अन्त करण मे अनादि काल से सचित वासनाओं या सस्कारो को ही वर्गीकृत करके स्थायी भावो का नाम दिया गया है। अत रस के आस्वाद के समय चित्तवृत्ति की विभिन्न अवस्थाओं के आधार पर रसो की प्रधानता या अप्रधानता निश्चित की जा सकती है। दशरूपककार के अनुसार ये चित्तवृत्तियाँ चार प्रकार की हो सकती है—विकास विस्तार, क्षोभ और विक्षेप। शृङ्गार के अनुभव के समय विकास, वीर रस के अनुभव के समय विस्तार, बीभत्स की अनुभूति के समय क्षोभ और रौद्र रस की अनुभूति के समय विक्षेप की अवस्था होनी है, अत ये चार रस प्रधान हैं, एव अन्य चार रस इनसे उत्पन्न होते हैं। शृङ्गार से हास्य, वीर से अद्भुत, बीभत्स से भयानक और रौद्र से करुण रस उत्पन्न होता है। इसको 'दशरूपक' मे इस प्रकार वर्णित किया गया है—

"स्वाद का व्यार्थसम्भेदादात्मानन्दसमुद्भव।
विकासविस्तरक्षोभविक्षेपै स चतुर्विध ॥

शृङ्गारवीरबीभत्सरौद्रेषु मता क्रमात्।
हास्याद्भुतभयोत्कर्षकरुणाना त एव हि ॥
अतस्तज्जन्यता तेषामत एवावधारणम् ॥"

भरत ने इस प्रसङ्ग मे निम्न श्लोक लिखा है—

शृङ्गाराद्धि भवेद्धास्यो रौद्राच्च करुणो रस ।
वीराच्चैवाद्भुतोत्पत्तिर्बीभत्साच्च भयानक ॥

शृङ्गार से हास्य, रौद्र से करुण, वीर से अद्भुत और बीभत्स से भयानक रस की उत्पत्ति होती है।

(७) रसों का परस्पर विरोध एव उसका परिहार—

काव्यो म सम्पादित रसो म परस्पर विरोध की सम्भावना भी कल्पित की गई है। कुछ रस परस्पर विरोधी होते हैं कुछ नही होते। जैसे शृङ्गार का करुण, बीभत्स आदि के साथ विरोध माना गया है और वीर का भयानक के साथ।

रसो का यह विरोध तीन प्रकार का हो सकता है—आलम्बन के ऐक्य से, आश्रय के ऐक्य से और नैरन्तर्य के ऐक्य से। 'साहित्य दर्पण' म इसका विशद विवेचन है—

"इह खलु रसाना विरोधितायाम् अविरोधितायाश्च त्रिधा व्यवस्था। कयोश्चिदालम्बनैक्येन, कयोश्चिदश्रयैक्येन, कयोश्चिन्नैरन्तर्येणेति। तत्र वीरशृङ्गारयोरालम्बनैक्येन विरोध। तथा हास्यरौद्रबीभत्सै सम्भोगस्य। वीरकरुणरौद्रादिभिर्विप्रलम्भस्य। आश्रयैक्येन च वीरभयानकयो। विभावैक्याभ्या शान्तशृङ्गारयो।

रसो की विरोधिता या अविरोधिता की तीन प्रकार की व्यवस्था हो सकती है। किन्ही अलङ्कारो का आलम्बन के ऐक्य से, किन्ही का आश्रय के ऐक्य से और किन्ही का नैरन्तर्य से विरोध होता है। वीर और शृङ्गार से रस मे आलम्बन के ऐक्य से विरोध है। इसी प्रकार से सम्भोग शृङ्गार का हास्य, रौद्र और बीभत्स रस से विरोध है। विप्रलम्भ शृङ्गार का वीर, करुण और रौद्र आदि से विरोध है। वीर और भयानक का आश्रय के ऐक्य से विरोध है। शान्त और शृङ्गार का नैरन्तर्य के द्वारा विरोध होता है।

रसो के निबन्धन के सम्बन्ध मे ध्वनिकार का कथन है कि काव्य एक रस को अङ्गी के रूप मे तथा अन्य रसो को उसके अङ्ग रूप म निबन्धित करना चाहिये। रस के विरोध एव उसके परिहार का विशद विवेचन ध्वनिकार ने यद्यपि तीसरे उद्योत मे किया है, तथापि यहाँ सक्षेप से विरोध परिहार के कुछ उपाय लिखना सगत होगा—

(क) आलम्बन के ऐक्य से विरोधी रसो का निबन्धन नही करना चाहिये।

(ख) आश्रय की एकता द्वारा विरोध होने पर उन रसो को भिन्न भिन्न आश्रय मे निबन्धित करना चाहिये—

विरुद्धैकाश्रयो यस्तु विरोधी स्थायिनो भवेत् ।
स विभिन्नाश्रय कार्यस्तस्य पोषेऽप्यदोषता ॥ ध्वन्यालोक ३ २५॥

(ग) नैरन्तर्य के द्वारा विरोध होने पर दोनो रसो के मध्य मे दोनो रसो के अविरोधी किसी रस का निबन्धन करना चाहिये—

एकाश्रयत्वेनिर्दोषोनैरन्तर्ये विरोधवान् ।
रसान्तरव्यवधिना रसो व्यङ्ग्यो सुमेधसा ॥ ध्वन्यालोक ३ २६ ॥

(घ) निम्न अवस्थाओ मे विरोधी रसो मे भी परस्पर विरोधभाव नही रहता—

स्मर्यमाणो विरुद्धोऽपि साम्येनाथ विवक्षित ।
अङ्गिन्यङ्गत्वमापन्नौ यौ तौ न दुष्टौ परस्परम् ॥
काव्यप्रकाश ७.६५ ॥

दो विरुद्ध रसो का स्मरणात्मक वर्णन हो, दोनो परस्पर सम भाव से विवक्षित हो (उनमे गुण प्राधानभाव न हो), अथवा एक रस दूसरे का अङ्ग बन गया हो अथवा दोना विरोधी रस अन्य का अङ्ग बन गये हो, तो उनमे विरोधिता का दोष नही रहता ।

रसो के परस्पर विरोध तथा उसके परिहार को काव्य ग्रन्थो मे उदाहरणो के द्वारा स्पष्ट किया गया है । अधिक विस्तार के भय से उनको यहाँ प्रस्तुत नही किया गया ।

(८) भाव—

असलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य नामक ध्वनि काव्य के भेदो म रस के अनन्तर भाव का स्थान है । भाव का लक्षण आदि ध्वनिकार ने नही दिया । उत्तरवर्ती ग्रन्थो मे इसका विशद विवेचन है । 'साहित्यदर्पण' म भाव का लक्षण निम्न है—

सञ्चारिण प्रधानानि देवादिविषया रति ।
उद्बुद्धमात्र स्थायी च भाव इत्यभिधीयते ॥ ३ २६० ॥

भाव की स्थिति चार प्रकार से हो सकती है—(क) व्यभिचारी भाव यदि प्रधान रूप से प्रतीयमान हो, (ख) देवता आदि विषयक रति । आदि पद से गुरु, मुनि, नृप आदि ग्रहण किये जाते हैं । मम्मट ने पुत्र का भी इसम ग्रहण किया है तथा पुत्र विषयक रति को भाव माना है । परन्तु विश्वनाथ ने पुत्रविषयक रति म वात्सल रस कहा है । (ग) स्थायी भाव, जिसका कि उद्बोधन मात्र हुआ हो, परिपोष नहीं हुआ हो जैसे—

(क) व्यभिचारी भाव—(प्रधान रूप से प्रतीयमान)—

एव वादिनि देवर्षौ पार्श्वे पितुरधोमुखी ।
लीलाकमलपत्राणि गणयामास पार्वती ॥

इसमे अवहित्था नामक व्यभिचारी भाव प्रधान रूप से प्रतीयमान है ।

(ख) देवता आदि विषयक रति—

कण्ठकोणविनिविष्टमीश ते कालकूटमपि मे महामृतम् ।
अप्युपात्तममृत भवद्वपुर्भेदवृत्ति यदि मे न रोचते ॥

इसमे शिव विषयक रति भाव के प्रतीयमान होने से भाव की स्थिति हैं।

(ग) उद्बुद्धमात्र स्थायी—

हरस्तुकिञ्चित् परिवृत्तधैर्यश्चन्द्रोदयारम्भ इवाम्बुराशि ।
उमामुखे बिम्बफलाधरोष्ठे व्यापारयामास विलोचनानि ॥

इसमे शिव का पार्वतीविषयक रति भाव उद्बुद्ध तो हुआ है, परन्तु वह परिपोष को प्राप्त होकर रस स्थिति मे परिणत नही हुआ।

(९) रसाभास और भावाभास—

यदि रस और भाव अनुचित रूप से प्रवृत्त हो तो उनको रसाभास एव भावाभास कहते हैं—

"तदाभासा अनौचित्यप्रवर्तिता ।" काव्यप्रकाश ४ ३६ ॥

यथा—

(क) रसाभास—

स्तुम क वामाक्षि क्षणमपि विनता य न रमसे
विलेभे क प्राणान् रणमखमुखे य मृगयसे ।
सुलग्ने को जात शशिमुखि यमालिङ्गसि बलात्
तप श्री कस्यैषा मदननगरि ध्यायसि तु यम् ॥

यहाँ सुन्दरी का अनेक कामुक विषयक रति भाव व्यञ्जित होने से शृङ्गार रस अनुचित रूप से प्रवर्तित है, अत रसाभास है।

(ख) भावाभास—

एकसुधाकरमुखी तरलायताक्षी सास्मेरयौवनतरङ्गितविभ्रमाशी ।
तत्कि करोमि विदधे कथमत्र मैत्री तत्स्वीकृतिव्यतिकरे क इवाभ्युपाय ॥

यह रावण की सीता के प्रति उक्ति है, जिसमे चिन्ता नामक व्यभिचारी भाव प्रधानयता प्रतीयमान है। सीता के प्रति रावण की चिन्ता के अनुचित होने से यहाँ भावाभास की स्थिति है।

(१०) भावशान्ति, भावोदय, भावसन्धि और भावशबलता—

भाव की यह स्थिति निम्न प्रकार से है—

भावस्य शान्तावुदये सन्धिमिश्रितयो क्रमात् ।
भावस्य शान्तिरुदय सन्धि शबलता मता ॥ सा० द० ३ २६७ ॥

भाव की शान्ति होन पर भावशान्ति, उदय होने पर भावोदय, भावा की सन्धि होने पर भावसन्धि तथा अनेक भावा के सम्मिश्रित होने पर भावशबलता की स्थिति होती है।

(क) भावशान्ति—

सुतनु जहिहि कोप पश्य पादानत मा
न खलु तव कदाचित कोप एवविधोऽभूत् ।
इति निगदति नाथे तिर्यगामीलिताक्ष्या
नयनजनमनल्प मुक्तमुक्त न किञ्चित् ॥

यहाँ प्रधान रूप से प्रतीयमान ईर्ष्या नामक सञ्चारी भाव की शान्ति अश्रु गिराने से अभिव्यक्त हुई है, अत भावशान्ति है।

(ख) भावोदय—

चरणपतनप्रत्याख्यानात् प्रसादपराङ्मुखे
निभृतकितवाचारेत्युक्त्वा रुषा परुषीकृते ।
व्रजति रमणे नि श्वस्योच्चै स्तनस्थितहस्तया
नयनसलिलच्छन्ना दृष्टि सखीषु निवेशिता ॥

यहाँ प्रधान रूप से प्रतीयमान विषाद नामक सञ्चारी भाव का उदय प्रतीत होता है, अत भावोदय है।

(ग) भावसन्धि—

नयनयुगासेचनक मानसवृत्त्यापि दुष्प्रापम् ।
रूपमिद मदिराक्ष्या मदयति हृदय दुनोति च मे ॥

यहाँ प्रधान रूप से प्रतीयमान हर्ष और विषाद नामक व्यभिचारी भावो की सन्धि होने से भावसन्धि की स्थिति है।

(घ) भावशबलता—

क्वाकार्यं शशलक्ष्मण क्व च कुल भूयोऽपि दृश्येत सा
दोषाणा प्रशमाय मे श्रुतमहो कोपेऽपि कान्त मुखम् ।
कि वक्ष्यन्त्यपकल्मषा कृतधिय स्वप्नेऽपि सा दुर्लभा
चेत स्वास्थ्यमुपैहि क खलु युवा धन्योऽधर धास्यति ॥

यहाँ प्रधान रूप से प्रतीयमान वितर्क, औत्सुक्य, मति, स्मरण, शङ्का, दैन्य, धृति और चिन्ता नामक व्यभिचारी भावो का क्रमश सम्मिश्रण होने के कारण भावशबलता की स्थिति है।

इस प्रकार दूसरे उद्योत की तीसरी कारिका म ध्वनिकार ने यह प्रदर्शित किया है कि जहाँ रस, भाव, रसाभाव, भावशान्ति, भावोदय, भावसधि और भावशबलता प्रधान रूप से प्रतीयमान होते हैं, वह असलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि है ॥३॥

असलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि का विषय निर्धारित करके ध्वनिकार यह प्रतिपादित करते हैं कि जहाँ रसादि प्रधान रूप से विवक्षित होते हैं, वही ध्वनि है। जहाँ प्रधान रूप से विवक्षित नही है, वहा रसवत् आदि अलङ्कार होते हैं। इस प्रकार ध्वनि का विषय रसवत् आदि अलङ्कारो से पृथक् है—

इदानीं रसवदलङ्कारादलक्ष्यक्रमद्योतनात्मनो ध्वनेर्विभक्तो विषय इति प्रदर्श्यते—

वाच्यवाचकचारुत्वहेतूना विविधात्मनाम् ।
रसादिपरता यत्र सध्वनेर्विषयो मतः ॥४॥

रस भाव-तदाभास-तत्प्रशमलक्षणं मुख्यमर्थमनुवर्तमाना यत्र शब्दार्थालङ्कारा गुणाश्च परस्पर ध्वन्यपेक्षया विभिन्नरूपा व्यवस्थितास्तत्र काव्ये ध्वनिरिति व्यपदेश्यः ॥४॥

प्रधानेऽन्यत्र वाक्यार्थे यत्राङ्गन्तु रसादयः ।
काव्ये तस्मिन्नलङ्कारो रसादिरिति मे मतिः ॥५॥

यद्यपि रसवदलङ्कारस्यान्यैर्दर्शितो विषयस्तथापि यस्मिन् काव्ये प्रधानतयाऽन्योऽर्थो वाक्यार्थीभूतस्तस्य चाङ्गभूता ये रसादयस्ते रसादेरलङ्कारस्य विषया इति मामकीनः पक्षः । तद् यथा चाटुषु प्रेयोऽलङ्कारस्य वाक्यार्थत्वेऽपि रसादयोऽङ्गभूता दृश्यन्ते ।

हिन्दी अर्थ—अब अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यरूप ध्वनि का विषय रसवत् आदि अलङ्कारो से पृथक् है, इसको प्रदर्शित किया जाता है—

जहाँ विविध प्रकार के वाच्य और वाचक के चारुत्व के हेतु अलङ्कार आदि रसादिपरक हों, रस आदि के ही अङ्गभूत हो, वह ही ध्वनि का विषय है ॥४॥

जहाँ शब्दालकार, अर्थालकार और गुण रस, भाव, रसाभास, भावाभास और भावप्रशमरूप मुख्य अर्थ का अनुगमन करते हुये परस्पर और ध्वनि की अपेक्षा से स्वतन्त्र रूप मे रहते हुये व्यवस्थित होते हैं, वह ध्वनिकाव्य होता है ।

भाव यह है कि जिस काव्य म रस आदि मुख्य रूप से प्रतीयमान एव विवक्षित हैं, वह ध्वनि काव्य है इसमे अलङ्कार और गुण रस आदि के अनुगामी होने हैं तथा वाच्य और वाचक द्वारा उसकी शोभा को बढाते हैं ॥४॥

रसादि ध्वनि को प्रदर्शित करके रसवद् आदि अलङ्कारो की स्थिति प्रदर्शित की जाती है—

हिन्दी अर्थ—दूसरे स्थानों पर जहाँ वाक्य का अर्थ (रस आदि से भिन्न वस्तु या अलङ्कार) प्रधान होता है और रस आदि उसके अङ्ग होते हैं, वहाँ रसवद् आदि अलङ्कार होते हैं, ऐसा मेरा (ध्वनिकार का) विचार है ॥५॥

यद्यपि अन्य आचार्यों ने रसवद् आदि अलङ्कारों के विषय को प्रदर्शित किया है, तथापि जिस काव्य में अन्य वाक्यार्थ (वस्तु या अलङ्कार) प्रधान होता है और रस आदि उसके अङ्ग होते हैं, वह रसवद् आदि अलङ्कारों का विषय है, यह मेरा पक्ष है । वह ऐसा है जैसे, चाटु वचनों मे प्रेय अलङ्कार के मुख्य वाक्यार्थ होने पर भी वहाँ रस आदि इसके अङ्ग रूप मे दृष्टिगोचर होते हैं ।

इस प्रकरण म ध्वन्यालोककार न यह प्रदर्शित किया है कि रसध्वनि और रसवद् अलङ्कार म भेद है, यद्यपि प्राचीन आचार्यों न रसध्वनि का समावेश रसवद्

अलङ्कार मे करने का प्रयास किया हो वस्तुत रसध्वनि और रसवद् अलङ्कार की स्थिति भिन्न भिन्न है। जहाँ रस प्रधानतया प्रतीयमान होता है, वहाँ रसध्वनि होती है और जहाँ रस अन्य किसी का अङ्ग हो जाता है, वहाँ रसवद् अलङ्कार होता है।

रस आदि अलङ्कार—

रसवद् आदि अलङ्कार के विषय मे प्राचीन आचार्यों मे कुछ मतभेद दिखाई देते हैं। इसका सकेत ध्वनिकार ने कारिका मे "मे मतः" लिखकर और वृत्ति मे "मामकीन पक्ष" लिखकर किया है। रसवद् अलङ्कारो के सम्बन्ध मे निम्न बाते ज्ञातव्य हैं—

(१) रसवद् आदि अलङ्कार चार है—रसवद्, प्रेय ऊर्जस्वि और समाहित। इनमे रस के अङ्ग होने पर प्रेयोऽलङ्कार, रसाभास और भावाभास के अङ्ग होने पर ऊर्जस्वि अलङ्कार तथा भावशान्ति आदि के अङ्ग होने पर समाहित अलङ्कार होता है। अनेक आचार्यों के मत मे भावशान्ति के अङ्ग होने पर समाहित अलङ्कार, भावोदय के अङ्ग होने पर भावोदय अलङ्कार, भावसन्धि के अङ्ग होने पर भावशबलता अलङ्कार होता है।

(२) भामह ने चाटु उक्तियो मे प्रेयोऽलङ्कार माना है। उसका विग्रह होगा "प्रेयान् अलङ्कारो यत्र", जहाँ अतिशय प्रिय व्यक्ति अलङ्कार या वर्णन का विषय हो।

(३) उद्भट ने प्रेयोऽलङ्कार को भाव अलङ्कार नाम दिया है, क्योकि यहाँ प्रेम से भाव का उपलक्षण है।

(४) उत्तरवर्ती आचार्यों ने रसवद् आदि की अलङ्कारो मे गणना नही की, जबकि आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त ने इनको अलङ्कार कहा है। मम्मट ने रसवद् आदि का अलङ्कार इसलिये नही माना होगा कि क्योकि इसका अलङ्कार का लक्षण इनमे घटित नही होता। मम्मटकृत अलङ्कार का लक्षण इस प्रकार है—

उपकुर्वन्ति त सन्त येऽङ्गद्वारेण जातुचित।
हारादिवदलङ्कारास्तेऽनुप्रासोपमादय ॥ का० प्र० ८६७ ॥

अलङ्कार वाच्य और वाचक का उपकार करते हैं तथा उसके द्वारा रस आदि का उपकार करते हैं। यह आवश्यक नही कि वे रस आदि का उपकार निश्चय रूप से करें ही। इसके विपरीत रसवद् अलङ्कार साक्षात् रूप से रस का उपकार करता है। अत मम्मट ने रसवद् आदि की गणना अलङ्कारो म नही की। उसने इनको अपराङ्ग नामक गुणीभूत व्यङ्ग्य के भेदो मे माना है।

(५) आनन्दवर्धन तथा अभिनवगुप्त ने रसवद् आदि की अलङ्कारो मे गणना क्यो की, इसके दो हेतु दिये जा सकते हैं—

(क) प्राचीन आचार्यों ने रसवद् आदि अलङ्कारो को प्रदर्शित किया है। वे रसध्वनि को भी इसी के अन्तर्गत समाविष्ट मानते थे। प्राचीन आचार्यों के रसवद् अलङ्कारो से रसध्वनि का भेद प्रदर्शित करने के लिये ध्वनिकार ने रसध्वनि एव रसवद् आदि अलकारो की पृथक् सत्ता स्पष्ट की और प्राचीन आलकारिको के मत का आदर करते हुये रसवद् आदि को भी रसोपकारक होने के कारण अलङ्कार मान लिया।

स च रसादिरलङ्कारः शुद्ध सङ्कीर्णो वा। तत्राद्यो यथा—
किं हास्येन न मे प्रयास्यसि पुनः प्राप्तश्चिराद्दर्शनं
केयं निष्करुण प्रवासरुचिता केनासि दूरीकृतः।
स्वप्नान्तेष्विति ते वदन् प्रियतमव्यासक्तकण्ठग्रहो
बुद्ध्वा रोदिति रिक्तबाहुवलयस्तारं रिपुस्त्रीजनः॥

(ख) ध्वनिकार और लोचनकार दोनो का ही यह मत है कि अलङ्कारो का प्रधान कार्य काव्य मे सौन्दर्य का आधान करना है। रसवद् आदि भी क्योंकि काव्य मे सौन्दर्य का आधान करते हैं, अत इनको अलङ्कार माना जा सकता है। लोचनकार की निम्न पंक्तियों से यह स्पष्ट है—

"चन्द्रादिना वस्तुना यथा वस्त्वन्तर वदनाद्यलङ्क्रियते तदुपमितत्वेन चारुतमावभासात्। तथा रसेनापि वस्तु वा रसान्तर वोपस्कृत सुन्दर भ ति इति रसस्यापि वस्तुन इवालङ्कारत्वे को विरोध ।

(६) क्याकि ध्वनिकार ने रसवद् अलङ्कार एव गुणीभूत व्यङ्ग्य दोनो का ही वर्णन किया है, अत यह समझा जा सकता है कि वे रसादि के अपराङ्ग होने पर रसवद् आदि अलङ्कार एव वस्तु और अलङ्कार के अपराङ्ग होने पर गुणीभूत व्यङ्ग्य की स्थिति मानते होंगे।

(७) कुछ आचार्य रसवद् आदि अलङ्कार एव गुणीभूत व्यङ्ग्य मे यह भेद करते हैं कि जहाँ चेतन वस्तुये वाक्यार्थीभूत होती है, वहाँ रसवद् आदि अलङ्कार होते हैं और जहाँ अचेतन वस्तुयें वाक्यार्थीभूत होती हैं, वहाँ गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य होता है। परन्तु ध्वनिकार ने ऐसी स्थिति का खण्डन किया है।

रसवद् अलङ्कार की स्थिति का निरूपण करके ध्वनिकार उसके शुद्ध और सङ्कीर्ण, दो भेद करते हैं—

हिन्दी अर्थ—और वह रसवद् आदि अलङ्कार शुद्ध और सङ्कीर्ण भेद से दो प्रकार का होता है। उनमे पहला शुद्ध है, जैसे कि—

इस हंसी करने से क्या लाभ ? मेरे पास से अब पुन नहीं जाओगे। चिरकाल के बाद दर्शन प्राप्त हुये हैं। हे निर्दयी ! तुम्हारी यह प्रवास मे रुचि क्यों है ? तुमको किसने दूर कर दिया है ? इस प्रकार स्वप्न मे प्रियतम के कण्ठ मे आलिङ्गन को करके, पुन स्वप्न के समाप्त हो जाने पर जागकर रिक्त बाहुवलय वाली शत्रुओं की स्त्रियां ऊँचे स्वर से रुदन करती हैं।

ध्वनिकार ने रसवद् अलङ्कार के शुद्ध और सङ्कीर्ण जो दो भेद किये हैं, उनमे शुद्ध का अभिप्राय है—जो अन्य अङ्गभूत रस से या अलङ्कार से मिश्रित नहीं है (रसान्तरेणाङ्गभूतेनालङ्कारान्तरेण वा न मिश्र)। सङ्कीर्ण का अभिप्राय है जो अङ्गभूत अन्य रस स या अन्य अलङ्कार से मिश्रित होता है (आमिश्रस्तु सङ्कीर्ण)।

इत्यत्र करुणस्य शुद्धस्याङ्गभावात् स्पष्टमेव रसवदलङ्कारत्वम् । एवमेवंविधे विषये रसान्तराणा स्पष्ट एवाङ्गभावः ।

सङ्कीर्णो रसादिरङ्गभूतो यथा—

क्षिप्तो हस्तावलग्नः प्रसभमभिहतोऽप्याददानोंऽशुकान्त
गृह्णन् केशेष्वपास्तश्चरणनिपतितो नेक्षितः सम्भ्रमेण ।
आलिङ्गन् योऽवधूतस्त्रिपुरयुवतिभिः साश्रुनेत्रोत्पलाभिः ॥
कामीवार्द्रापराधः स दहतु दुरित शाम्भवो वः शराग्निः ॥

इत्यत्र त्रिपुरप्रभावातिशयस्य वाक्यार्थत्वे ईर्ष्याविप्रलम्भस्य श्लेश-सहितस्याङ्गभाव इति ।

शुद्ध रसवद् अलङ्कार के उदाहरण म उसकी स्थिति प्रदर्शित करत है—

हिन्दी अर्थ—यहाँ शुद्ध करुण रस के अङ्गरूप होने के कारण रसवद् अलङ्कार है। इस प्रकार ऐसे अन्य उदाहरणों मे भी अन्य रसों का अङ्गभाव स्पष्ट है।

यह श्लोक किसी कवि ने उस राजा की स्तुति के लिय गाया है, जिसने अपने शत्रुओ का विनाश कर दिया है। यहाँ स्वप्न मे प्रियतम के दर्शन और जागने पर उसके अदर्शन से अभिव्यक्त शोक स्थायीभावरूप करुण रस शुद्ध है, क्योंकि यह किसी रसान्तर या अलङ्कारान्तर से मिश्रित नही है। इस वाक्य का मुख्य अर्थ है—हे राजन् ? तुमने शत्रुओ का विनाश कर दिया है। शत्रुओ के विनाश रूप मुख्य अर्थ का शुद्ध करुण रस अङ्ग (उपकारक) है। अत यहाँ शुद्ध रसवद् अलङ्कार है।

शुद्ध रसवद् अलङ्कार का उदाहरण देकर सङ्कीर्ण रसवद् अलङ्कार का उदाहरण देते हैं—

सङ्कीर्ण रस आदि भी अङ्गभूत होता है, जैसे—

तत्कालीन ही अपराध करने वाले कामी पुरुष के समान शिव की वह बाणों से उत्पन्न अग्नि तुम्हारे दुखों को जला दे, जो कि नेत्र रूप कमलों में आँसुओं को भरे हुये त्रिपुर की युवतियों द्वारा झिटका जाता हुआ भी हाथों मे लग जाता है, (जिस प्रकार कामी पुरुष झिटका जाने पर भी नायिका के हाथ को पकड लेता है), बलपूर्वक दूर फेंका जाता हुआ भी वस्त्र के छोर को पकड लेता है (जिस प्रकार कामी पुरुष नायिका द्वारा प्रहार किया जाने पर भी उसके आंचल के किनारे को पकड लेता है), हटाया जाता हुआ भी केशों को पकड लेता है (जिस प्रकार कामी पुरुष नायिका द्वारा तिरस्कृत किया जाता हुआ भी उसके केशों में उलझ जाता है), घबराहट के कारण न देखा जाता हुआ भी पैरों मे लग जाता है (जिस प्रकार कामी पुरुष नायिका द्वारा क्रोध के कारण न देखने पर उसके पैरों में गिर जाता है और दूर फेंका जाता हुआ भी सोरशरीर में सन जाता है (जिस प्रकार कामी पुरुष तिरस्कृत होने पर भी नायिका का आलिङ्गन कर लेता है)

यहाँ श्लेष अलङ्कार से मिश्रित ईर्ष्या युक्त विप्रलम्भ तथा करुणा रस वाक्यार्थी-भूत महादेव के अतिशय प्रभाव के अङ्ग हो जाते हैं।

प्रस्तुत श्लोक मे शिव द्वारा तारकासुर के नगर त्रिपुर के दाह का वर्णन है, जो कि एक पौराणिक कथा है। तारकासुर के तीन पुत्र—तारकाक्ष, विद्युन्माली और कमललोचन हुये। तीनों ने घोरतप करके ब्रह्मा और शिव को प्रसन्न करके अन्तरिक्ष के तीनो पुरो पर अधिकार किया। तदनन्तर मदमत्त होकर वे अनेकविध अत्याचार करने लगे। तब देवताओं की प्रार्थना पर शिव ने एक ही बाण मे तीनो को जला दिया। इस कारण शिव को त्रिपुरारि भी कहते हैं।

एवंविध एव रसवदाद्यलङ्कारस्य न्याय्यो विषयः। अत एव चेर्ष्याविप्रलम्भकरुणयोरङ्गत्वेन व्यवस्थानात् समावेशो न दोषः।

यत्र हि रसस्य वाक्यार्थीभावस्तत्र कथमलङ्कारत्वम्? अलङ्कारो हि चारुत्वहेतु प्रसिद्धः। न त्वसावात्मैवात्मनश्चारुत्वहेतुः। तथा चायमत्र सक्षेपः—

रसभावादितात्पर्यमाश्रित्य विनिवेशनम्।
अलंकृतीना सर्वा सामलङ्कारत्वसाधनम्॥

तस्माद् यत्र रसादयो वाक्यार्थीभूताः स सर्वः न रसादेरलङ्कारस्य विषयः, स ध्वनेः प्रभेदः। तस्योपमादयोऽलङ्काराः। यत्र तु प्राधान्येनार्थान्तरस्य वाक्यार्थीभावे रसादिभिश्चारुत्वनिष्पत्तिः क्रियते, स रसादेरलङ्कारताया विषयः।

इस उदाहरण मे कवि का मुख्य अभिप्राय शिव के अतिशय प्रभाव का वर्णन करना है, जो कि वाक्यार्थ है। श्लोक मे श्लेष अलङ्कार है, क्योकि इसकी सगति कामी के अर्थ मे और शिव के बाण से उत्पन्न अग्नि के अर्थ मे है। इसमे ईर्ष्यामिश्रित विप्रलम्भ शृङ्गार तथा करुण रस अभिव्यक्त होते है, जो कि श्लेष से मिश्रित होने से सङ्कीर्ण है। इस प्रकार श्लेष से मिश्रित ईर्ष्या विप्रलम्भ तथा करुण रसो के शिव के प्रभावातिशय रूप वाक्यार्थ का अङ्ग होने के कारण यहाँ सकीर्ण रसवद् अलङ्कार है।

इस उदाहरण को और भी स्पष्ट करते हैं—

हिन्दी अर्थ—इस प्रकार का उदाहरण ही रसवद् आदि अलङ्कार का उचित विषय है। इसलिये ईर्ष्याविप्रलम्भ और करुण रस के अङ्ग रूप मे व्यवस्थित होने से इन दोनो का यहाँ समावेश करना दोष नहीं है।

भाव यह है कि विप्रलम्भ शृङ्गार एव करुण रस का आलम्बन के ऐक्य से विरोध है परन्तु ये दोनो समभाव से विवक्षित होकर वाक्यार्थीभूत शिव के प्रभावातिशय के अङ्ग बन गये हैं, अत यहाँ रसविरोधरूप दोष नही है।

रसवद् अलङ्कार के शुद्ध और सकीर्ण भेदो को कहकर ध्वनिकार पुन रस और रसवद् अलङ्कार के भेद को स्पष्ट करते हैं।

हिन्दी अर्थ—जहाँ रस का वाक्यार्थीभाव है, अर्थात् जहाँ वह वाक्य के प्रधान अर्थ के रूप मे प्रतीयमान होता है, वहाँ वह अलकार कैसे हो सकता है? अलङ्कार तो चारुत्व के हेतु के रूप में प्रसिद्ध है, अत. यह रस स्वय ही अपने चारुत्व का हेतु नहीं हो सकता और इस विषय में यह साराश है—

रस, भाव आदि के तात्पर्य का आश्रय लेकर, उन्हीं को प्रधान मानकर सब अलङ्कारों के अलङ्कारत्व का साधन होता है।

इस कारण से जहाँ रस आदि वाक्यार्थीभूत होते हैं, वह सब रसवद् आदि अलङ्कार का विषय नहीं होता। वह तो ध्वनि का ही भेद है। उपमा आदि अलङ्कार उस रस को अलङ्कृत करने वाले हैं। परन्तु जहाँ कोई दूसरा अर्थ प्रधान रूप से वाक्यार्थीभूत होता है और उसके उपकारक के रूप में रस आदि द्वारा चारुत्व की निष्पत्ति होती है, वह रसवद् आदि के अलङ्कारत्व का विषय होता है।

एव ध्वने, उपमादीनाम्, रसवदलङ्कारस्य च विभक्तविषयता भवति। यदि तु चेतनाना वाक्यार्थीभावो रसाद्यलकारस्य विषय इत्युच्यते, तर्हि उपमादीना प्रविरलविषयता निर्विषयता वाभिहिता स्यात्। यस्माद-चेतनवस्तुवृत्ते वाक्यार्थीभूते पुनश्चेतनवस्तुवृत्तान्तयोजनया यथा कथञ्चिद् भवितव्यम्। अथ सत्यामपि तस्या यत्राचेतनाना वाक्यार्थीभावो नासौ रसवदलङ्कारस्य विषय इत्युच्यते, तन्महतः काव्यप्रबन्धस्य रसनिधानभूतस्य नीरसत्वमभिहितं स्यात्।

भाव यह कि यदि काव्य म रस प्रधान रूप से व्यङ्ग्य है तो वह रसध्वनि होगी और उपमा आदि अलङ्कार उसके उपकारक होगे। यदि उसमे रस की स्थिति गौण है और वह अन्य वाक्याथ का उपकारक है तो वह रसवदलङ्कार कहलायगा।

इसके काव्य की आत्मा होने के कारण उपमा आदि अलङ्कार उसको अलङ्कृत कैसे करेंगे? यह प्रश्न उपस्थित होता है। इसका उत्तर अभिनवगुप्त ने इस प्रकार दिया है—यद्यपि उपमा के द्वारा वाच्य अर्थ को अलङ्कृत किया जाता है, तथापि व्यङ्ग्य अर्थ के अभिव्यञ्जन के सामर्थ्य का आधान उसम होने से वह रसरूप ध्वनि को अलङ्कृत करती है, अत ध्वनि ही अलङ्कार्य है। जिस प्रकार शरीर के साथ रहने वाले स्वर्णकुण्डल आदि शरीर को अलङ्कृत करते हुये भी विशेष प्रकार की चित्तवृत्तियों के सामर्थ्य से आत्मा को अलङ्कृत करते हैं, उसी प्रकार उपमा आदि अलङ्कार वाच्य अर्थ को अलङ्कृत करते हुए काव्य की आत्मा रसध्वनि का उपकार करते हैं। यदि स्वर्णकुण्डल आदि अलङ्कार केवल शरीर को ही अलङ्कृत करते तो अचेतन शव को भी वे अलङ्कृत करते। परन्तु अचेतन शरीर की अलङ्कारो से चारुत्वनिष्पत्ति नहीं होती, क्योंकि उसमे आत्मा का अभाव है। इस प्रकार चित्तवृत्तियो के सामर्थ्य से अलङ्कारो की उपयोगिता होती है जिस प्रकार स्वर्ण के अलङ्कार सन्यासी के लिये हास्यास्पद ही हैं, इसी प्रकार से काव्य मे भी अलङ्कारो के नियोजन के समय रस के औचित्य का ध्यान रखना आवश्यक है। अन्यथा वह काव्य हास्यास्पद होगा।

इस प्रकार ध्वनिकार ने ध्वनि, उपमा आदि अलङ्कारो तथा रसवद् आदि अलङ्कारो की काव्य मे स्थिति को स्पष्ट करके उनकी परस्पर भिन्नता को स्पष्ट किया है।

हिन्दी अर्थ—इस प्रकार ध्वनि का, उपमा आदि अलङ्कारो का और रसवद् आदि अलङ्कारो का विषय अलग अलग है, यह सिद्ध होता है। यदि यह कहा जाये कि चेतन वस्तुओं के वृत्तान्त के वाक्यार्थीभूत होने पर वह रसवद् आदि अलङ्कारों का विषय होता है, तो उपमा अलङ्कारो का विषय बहुत कम होगा या बिलकुल विषय नहीं होगा। क्योंकि जहां जहां अचेतन वस्तु का वृत्तान्त वाक्यार्थीभूत होता है, वहां किसी न किसी रूप मे चेतन वस्तु के वृत्तान्त की योजना भी होती है। यदि किसी काव्य मे चेतन वस्तु के वृत्तान्त की योजना होने पर भी अचेतन वस्तु के वृत्तान्त की योजना वाक्यार्थीभूत हो और उसमे रसवद् आदि अलङ्कार के विषयत्व का निषेध कर दिया जावे, तो यह कहा जायेगा कि रस का निधानभूत बहुत बड़ा काव्य का अंश नीरस है।

यथा—

तरङ्गभ्रूभङ्गा क्षुभितविहगश्रेणिरसना
विकर्षन्ती फेनं वसनामिव सरम्भशिथिलम् ।
यथाविद्धं याति स्खलितमभिसन्धाय बहुशो
नदीरूपेणेयं ध्रुवमसहना सा परिणता ।।

ध्वनि, उपमा आदि अलङ्कार और रसवद् आदि अलङ्कारा की भिन्नता को सक्षेप मे इस प्रकार कहा जा सकता है—

(१) जहाँ रस आदि की प्रतीति प्रधान रूप से होती है और वह किसी अन्य का उपकारक नही होता, वह रसध्वनि का विषय है।

(२) जहा प्रधान रस अलङ्कार्य है, दूसरा रस अङ्गभूत है, एव उपमा आदि अलङ्कार स्वतन्त्र रूप से स्थित हैं, वह उपमा आदि अलङ्कारो का विषय है।

(३) जहाँ रस आदि अन्य अर्थ के उपकारक के रूप म, अङ्गरूप मे स्थित रहते हैं, वह रसवद आदि अलङ्कारो का विषय है।

कुछ आचार्य उपमा आदि अलङ्कारा तथा रसवद् आदि अलङ्कारो के भेद को दूसरी प्रकार से कहते हैं। उनका कहना है कि जहाँ चेतन वस्तु की योजना वाक्यार्थीभूत हाती है, वहाँ रसवद् आदि अलङ्कारो की स्थिति होती है और जहाँ अचेतन वस्तु की योजना वाक्यार्थीभूत होती है, वह उपमा आदि अलङ्कारो का विषय होता है। परन्तु ध्वनिकार इस कथन को स्वीकार नही करते। अपने पक्ष की पुष्टि के लिये वे निम्न युक्तियाँ देते हैं—

(१) यदि चेतन वस्तु के वृत्तान्त की योजना के वाक्यार्थीभूत होने पर सर्वत्र रसवद् आदि अलङ्कारो की स्थिति को माना जावे तो उपमा आदि अलङ्कारों का विषय या तो अत्यल्प हो जायेगा अथवा सर्वथा नही रहेगा।

(२) अचेतन वस्तु के वृत्तान्त की योजना के वाक्यार्थीभूत होने पर भी उसम किसी न किसी प्रकार से चेतन वस्तु के वृत्तान्त की योजना भी अवश्य रहती है।

(३) यदि यह कहा जावे कि किसी काव्य मे चेतन वस्तु के वृत्तान्त की योजना होने पर भी उसमे अचेतन वस्तु के वृत्तान्त का वाक्यार्थीभाव है, तथा इस अवस्था मे यह काव्य रसवद् अलङ्कार का विषय नहीं है, तो इस अवस्था को स्वीकार करने पर इसके निधानभूत काव्य के एक बडे अश को रसविहीन मानना पडेगा। हम किसी काव्य को नीरस तभी कहेगे, जबकि उसमे इसकी अभिव्यक्ति सर्वथा नही है। परन्तु यदि किसी काव्य मे रस की स्थिति रसवद् अलङ्कार के रूप मे है, तो भी उसको नीरस नही कहा जा सकेगा, अपितु यह अवश्य कहा जायेगा कि इस काव्य मे रस अङ्गरूप मे है।

इस कारण उपमा आदि और रसवद् आदि अलङ्कारा मे चेतन-अचेतन वस्तुओ के वृत्तान्त की योजना के आधार पर भेद नही किया जा सकता। ध्वनिकार अपने वचन की पुष्टि के लिये कुछ उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—

हिन्दी अर्थ—जैसे—

तरङ्गरूपी भावो की भङ्गिमाओ से युक्त, कलबल करते हुये पक्षियों की पङ्क्ति-रूपी करधनी से युक्त, क्रोध के आवेश से शिथिल वस्त्र के समान झाग को खींचती हुई जो यह नदी बार बार ठोकर को खाकर कुटिल चाल से चली जा रही है, तो ऐसा प्रतीत होता है कि मेरे अपराधो को न सहन करने वाली यह उर्वशी निश्चय रूप से नदी के रूप मे परिणत हो गई है।

यथा वा—

> तन्वी मेघजलार्द्रपल्लवतया धौताधरेवाश्रुभिः
> शून्येवाभरणैः स्वकालविरहाद् विश्रान्तपुष्पोद्‌गमा ।
> चिन्ता मौनमिवाश्रिता मधुकृतां शब्दैर्विना लक्ष्यते
> चण्डी मामवधूय पादपतितं जातानुतापेव सा ॥

यथा वा—

> तेषां गोपवधूविलाससुहृदां राधारहःसाक्षिणां
> क्षेमं भद्र कलिन्दशैलतनयातीरे लतावेश्मनाम् ।
> विच्छिन्ने स्मरतल्पकल्पनमृदुच्छेदोपयोगेऽधुना
> ते जाने जरठीभवन्ति विगलन्नीलत्विषः पल्लवाः ॥

इत्येवमादौ विषयेऽचेतनानां वाक्यार्थीभावेऽपि चेतनवस्तुवृत्तान्तयोजनाऽस्त्येव । अथ यत्र चेतनवस्तुवृत्तान्तयोजनाऽस्ति तत्ररसादिरलङ्कारः । तदेवं सत्युपमादयो निर्विषयाः प्रविरलविषया वा स्युः । यस्मान्नास्त्येवासावचेतनवस्तुवृत्तान्तो यत्र चेतनवस्तुवृत्तान्तयोजना नास्त्यन्ततो विभावत्वेन । तस्मादङ्गत्वेन च रसादीनामलङ्कारता । यः पुनरङ्गी रसो भावो वा सर्वाकारमलङ्कार्यः स ध्वनेरात्मेति ॥५॥

अथवा जैसे—

यह मानिनी तन्वी उर्वशी पैरों पर गिरे हुये मेरा तिरस्कार करके मानों पश्चात्ताप से युक्त होती हुई, मेघ के जल से पल्लवों के गीला हो जाने के कारण मानो आंसुओं से धो दिये गये अधर वाली, अपना समय अर्थात् वसन्त ऋतु के न रहने से पुष्पों के उद्गम से रहित हो जाने के कारण आभूषण से रहित सी होती हुई एवं भौंरो के शब्दों के अभाव में चिन्ता और मौन को आश्रित होती हुई (लता के समान) सी लक्षित होती है।

इन दोनों श्लोकों में नदी और लता के वर्णन करने के तात्पर्य से कवि ने *विरहपीडित पुरुरवा की उन्माद की उक्तियों को कहा है।*

अथवा जैसे—

हे भद्र ! गोपियों के विलासों के मित्र और राधा की एकान्त क्रीडाओं के साक्षी यमुना नदी के किनारे विद्यमान लतागृहों की कुशलता तो है ? अथवा अब तो कामशय्या के बनाने के लिये कोमल किसलयों के तोडने का उपयोग न रहने पर वे पल्लव श्यामल कान्ति से रहित होते हुये पुराने पड़ जाते होंगे।

कृष्ण ने इस श्लोक में लताकुञ्जों का कुशल पूछने के निमित्त से अपने उन दिनों के विलासों का स्मरण किया है।

इस प्रकार के उदाहरणों में यद्यपि अचेतन नदी, लता और लताकुञ्ज वस्तुओं का वाक्यार्थीभाव है, अर्थात् ये अर्थ ही प्रधान रूप से विवक्षित है, तथापि इनमें चेतन वस्तुओं के वृत्तान्त की योजना, पुरुरवा का उन्माद व्यक्त करना और कृष्ण का कामकेलियों का स्मरण करना, है ही। और यदि यह कहा जावे कि जहाँ चेतन वस्तुओं के वृत्तान्त की योजना है, वहाँ रसवद् आदि अलङ्कार ही होते हैं, तो इस प्रकार मानने पर उपमा आदि अलङ्कारों का विषय या तो रहेगा ही नहीं या अत्यल्प

किञ्च—

तमर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृताः ।
अङ्गाश्रितास्त्वलङ्कारा मन्तव्याः कटकादिवत् ॥६॥

ये तमर्थं रसादिलक्षणमङ्गिनं सन्तमवलम्बन्ते ते गुणाः शौर्यादिवत् । वाच्यवाचकलक्षणान्यङ्गानि पुनस्तदाश्रितास्त्वलङ्कारा मन्तव्याः कटकादिवत् ॥६॥

हो जायेगा, क्योंकि अचेतन वस्तुओं का ऐसा वृत्तान्त नहीं मिलेगा, जिसमे चेतन वस्तुओं के वृत्तान्त की योजना अन्तत विभाव रूप न हो। अर्थात् वह योजना मान ही जायगी। इस कारण यह स्वीकार करना चाहिये कि जहां रस आदि अङ्गरूप से रहते हैं, वहां वे अलङ्कार के रूप मे होते हैं और जहां रस या भाव अङ्गी रूप मे होता है, वह सभी प्रकार से अलङ्कार्य है और ध्वनि का आत्मारूप है।

इस प्रकार इस प्रकरण मे ध्वनिकार ने उपमा आदि अलङ्कारो एव रसवद आदि अलङ्कारो के विषय के भेद को स्पष्ट किया कि जहाँ रस आदि अङ्ग के रूप मे रहते हैं तथा वाक्यार्थीभूत नही होते वह रसवद आदि अलङ्कार है और जहाँ वाक्यार्थीभूत होते हैं, अङ्गी रूप से रहते हैं वह रसादि ध्वनि है। उपमा आदि अलङ्कारो एव रसवद् आदि अलङ्कारो के विषय का भेद चेतन-अचेतन वस्तुओ के वृत्तान्त के वाक्यार्थीभाव के आधार पर नही करना चाहिये, क्योंकि अचेतन वस्तु के वृत्तान्त मे चेतन वस्तु के वृत्तान्त की योजना मिल ही जाती है। अत उपमा आदि अलङ्कारो का विषय या तो रहेगा ही नही या अत्यल्प होगा। अथवा अचेतनपरक काव्य को सदा रसरहित मानना होगा ॥५॥

'रसध्वनि, उपमा आदि अलङ्कार एव रसवद् आदि अलङ्कारो का विषयविभाग करके ध्वनिकार गुण और अलङ्कार का विषय विभाग कर रहे हैं।

गुण और अलङ्कार का भेद—

हिन्दी अर्थ—और भी—

जो उस अङ्गी रूप अर्थ का (प्रधानतया प्रतीयमान रस का) अवलम्बन करते हैं, वे गुण कहलाते हैं। परन्तु जो अङ्ग का (वाच्य वाचक का) आश्रय लेते हैं, उनको कङ्कण आदि के समान अलङ्कार समझना चाहिये ॥६॥

जो रस आदि लक्षण वाले अङ्गी रूप से स्थित रस का आश्रय लेते हैं, वे शौर्य आदि के समान गुण कहलाते हैं। पुन जो वाच्य वाचक लक्षण वाले अङ्गो का आश्रय लेते हैं, उनको कटक आदि के समान अलङ्कार मानना चाहिये ॥६॥

काव्य की विवेचना के प्रारम्भिक काल से ही गुणो के स्वरूप पर विचार होता रहा है। भरतमुनि ने माधुर्य और औदार्य नामक गुणो का उल्लेख किया था तथा ओज का स्वरूप बताया था। भामह, दण्डी, वामन आदि आचार्यों ने गुणो और अलङ्कारो के स्वरूप की विवेचना की थी। भामह और दण्डी ने इनके भेद का ठीक

प्रकार से भेद स्पष्ट नही किया था, परन्तु वामन ने इनके भेद को स्पष्ट करने का प्रयास किया। ध्वनिवादी आचार्यों ने प्राचीन आलङ्कारिको के मन्तव्यो को स्वीकार न करते हुये गुण और अलङ्कारो के स्वरूप की विवेचना करके इनके भेद को स्पष्ट किया। इस सम्बन्ध मे सर्वप्रथम ध्वनिकार का उल्लेख किया जाता है। आनन्दवर्धन के अनुसार काव्य मे गुणो की स्थिति उसी प्रकार की है, जिस प्रकार शरीर मे शौर्य आदि गुणो की है और अलङ्कारो की स्थिति कुण्डल आदि अलङ्कारो के समान है। तदनन्तर मम्मट, विश्वनाथ आदि आचार्यों ने भी आनन्दवर्धन का अनुकरण करते हुये गुणो और अलङ्कारो के स्वरूप का विवेचन किया था। मम्मट ने गुण और अलङ्कार के स्वरूप का विवेचन इस प्रकार किया—

गुण—

ये रसस्याङ्गिनो धर्मा शौर्यादय इवात्मन ।
उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणा ॥ का० प्र० ८६६॥

आत्मा के शौर्य आदि धर्मों के समान जो काव्य के अङ्गीभूत रस के धर्म है, रस के उत्कर्ष के हेतु हैं और रस के साथ नियत रूप से स्थित रहते है, वे गुण हैं।

अलङ्कार—

उपकुर्वन्ति त सन्त येऽङ्गद्वारेण जातुचित् ।
हारादिवदलङ्कारास्तेऽनुप्रासापमादय ॥का० प्र० ८६७॥

जो वाच्य-वाचकरूप अङ्ग के द्वारा विद्यमान उस रस का कभी (नियत रूप से नही) उपकार करते हैं, वे शरीर को अलङ्कृत करने वाले हार आदि अलङ्कारो के समान उपमा आदि अलङ्कार है।

मम्मट के इस लक्षण से गुण और अलङ्कार मे निम्न भेद दृष्टिगोचर होते है—

(१) गुण काव्य के आत्मभूत रस के धर्म होते हैं, परन्तु अलङ्कार काव्य के शरीर शब्द और अर्थ का अलङ्कृत करते हैं।

(२) गुण रस का साक्षात् रूप से उपकार करते है, परन्तु अलङ्कार रस का शब्द और अर्थ के माध्यम से उपकार करते है।

(३) रस के साथ गुणो की स्थिति अविनाभाव सम्बन्ध से रहती है। रस के होने पर गुण भी अवश्य होते हैं। वे रस के नियत रूप से धर्म हैं। परन्तु अलङ्कारो की स्थिति ऐसी नही है। रस के होने पर अलङ्कार हो भी सकते है, तथा नहीं भी हो सकते। अलङ्कारो के होने पर रस हो भी सकते हैं, नही भी हो सकते। रस के बिना गुणो की स्थिति नहीं होती।

(४) गुण विद्यमान रस का नियत रूप से उपकार करते हैं, अलङ्कार रस के होने पर उसका उपकार कर भी सकते हैं, नही भी कर सकते।

गुण और अलङ्कार के भेदो के सम्बन्ध मे प्राचीन आचार्यों मे भामह और वामन का मत द्रष्टव्य है।

भामह का मत—

भामह के विवरण मे भट्टोद्भट ने गुण और अलङ्कारो मे स्पष्ट भेद को स्वीकार नही किया। उनका कथन था कि इनमे कोई वास्तविक भेद नही हैं। लौकिक शौर्य आदि गुणो और कुण्डल आदि अलङ्कारो मे तो भेद है, क्योकि शौर्य आदि गुण आत्मा मे सम्बन्ध से रहते हैं एव कुण्डल आदि अलङ्कार सयोग सम्बन्ध से रहते हैं। परन्तु काव्य मे ओज आदि गुण और अनुप्रास आदि अलङ्कार दोना समवाय सम्बन्ध से रहते हैं। अत काव्य मे गुणो और अलङ्कारो मे भेद नही किया जा सकता। भट्टोद्भट के इस कथन को मम्मट ने इन शब्दो मे कहा है—

"एव च समवायवृत्त्या शौर्यादय सयोगवृत्त्या तु हारादय इत्यस्तु गुणालङ्काराणा भेद, ओज प्रभृतीनामनुप्रासोपमादीना चोभयेषामपि समवायवृत्त्या स्थितिरिति गड्डलिकाप्रवाहेणैवैषा भेद ॥ का० प्र० अष्टम उल्लास ॥

जिस प्रकार शौर्य आदि गुण समवाय वृत्ति से रहते है और हार आदि अलङ्कार सयोग वृत्ति से रहते हैं, यह ही गुणो और अलङ्कारो मे भेद है, यह कहना ठीक नही, क्योकि काव्य मे ओज आदि गुणो एव उपमा आदि अलङ्कारो, दोनो की ही स्थिति समवाय रूप से रहती है। अत गुण और अलङ्कारो मे भेद करना भेडचाल है। वस्तुत इनमे भेद नही हैं।

परन्तु मम्मट ने एव अन्य ध्वनिवादी आचार्यों ने गुणो को रसनिष्ठ धर्म मानकर तथा अलङ्कारो को शब्दार्थनिष्ठ अलङ्कार मानकर इनके भेद का प्रतिपादन किया है।

वामन का मत—

वामन ने गुणो और अलङ्कारो मे भेद तो प्रतिपादित किया, परन्तु वह इस भेद को दूसरे रूप मे कहता है। मम्मट ने वामन के मत को निम्न प्रकार से उद्धृत किया है—

'काव्यशोभाया कर्तारो धर्मा गुणास्तदतिशयहेतवस्त्वलङ्कारा"

का० प्र० अष्टम उल्लास ॥

काव्य की शोभा के विधायक धर्म गुण कहलाते हैं और उस शोभा मे वृद्धि करने वाल धर्म अलङ्कार हैं। इस प्रकार वे गुण और अलङ्कार दोनो को शब्दार्थनिष्ठ धर्म मानते हैं। रीतिवादी आचार्य वामन ने काव्य की आत्मा रीति को माना है (रीतिरात्मा काव्यस्य)। मम्मट ने वामन के रीति सिद्धान्त के आधार पर ही उसके इस मन्तव्य का खण्डन किया। उन्होंने कहा कि गुणो को शब्दार्थनिष्ठ मानने पर क्या आप काव्य का व्यवहार गुणो के समस्त समुदाय से करेंगे अथवा कुछ गुणो से। यदि काव्य का व्यवहार समस्त गुणो से होता है, तो गौडी और पाञ्चाली रीति, जिनमे समस्त गुण नही होते, काव्य की आत्मा कैसे हो सकेगी। यदि यह मान लिया जावे कि कुछ गुणों से काव्य का व्यवहार हो जाता है तो—

तथा च—

श्रृङ्गार एव मधुर परः प्रह्लादनो रसः ।
तन्मयं काव्यमाश्रित्य माधुर्यं प्रतितिष्ठति ॥७॥

श्रृङ्गार एव रसान्तरापेक्षया मधुरः प्रह्लादहेतुत्वात्। तत्प्रकाशनपरशब्दार्थतया काव्यस्य स माधुर्यलक्षणो गुणः। श्रव्यत्वं पुनरोजसोऽपि साधारणमिति ॥७॥

अग्रावत्र प्रज्ज्वलत्यग्निरुच्चैः प्राज्य प्रोद्यन्नुल्लसत्येष धूमः

इत्यादि वाक्यों मे ओजगुण की उपस्थिति होने से काव्य का व्यवहार मानना पड़ेगा। भाव यह है कि वामन ने तीन रीतियां मानी हैं—वैदर्भी गौडी और पाञ्चाली। वैदर्भी में समस्त गुण होते हैं। गौडी ओजोगुण प्रधान है तथा पाञ्चाली मधुर गुण प्रधान है। प्रश्न यह है कि गुणों को काव्य की शोभा का आधायक धर्म मान लेने पर यह प्रश्न उपस्थित होगा कि क्या सभी गुणों का समुदाय होने पर ही काव्य होता है या एक एक गुण की उपस्थिति में भी काव्य होता है ? यदि यह माना जावे कि समस्त गुणों का समुदाय होने पर ही काव्य होता है तो गौडी और पाञ्चाली रीति में जिनमें समस्त गुण नहीं होते, उनका अस्तित्व कैसे सिद्ध हो सकेगा। यदि यह मान लिया जावे कि एक एक गुण की उपस्थिति में भी काव्यत्व हो सकता है तो अग्रावत्र आदि वाक्यों में जहाँ कि काव्यत्व नहीं है ओज गुण की उपस्थिति में काव्यत्व मानना पड़ेगा अतः वामन द्वारा किया हुआ गुण और अलङ्कारों का भेद ठीक नहीं है ॥६॥

गुणों और अलङ्कारों के भेद का निरूपण करके ध्वनिकार ने मधुर गुण की स्थिति का बताया है—

हिन्दी अर्थ—और इसी से—

श्रृङ्गार रस ही सबसे अधिक आनन्ददायक मधुर रस है। उस श्रृङ्गारमय काव्य का आश्रय लेकर माधुर्य प्रतिष्ठित होता है ॥७॥

अन्य रसों की अपेक्षा श्रृङ्गार रस ही मधुर होता है क्योंकि यह आनन्दजनक है। उस श्रृङ्गार रस को प्रकाशित करने वाले शब्द और अर्थ से युक्त होने के कारण काव्य का माधुर्य लक्षण वाला गुण है। श्रव्यत्व तो ओज का भी साधारण धर्म है अर्थात् श्रव्यत्व तो माधुर्य के समान ओज में भी रहता है।

श्रृङ्गार रस को सबसे अधिक आनन्ददायक रस माना गया है। अतः इसको ध्वनिकार ने पर प्रह्लादन विशेषण दिया। रति की भावना अविच्छिन्न रूप से सभी देवता मनुष्य और पशु पक्षियों में विद्यमान रहती है। संन्यासी आदि विरक्त व्यक्तियों में भी यह भावना दृष्टिगोचर होती है। अतः रति भाव के समान कोई भी भाव आस्वादी नहीं है। इसलिये इसको मधुर कहा गया है। जिस प्रकार शर्करा का मधुर रस विवेकी अविवेकी, रोगी स्वस्थ सभी को हृद्य प्रतीत होता है उसी प्रकार श्रृङ्गार रस सभी के लिये हृद्य है। काव्य की आत्मा रूप उस श्रृङ्गार रस का यह मधुर रस आश्रय लेकर रहता है।

शृङ्गारे विप्रलम्भाख्ये करुणे च प्रकर्षवत् ।
माधुर्यमार्द्रतां याति यतस्तत्राधिकं मनः ॥८॥

विप्रलम्भशृङ्गारकरुणयोस्तु माधुर्यमेव प्रकर्षवत् । सहृदयहृदयावर्जनातिशयनिमित्तत्वादिति ॥८॥

रौद्रादयो रसा दीप्त्या लक्ष्यन्ते काव्यवर्तिनः ।
तद्व्यक्तिहेतू शब्दार्थावाश्रित्यौजो व्यवस्थितम् ॥९॥

श्रव्यत्वं पुनरोजसोऽपि साधारणम्—वृत्ति में यह वाक्य भामहकृत मधुर के लक्षण का निषेध करने के लिये लिखा गया है। भामह ने इस प्रकार लिखा है—

'श्रव्यं नातिसमस्तार्थशब्दं मधुरमिष्यते' भामह २ २ ३ ।

मधुर का लक्षण है कि जो श्रवणीय हो और जिसमें शब्द अधिक समास वाले न हों।

ध्वनिकार के मत में मधुर के लक्षण में श्रव्यत्व को भेदक रूप में रखना उचित नहीं। इसका खण्डन करने के लिये उन्होंने कहा कि श्रव्यत्व तो ओजोगुण में भी होता है, जैसे कि 'यो यः शस्त्रं बिभर्ति०' पद्य में ओज गुण होने पर और मधुर गुण न होने पर भी श्रव्यत्व है ॥७॥

शृङ्गार में मधुर गुण का प्रतिपादन करके ध्वनिकार विप्रलम्भ शृङ्गार और करुण रस में मधुर गुण के अतिशय का प्रतिपादन करते हैं—

हिन्दी अर्थ—यह माधुर्य विप्रलम्भ शृङ्गार में और करुण रस में अधिक उत्कर्ष से युक्त होता है, क्योंकि वहां मन अधिक आर्द्रता को प्राप्त होता है ॥८॥

विप्रलम्भ शृङ्गार और करुण रसों में तो माधुर्य ही प्रकर्ष से युक्त होता है। क्योंकि यह सहृदयों के हृदयों को अतिशय से आकर्षित करता है।

कहने का अभिप्राय यह है कि सम्भोग शृङ्गार की अपेक्षा विप्रलम्भ शृङ्गार में मधुरता अधिक होती है एवं विप्रलम्भ शृङ्गार की अपेक्षा करुण रस में अधिक मधुरता होती है। अर्थात् सम्भोग शृङ्गार, विप्रलम्भ शृङ्गार एवं करुण रस के अभिव्यञ्जक वर्ण क्रमशः मधुर, मधुरतर, मधुरतम होते हैं। मधुरत्व के क्रमशः अधिक होने का हेतु यह है कि इन रसों के आस्वादन में सामाजिकों का हृदय स्वाभाविक अनावश्यक काठिन्य को, क्रोध आदि कारणों से उत्पन्न दीप्तरूपता को और विस्मय राग आदि से उत्पन्न रागिता को छोड़ देता है ॥८॥

शृङ्गार और करुण रस में मधुर गुण का प्रतिपादन करके ध्वनिकार प्रतिपादित करते हैं कि रौद्र आदि कठोर रसों में ओज गुण की स्थिति होती है—

हिन्दी अर्थ—काव्य में रहने वाले रौद्र आदि रस दीप्ति से लक्षित होते हैं। उन रौद्र आदि रसों को अभिव्यक्त करने वाले शब्द और अर्थ का आश्रय लेकर ओज गुण व्यवस्थित रहता है ॥९॥

रौद्रादयो हि रसाः परां दीप्तिमुज्ज्वलतां जनयन्तीति लक्षणया त एव दीप्तिरित्युच्यते । तत्प्रकाशनपरः शब्दो दीर्घसमासरचनालङ्कृतं वाच्यम् ।
यथा—

चञ्चद्भुजभ्रमितचण्डगदाभिघात-
सञ्चूर्णितोरुयुगलस्य सुयोधनस्य ।
स्त्यानावविद्धघनशोणितशोणपाणि-
रुत्तंसयिष्यति कचांस्तव देवि भीमः ॥

तत्प्रकाशनपरश्चार्थोऽनपेक्षितदीर्घसमासरचनः प्रसन्न वाचकाभिधेयः ।

क्योंकि रौद्र आदि रस अत्यधिक दीप्ति की उज्ज्वलता को उत्पन्न करते हैं, अतः लक्षणा से उनको ही दीप्ति कहा जाता है। उन रौद्र आदि रसों का प्रकाशक शब्द और दीर्घ समासों की रचना से अलंकृत वाक्य भी दीप्ति है।

ओज गुण रौद्र आदि रसों का उपकार करता है। आदि पद से वीर और अद्भुत रसों का ग्रहण किया जाता है।

दीप्ति—"प्रतिपत्तृहृदयेविकासविस्तारप्रज्ज्वलनस्वभावा दीप्ति ।"

सामाजिक या सहृदय के हृदय में विकास, विस्तार और प्रज्ज्वलन की अवस्था का अभिव्यक्त होना दीप्ति है। यह मुख्य रूप से 'ओजस्' पद से कही जाती है। रौद्र आदि रस परम दीप्ति को उत्पन्न करते है, अत लक्षणा से उनको भी दीप्ति कह देते हैं। इसी प्रकार से रौद्र रस को अभिव्यक्त करने वाले शब्द को भी दीप्ति कह देते है और रौद्र रस का अभिव्यञ्जक दीर्घसमासयुक्त रचना से अलंकृत वाक्य भी दीप्ति कहलाता है। इसप्रकार रौद्रादि रस, रौद्रादि रसों के अभिव्यञ्जक शब्द और रौद्रादि रसों के अभिव्यञ्जक वाक्य सभी को दीप्ति कहा गया है।

आचार्य अभिनवगुप्त के अनुसार यहाँ लक्षित लक्षणा से ही शब्द और वाक्य को दीप्ति कहा गया है।

रौद्र रस के व्यञ्जक शब्द और वाक्य का उदाहरण—

हिन्दी अर्थ—जैसे—

हे देवि ! फड़कती हुई भुजाओं से घुमाई गई भयानक गदा के प्रहार से चूर-चूर की गई दोनों जाँघों वाले सुयोधन के बहकर जमे हुये घने रक्त से लाल हाथों वाला यह भीम तुम्हारे केशों को बाँधेगा।

इस पद्य में रौद्र के अभिव्यञ्जक शब्द और दीर्घ समास युक्त रचना ओजगुण के अभिव्यञ्जक हैं।

उस रौद्र रस को अभिव्यक्त करने वाला अर्थ जो कि दीर्घ समास से रहित रचना वाला है तथा प्रसाद गुण युक्त वाचक से अभिधेय है, वह भी दीप्ति कहा जाता है।

यथा—

> यो यः शस्त्रं बिभर्ति स्वभुजगुरुमदः पाण्डवीनां चमूनां
> यो यः पाञ्चालगोत्रे शिशुरधिकवया गर्भशय्यां गतो वा ।
> यो यस्तत्कर्मसाक्षी चरति मयि रणे यश्च यश्च प्रतीपः
> क्रोधान्धस्तस्य तस्य स्वयमपि जगतामन्तकस्यान्तकोऽहम् ॥

इत्यादौ द्वयोरोजस्त्वम् ॥९॥

> समर्पकत्वं काव्यस्य यत्तु सर्वरसान् प्रति ।
> स प्रसादो गुणो ज्ञेयः सर्वरससाधारणक्रियः ॥१०॥

प्रसादस्तु स्वच्छता शब्दार्थयोः। स च सर्वरससाधारणो गुणः । सर्वरचनासाधारणश्च । व्यङ्ग्यार्थापेक्षयैव मुख्यतया व्यवस्थितो मन्तव्यः॥१०॥

जैसे—

पाण्डवो की सेनाओ मे अपनी भुजाओं पर अत्यधिक मद करने वाला जो जो योद्धा शस्त्र को धारण करता है, पाञ्चाल गोत्र मे जो जो शिशु है या अधिक आयु का है या अभी गर्भ की अवस्था मे पडा है, जो जो व्यक्ति उस कर्म का (द्रोण के वध का) साक्षी है, और जो जो व्यक्ति रणक्षेत्र मे विचरण करते हुये मेरे विरुद्ध रहने वाला है, क्रोध से अन्धा हुआ मैं उसका अन्त करने वाला हूँ, चाहे वह स्वयं ससार का अन्त करने वाला क्यों न हो ।

इन दोनो पद्यो मे ओज गुण की अभिव्यक्ति है ।

पहले उदाहरण मे रौद्र रस के अभिव्यञ्जक शब्द से और दीर्घ समास युक्त रचना से ओज गुण की अभिव्यक्ति हुई है । दूसरे उदाहरण मे यद्यपि वाचक शब्द प्रसाद गुणयुक्त है और दीर्घ समास रचना है, तो भी रौद्र रस के प्रकाशक अर्थ से ओज गुण अभिव्यक्त हुआ है ॥९॥

मधुर और ओज के आश्रय को कहकर अब प्रसाद गुण के आश्रय को कहा जाता है—

हिन्दी अर्थ—काव्य का सब रसो के प्रति जो समर्पकत्व है, अर्थात् जो सब सहृदयो के हृदयों मे तुरन्त व्यापक हो जाता है, जो रसों मे और रचनाओं में साधारण रूप से रहने वाला है, उसको प्रसाद गुण समझना चाहिये ॥१०॥

शब्द और अर्थ की स्वच्छता प्रसाद है । यह प्रसाद गुण सब रसों का साधारण गुण है और सब रचनाओं मे सामान्यरूप से रहता है । यह व्यङ्ग्य अर्थ की अपेक्षा से मुख्य रूप से व्यवस्थित रहता है, ऐसा मानना चाहिये ।

ध्वनिकार ने इस प्रसङ्ग में यह प्रतिपादित किया है कि काव्य मे तीन गुण होते है तथा वे वाच्य-वाचक के उपकार के माध्यम से विभिन्न रसो मे व्यवस्थित होते हैं । उत्तरवर्ती आचार्यों ने ध्वनिकार के इस मत के आधार पर ही अपनी गुण व्यवस्था का प्रासाद खडा किया था । इस सम्बन्ध मे आचार्य मम्मट का दृष्टिकोण जानना उपयोगी होगा ।

मम्मट ने रसा म गुणा की स्थिति इस प्रकार कही है—

> आह्लादकत्व माधुर्य शृङ्गारे द्रुतिकारणम् ।
> करुणे विप्रलम्भ तच्छान्ते चातिशयान्वितम् ॥
> दीप्त्यात्मविस्तृतेर्हेतुरोजो वीररसस्थिति ।
> बीभत्सरौद्ररसयोतस्याधिक्य क्रमेण च ॥
> शुष्केन्धनाग्निवत् स्वच्छजलवत्सहसैव य ।
> व्याप्नोत्यन्यत्प्रसादोऽसौ सर्वत्र विहितस्थिति ॥

का० प्र० ८ ६८-७०॥

मधुर रस आह्लाद उत्पन्न करने वाला है तथा शृङ्गार रस म द्रुति का कारण है। करुण, विप्रलम्भ और शान्त म उसका और भी अतिशय होता है। दीप्ति रूप आत्मा के विस्तार का हेतु ओज गुण है। वह वीर इसम स्थित होता है और बीभत्स एव रौद्र रस म क्रमश उसका और भी आधिक्य रहता है। सूख ईंधन म लकडी के समान और स्वच्छ वस्त्र म जल के समान वह प्रसाद गुण सर्वत्र व्याप्त हो जाता है और उसकी स्थिति सब रसा म होती है। मम्मट के इस वर्णन के अनुसार रसो म गुणो की स्थिति इस प्रकार है—

मधुर—सयोग शृङ्गार विप्रलम्भ शृङ्गार, करुण और शान्त ।

ओज—वीर बीभत्स और रौद्र ।

प्रसाद—सभी रस

इस प्रसङ्ग मे यह ध्यान देन योग्य है कि हास्य, भयानक और अद्भुत रस का उल्लेख नही है। वस्तुत ये अप्रधान रस हैं, इस कारण इनका अन्तर्भाव प्रधान रसो के द्वारा किया जा सकता है। इस सम्बन्ध म अभिनवगुप्त का कथन है—

"हास्यस्य शृङ्गाराङ्गतया माधुर्य प्रकृष्ट विकासधर्मतया चौजोऽपि प्रकृष्टमिति साम्य द्वयो । भयानकस्य भग्नचित्तवृत्तिस्वभावत्वे पि विभावस्य दीप्ततया ओज प्रकृष्ट माधुर्यमल्पम् । बीभत्सेऽप्येवम् । शान्ते तु विभाववैचित्र्यात् कदाचिदोज प्रकृष्ट कदाचिन्माधुर्यमिति विभाग ।"

हास्य रस क शृङ्गार रस का अङ्ग होन के कारण इसम माधुर्य प्रकृष्ट होता है और इसके विकासधर्मी होने क कारण ओज भी प्रकृष्ट होता है। इस प्रकार ये दोनो गुण हास्य म समान रूप से रह सकते हैं। भयानक रस मे चित्तवृत्ति क भग्न हो जाने पर भी विभाव के दीप्त होन क कारण ओज प्रकृष्ट होता है तथा माधुर्य अल्प होता है। बीभत्स रस म भी ऐसा ही है। शान्त रस म विभाव की विचित्रता के कारण कभी ओज प्रकृष्ट होता है तथा कभी माधुर्य प्रकृष्ट होता है। रसा म गुणो की स्थिति का विभाजन इस प्रकार करना चाहिये।

कुछ व्याख्याकारा का मत है कि हास्य मे सदा माधुर्य की प्रधानता होती है और भयानक एव अद्भुत म ओज की।

इस प्रकरण में यह भी ध्यान देने योग्य है कि ध्वनिकार ने मधुर, ओज और प्रसाद न ये तीन गुण प्रतिपादित किये हैं तथा उत्तरवर्ती ध्वनिवादी आचार्यों ने ध्वनिकार के इस मत का समर्थन किया है। परन्तु पूर्ववर्ती तथा पश्चाद्वर्ती अनेक आचार्य गुणों की संख्या इससे बहुत अधिक प्रतिपादित करते हैं। इस सम्बन्ध में वामन का मत सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। वामन ने दस शब्दगुण और दस अर्थगुणों का प्रतिपादन किया है। परन्तु मम्मट ने वामन के दस शब्दगुणों का अन्तर्भाव तीन गुणों मे कर दिया है और अर्थगुणों को स्वीकार ही नही किया। उसके अनुसार वामनोक्त कुछ गुण तो इन गुणों के अन्तर्भूत हो जाते है, कुछ दोष अभाव मात्र है और कुछ दोष रूप हैं—

केचिदन्तर्भवन्त्येषु दोषत्यागात्परे श्रिता ।
अन्ये भजन्तिदोषत्व कुत्रचिन्न ततो दश ॥ का० प्र० ८७२॥

मम्मट ने वामन के दस शब्दगुणों और दस अर्थगुणों के सम्बन्ध में अपना मन्तव्य इस प्रकार प्रतिपादित किया है।

गुणों के नाम	गुणों के लक्षण	अन्तर्भाव
(क) शब्द गुण		
(१) श्लेष	बहूनामपि पदानामेकपदवद्भासमानात्मा (अनेक पदो म एक पद के समान प्रतीत होना रूप)	ओज मे
(२) प्रसाद	ओजोमिश्रितशैथिल्यात्मा (ओज से मिश्रित शिथिलता रूप)	ओज मे
(३) समता	मार्गाभेदरूपा (वैदर्भी आदि रीति म भेद न करने रूप)	यही दोष है
(४) माधुर्य	पृथक्पदत्वरूप (पदा का पृथक पृथक् रखना, उसमे समासो का अभाव)	माधुर्य मे
(५) उदारता	विकटत्वलक्षणा (पदो की विकटता अर्थात् विच्छेद के कारण नृत्यप्रायता)	ओज मे
(६) अर्थव्यक्तिः	झटिति अर्थज्ञानम् (तुरन्त अर्थ का बोध हो जाना)	प्रसाद मे
(७) सुकुमारता	कष्टत्वग्राम्यत्वयोर्दुष्टताभिधानात्तन्निराकरणेनापारुष्यरूपम् (कष्टत्व और ग्राम्यत्व दोषो को बतलाने के कारण उनका निराकरण करके पारुष्य का अभाव)	दोष का अभावमात्र
(८) ओज	बन्धवैकटयम् (रचनाओं में विकट पदो को बाँधना)	ओज मे
(९) कान्ति	औज्ज्वल्यात्मा (उज्ज्वलतारूप होना)	दोष का अभावमात्र
(१०) समाधि	आरोहावरोहक्रमरूप (वाक्य म आरोह और अवरोह के क्रम को बनाये रखन रूप)	ओज म

अर्थगुण		
(१) ओज	ओज पाञ्च प्रकार का है— (१) पदार्थे वाक्यरचनम् (पद के लिये वाक्य की रचना करना) (२) वाक्यार्थे च पदाभिधा (वाक्य के लिये पद की रचना करना) (३) व्यास (संक्षिप्त को विस्तार से कहना) (४) समास (विस्तृत को संक्षेप से कहना) (५) साभिप्रायत्वम् (अभिप्रायगर्भित वचनों को कहना)	विचित्रतामात्र होना अपुष्टार्थत्व दोष का अभावमात्र होना
(२) प्रसाद	अर्थवैमल्यात्मा (अधिक पदत्व का निराकरण करके अर्थ की निमलता)	अधिकपदत्व दोष का अभावमात्र
(३) माधुर्य	उक्तिवैचित्र्यम् (उक्ति की विचित्रतामात्र)	अनवीकृतत्व दोष का अभाव
(४) सुकुमारता	अपारुष्यरूपम् (कठोरता का न होना)	अमङ्गल रूप अश्लील दोष का अभाव
(५) उदारता	अग्राम्यत्व रूपा (ग्राम्यत्व दोष का न होना)	ग्राम्य दोष का अभाव
(६) अर्थव्यक्ति	वस्तुस्वभावस्फुटत्वरूपा (स्वभावोक्ति अलंकार द्वारा वस्तु के स्वभाव का विशद वर्णन)	स्वभावोक्ति अलंकार में
(७) कान्ति	दीप्तरसत्वरूपा (रसध्वनि और गुणीभूतव्यङ्ग्य में रस का प्रतीयमान होना)	रसध्वनि और गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य में
(८) श्लेष	क्रमकौटिल्यानुल्बणत्वोपपत्तियोगरूपघटनात्मा (क्रम के उल्लंघन की अस्फुटता को युक्तिपूर्वक मिला देना)	विचित्रतामात्र
(९) समता	अवैषम्यरूपा (विषमता का न होना)	विषमतारूप दोष का अभाव
	अयोनि अन्यच्छायायोनि इति द्विविध.	
(१०) समाधि	अर्थदृष्टिरूप (अर्थ का दर्शनरूप, जो कि दो प्रकार का है- (१) जो कवि की प्रतिभा से स्वयं उद्भूत हो, प्राचीन कवि द्वारा न कहा गया हो, (२) प्राचीन कवियों के भावों को अन्य प्रकार से कहना)	अर्थदर्शनमात्र

श्रुतिदुष्टादयो दोषा अनित्या ये च दर्शिताः ।
ध्वन्यात्मन्येव शृङ्गारे ते हेया इत्युदाहृताः ॥११॥

अनित्या दोषाश्च ये श्रुतिदुष्टादयः सूचितास्तेऽपि न वाच्येऽर्थमात्रे न च व्यङ्ग्ये शृङ्गारव्यतिरेकिणि, शृङ्गारे वा ध्वनेरनात्मभूते । किन्तर्हि ध्वन्यात्मन्येव शृङ्गारेऽङ्गितया व्यङ्ग्ये ते हेया इत्युदाहृताः । अन्यथा हि तेषामनित्यदोषतैव न स्यात् ॥११॥

इस प्रकार ध्वनिकार ने यह प्रतिपादित किया है कि गुण तीन ही होते हैं तथा ये वाच्य-वाचक के माध्यम से रस का नित्य रूप से उपकार करते हैं। अङ्गीभूत रस से उपकार करते हैं। यह अङ्गीभूत रस के आश्रित धर्म गुण है तथा वाच्य-वाचक के चारुत्व हेतु अलङ्कार हैं ॥१०॥

गुणों और अलङ्कारों का विभेद दिखाकर ध्वनिकार रसादिध्वनि के क्षेत्र में अनित्य दोषों की व्यवस्था देते हैं—

हिन्दी अर्थ—श्रुतिदुष्ट आदि जो अनित्य दोष प्रदर्शित किये गये हैं, ध्वनि की आत्मारूप शृङ्गार में वे दोष त्याज्य कहे गये हैं ॥११॥

जो श्रुतिदुष्ट आदि अनित्य दोष प्राचीन आचार्यों ने सूचित किये हैं, वे न तो अर्थमात्र वाच्य में होते हैं नाहीं शृङ्गार के अतिरिक्त अन्य किसी व्यङ्ग्य में होते हैं, और नाहीं ध्वनि के अनात्मभूत शृङ्गारों में होते हैं किन्तु वे दोष अङ्गीरूप से व्यङ्ग्य होने वाले ध्वन्यात्मक शृङ्गार में ही त्याज्य कहे गये हैं। अन्यथा इनकी अनित्यता ही नहीं होगी।

श्रुतिदुष्ट आदि अनित्य दोष—प्राचीन आचार्यों ने, भामह ने काव्य में चार श्रुतिदुष्ट आदि अनित्य दोष बताये हैं—

श्रुतिदुष्टार्थदुष्टत्वे कल्पनादुष्टमित्यपि ।
श्रुतिकष्टं तथैवाहुर्वाचां दोषं चतुर्विधम् ॥

श्रुतिदुष्ट, अर्थदुष्ट, कल्पनादुष्ट, श्रुतिकष्ट ये चार प्रकार के वाणियों के दोष हैं।

(१) श्रुतिदुष्ट—वामन आदि असभ्य स्मृति को उत्पन्न करने वाले।

अर्थदुष्ट—वाक्यार्थ के बल से अश्लील अर्थ का बोध कराने वाले। जैसे—

छिद्रान्वेषी महास्तब्धो घातायैवोपसर्पति ।"

छिद्र का अन्वेषण करने वाला और महान् स्तब्ध व्यक्ति केवल घात के लिये ही पहुँचता है। यहाँ 'छिद्रान्वेषी' पद से अश्लील अर्थ का बोध होता है।

कल्पनादुष्ट—दो पदों की कल्पना से दुष्ट अर्थ का प्रतीत होना। जैसे—

"रुचिम् कुरु।"

यहाँ दो पदों का पृथक् पृथक् अर्थ दोषरहित है, परन्तु मिलाने पर मध्य में निर्मित 'चिकु' पद काश्मीरी आदि भाषाओं में अश्लील अर्थ का बोधक है।

एवमसंलक्ष्यक्रमद्योत्यो ध्वनेरात्मा प्रदर्शितः सामान्येन ।
तस्याङ्गानां प्रभेदा ये प्रभेदा स्वगताश्च ये ।
तेषामानन्त्यमन्योन्यसम्बन्धपरिकल्पने ॥१२॥

अङ्गितया व्यङ्ग्यो रसादिर्विवक्षितान्यपरवाच्यस्य ध्वनेरेक आत्मा य उक्तस्तस्याङ्गानां वाच्यवाचकानुपातिनामलङ्काराणा निरवधयो ये च स्वगतास्तस्याङ्गिनोऽर्थस्य रसभावतदाभासतत्प्रशमलक्षणा विभावानुभावव्यभिचारिप्रतिपादनसहिता अनन्ताः स्वाश्रयापेक्षया निःसीमानो विशेषास्तेषामन्योन्यसम्बन्धपरिकल्पने क्रियमाणे कस्यचिदन्यतमस्यापि रसस्यप्रकाराः परिसंख्यातुं न शक्यन्ते, किमुत सर्वेषाम् ।

---

(४) श्रुतिदुष्ट—सुनने में कटु कठोर शब्दों का प्रयोग करना । जैसे—
"अधाक्षीत्, अक्षौत्सीत्, तृणेढि आदि ।"

आचार्य का कथन है कि प्राचीन आचार्यों ने श्रुतिदुष्ट आदि चार दोषों में जो अनित्यता प्रतिपादित की है, वह तभी सिद्ध हो सकती है, जबकि हम अङ्गीभूत रस में रसध्वनि और अङ्गभूत रस में रसवद् अलंकार की स्थिति मानें । ये दोष अङ्गीभूत शृङ्गार रसध्वनि में ही दोष है, अन्यत्र दोष नहीं है। इसीलिये इनकी अनित्यता सिद्ध होती है । वाच्य अर्थमात्र में, शृङ्गाररहित व्यङ्ग्य में अर्थात् रौद्र आदि रसध्वनि में अथवा शृङ्गार रसरूप व्यङ्ग्य ध्वन्यात्मक न होने की स्थिति में इस प्रकार का वर्णन दोष नहीं होता । केवल ध्वन्यात्मक शृङ्गार रस के अङ्गीरूप से व्यङ्ग्य होने पर ही ये वर्णन दोष की स्थिति में होते हैं । अतः रसध्वनि और रसवद् अलङ्कार की पृथक् स्थिति स्वीकार करनी चाहिये ।

असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि का सामान्य लक्षण प्रदर्शित करके ध्वनिकार उसके भेदों का निदर्शन करते हैं—

हिन्दी अर्थ—इसप्रकार ध्वनि के भेद असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य का स्वरूप सामान्य रूप से प्रदर्शित कर दिया है ॥११॥

उस असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि के अङ्गों (अलङ्कार आदि) के जो अनेक भेद हैं, तथा उसके स्वगत भेद रस, भाव, रसाभास, भावाभास आदि जो अनेक भेद हैं, उनकी परस्पर सम्बन्ध की कल्पना होने पर उन भेदों की अनन्तता होती है ॥१२॥

विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि का अङ्गी (प्रधान) रूप से व्यङ्ग्य जो रसादिरूप एक आत्मा कहा गया है, उसके अङ्गों, वाच्य-वाचक के कारण होने वाले अलङ्कारों के जो अपरिमित भेद हैं और जो उस अङ्गीरूप रस अर्थ के स्वगत भेद रस, भाव, रसाभास, भावाभास भावप्रशम नाम वाले भेद हैं और जो उनके विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी भावों को प्रतिपादन के सहित अपने अनन्त आश्रयों की अपेक्षा निःसीम भेद हैं, उनके परस्पर सम्बन्ध की कल्पना करने पर किसी एक भी रस के प्रकारों को गिना नहीं जा सकता, सबका तो कहना ही क्या है !

तथाहि शृङ्गारस्याङ्गिनस्तावदाद्यौ द्वौ भेदौ—सम्भोगो विप्रलम्भश्च । सम्भोगस्य च परस्परप्रेमदर्शनसुरतविहरणादिलक्षणाः प्रकाराः । विप्रलम्भस्याप्यभिलाषेर्ष्याविरहप्रवासविप्रलम्भादयः । तेषां च प्रत्येकं विभावानुभावव्यभिचारिभेदाः । तेषां च देशकालाद्याश्रयावस्थाभेद इति स्वगतभेदापेक्षयैकस्य तस्यापरिमेयत्वम् । किं पुनरङ्गप्रभेदकल्पनायाम् । ते ह्यङ्गप्रभेदाः प्रत्येकमङ्गिप्रभेदसम्बन्धपरिकल्पने क्रियमाणे सत्यानन्त्यमेवोपयान्ति ॥१२॥

पहले कहा जा चुका है कि ध्वनि के दो भेद है—अविवक्षितवाच्य और विवक्षितान्यपरवाच्य । इनमें विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि के दो भेद हैं—असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य और संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य । असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य के सामान्य स्वरूप को बताकर ध्वनिकार इसके भेदों का वर्णन कर रहे हैं । इसके भेदों का दो प्रकार से कहा जा सकता है—(१) अङ्गभूत वाच्यवाचकचारुत्वहेतु अलङ्कार के भेदों के अन्योन्य सम्बन्ध द्वारा, जो कि असीमित संख्या में हैं । (२) स्वगत रस के विभिन्न भेदों एवं भाव आदि के विभिन्न भेदों तथा उनके प्रतिपादक विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारी भावों के असंख्य भेदों के परस्पर सम्बन्ध के द्वारा, जिससे कि इस ध्वनि काव्य के भेदों की संख्या असंख्य हो जाती है । इनमें एक रसध्वनि के भेदों की संख्या को गिनना ही असम्भव है, सबको गिना जाने की सम्भावना तो कैसे की जा सकती है ?

हिन्दी अर्थ—जैसे कि—अङ्गीभूत शृङ्गार रस के पहले दो भेद हैं—सम्भोग शृङ्गार और विप्रलम्भ शृङ्गार । सम्भोग शृङ्गार के परस्पर प्रेम से दर्शन, सुरत, विहरण आदि लक्षण वाले अनेक प्रकार हैं । विप्रलम्भ शृङ्गार के भी अभिलाष, ईर्ष्या, विरह, प्रवास, विप्रलम्भ आदि अनेक भेद हैं । उनके भी प्रत्येक विभाव अनुभाव और व्यभिचारी भाव से भेद होते हैं । उनके भी देश, काल आदि के आश्रय के और अवस्था के भेद होते है । इस प्रकार स्वगत भेदों की अपेक्षा से ही उस एक रस को असंख्यता हो जाती हैं । उसके अङ्गों अलङ्कार आदियों के भेदों की पुनः कल्पना करने पर तो इस असंख्यता का तो कहना ही क्या है ? अङ्गों के ये भेद प्रत्येक अङ्गी (रस) के प्रभेदों के साथ सम्बन्ध की कल्पना करने पर अनन्तता को ही प्राप्त होते हैं ।

ध्वनिकार का मन्तव्य है कि रसध्वनि के अङ्गों के भेदों की एवं स्वगत भेदों की कल्पना करने पर इसके अनन्त भेद होते हैं । शृङ्गार रस-ध्वनि के भेदों का कुछ निदर्शन यहाँ किया गया है । शृङ्गार के दो स्वगत भेद हैं सम्भोग और विप्रलम्भ । नायक-नायिका का मिलन सम्भोग शृङ्गार है । आपस में प्रेम से एक दूसरे को देखना सुरत (आलिङ्गन आदि के भेद से सुरत ६४ प्रकार का होता है), उद्यान आदि में विहार करना आदि भेद से यह अनेक प्रकार का हो सकता है) नायक-नायिका का एक दूसरे से वियुक्त होना विप्रलम्भ शृङ्गार है । यह भी अनेक प्रकार का है—अभिलाष विप्रलम्भ=नायक और नायिका में एक दूसरे के प्रति जीवितसर्वस्व रूप रति उत्पन्न

दिङ्मात्रं तूच्यते येन व्युत्पन्नानां सचेतसाम् ।
बुद्धि रासादितालोका सर्वत्रैव भविष्यति ॥१३॥

दिङ्मात्रकथनेन हि व्युत्पन्नानां सहृदयानामेकत्रापि रसभेदे सहालङ्कारैरङ्गाङ्गिभावपरिज्ञानादासादितालोकाबुद्धिःसर्वत्रैव भविष्यति॥१३॥

हो जाने पर भी परिस्थितिवश मिलन न होना। ईर्ष्याविप्रलम्भ-ईर्ष्या आदि के कारण खण्डिता नायिका के प्रणय का खण्डित होना। विरहविप्रलम्भ = खण्डिता नायिका को प्रसन्न करने का उद्योग करने पर भी उसका प्रसन्न न होकर पश्चात्ताप मे पडे रहना। प्रवासविप्रलम्भ = प्रियतम के परदेस चले जाने पर नायक नायिका का वियोग होना। आदि के यहाँ शापहेतुक विप्रलम्भ ग्रहण होता है, शाप के कारण नायक-नायिका का सयोग न होना। मम्मट ने विप्रलम्भ के ५ निश्चित भेदो—अभिलाप, विरह, ईर्ष्या, प्रवास और शापहेतुक की गणना की है। अभिनवगुप्त ने विप्रलम्भ मे वञ्चना को भी हेतु माना है। क्योकि वञ्चना मे अभिलषित विषय प्राप्त नही होता। तदनन्तर इनम से प्रत्येक की अपने विभिन्न कारण रूप विभावो के भेद से, कार्यरूप अनेक अनुभावो क भेद से तथा ३३ व्यभिचारी भावो के भेद से अनेकता होती है। तदनन्तर इनके वन, पर्वत, नगर उद्यान, नदी, आदि स्थानो के भेद से, समय-दिन, रात्रि, प्रात साय, मध्यान्ह, विभिन्न ऋतु आदि के आश्रय के एव अवस्था के भेद से असख्येयता होती है। उन भेदो मे से प्रत्येक के साथ अङ्गभूत अलकारो का भी अन्योन्य सम्बन्ध स्थापित कर लिया जावे तो एक शृङ्गार रसध्वनि के ही इतने भेद हो जाते है, जिनको गिना नही जा सकता। सभी के भेदो की गणना करना तो असम्भव ही है। अत शृङ्गार रसध्वनि का उदाहरण देकर आचार्य ने दिशामात्र प्रदर्शित कर दी है ॥१२॥

हिन्दी अर्थ—यहाँ दिशामात्र को ही कह दिया गया है, जिससे व्युत्पन्न सहृदयों की बुद्धि सब स्थानो पर प्रकाश को प्राप्त करने वाली होगी ॥१३॥

इस दिशामात्र का कथन करने से व्युत्पन्न सहृदयों की बुद्धि रस के एक ही भेद मे अलङ्कारों के साथ अङ्गाङ्गिभाव के ज्ञान को प्राप्त करने से सब स्थानों पर प्रकाश को प्राप्त करने वाली होगी।

अभिप्राय यह है कि रसादि ध्वनि के सभी भेदो को कहना असम्भव है। दिशानिर्देश के लिये कुछ भेद कह दिये है। इससे बुद्धिमान् सहृदय जन इसके सम्पूर्ण स्वरूप और भेदो की कल्पना स्वय कर सकते हैं।

तत्र—

शृङ्गारस्याङ्गिनो यत्नादेकरूपानुबन्धवान् ।
सर्वेष्वेव प्रभेदेषु नानुप्रासः प्रकाशकः ॥१४॥

अङ्गिनो हि शृङ्गारस्य ये उक्ताः प्रभेदास्तेषु सर्वेष्वेकप्रकारानुबन्धितया प्रवृत्तोऽनुप्रासो न व्यञ्जक । अङ्गिन इत्यनेनाङ्गभूतस्य शृङ्गारस्यैकरूपानुबन्ध्यनुप्रासनिबन्धने कामचारमाह ॥१४॥

असलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य ध्वनि के भेदो के दिग्मात्र का कथन करके ध्वनिकार शृङ्गार रस म अनुप्रास अलकार के निबन्धन के औचित्य के सम्बन्ध मे कहते हैं—

हिन्दी अर्थ—उस असलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि मे—

अङ्गीभूत (प्रधानभूत) शृङ्गार रस के सभी प्रभेदो मे प्रयत्नपूर्वक एक ही प्रकार से निरन्तर निबद्ध होता हुआ अनुप्रास अलङ्कार रस का अभिव्यञ्जक नहीं होता ॥१४॥

प्रधानभूत शृङ्गार रस के जो प्रभेद कहे गये हैं, उन सब भेदों मे एक ही प्रकार से निरन्तर निबद्ध होने पर अनुप्रास अलङ्कार उसका व्यञ्जक नहीं होता। यहाँ 'अङ्गिन' (प्रधानभूत का) कहने का अभिप्राय यह है कि जब शृगार रस अगभूत होता है (गुणीभूत या रसवद् अलकार), उस अवस्था मे एक रूप से निरन्तर अनुप्रास का निबन्धन करने मे कवि की अपनी इच्छा है।

अनुप्रास वाचकालङ्कार है तथा यह वाचक के द्वारा विद्यमान रस को अलकृत करता है। यह ठीक है कि कोमल माधुर्याभिव्यञ्जक वर्णों का अनुप्रास शृगार रस को अलकृत करता है, परन्तु यदि निरन्तर रूप से अनुप्रास का प्रयत्नपूर्वक निबद्ध किया जाये, तो वह उबाने वाला होकर रसभग का कारण हो सकता है।

यत्नात्—कारिका मे 'यत्नात्' पद का प्रयोग इसलिये किया गया है कि अनुप्रास की योजना प्रयत्नपूर्वक नहीं होनी चाहिये। यदि सहज रूप से अनुप्रास का समायोजन हो जाता है तो उसमें दोष नहीं है।

एकरूपानुबन्धवान्—इस पद का अभिप्राय है कि अनुप्रास निरन्तर एक समान नहीं होना चाहिए। यदि अनुप्रास को सुन्दर रूप मे विभिन्न रूपों मे नियोजित किया जावे, तो इसमे दोष नहीं होगा और यह शृङ्गार रस को अलङ्कृत करेगा।

अङ्गिन—रसादि की प्रतीति प्रधान होने पर भी अनुप्रास का यह निबन्धन दोषयुक्त होगा। रसादि के अङ्ग होने पर यह दोषयुक्त नहीं होगा ॥१४॥

शृङ्गार रस म अनुप्रास के निबन्धन को नियन्त्रित करके यमक आदि शब्दालङ्कारों को नियन्त्रित करते हैं—

ध्वन्यात्मभूते शृङ्गारे यमकादिनिबन्धनम् ।
शक्तावपि प्रमादित्वं विप्रलम्भे विशेषतः ॥१५॥

ध्वनेरात्मभूतः शृङ्गारस्तात्पर्येण वाच्यवाचकाभ्यां प्रकाश्यमानस्तस्मिन् यमकादीनां यमकप्रकाराणां निबन्धनं दुष्करशब्दभङ्गश्लेषादीनां शक्तावपि प्रमादित्वम् ।

प्रमादित्वमित्यनेन एतद्दर्श्यते काकतालीयेन कदाचित् कस्यचिदेकस्य यमकादेर्निष्पत्तावपि भूम्नाऽलङ्कारान्तरवद् रसाङ्गत्वेन निबन्धो न कर्तव्य इति । विप्रलम्भे विशेषत इत्यनेन विप्रलम्भे सौकुमार्यातिशयः ख्याप्यते । तस्मिन् द्योत्ये यमकादेरङ्गस्य निबन्धो नियमान्न कर्तव्य इति ॥१५॥

हिन्दी अर्थ—ध्वनि के आत्माभूत शृङ्गार रस मे, और विशेष रूप से विप्रलम्भ शृङ्गार मे यमक आदि अलंकारो का निबन्धन करना सामर्थ्य होने पर भी कवि के प्रमाद का सूचक है ॥१५॥

ध्वनि के आत्मभूत शृङ्गार रस मे, जो कि तात्पर्य रूप से शब्द और अर्थ के द्वारा प्रकाशित किया जा रहा है, यमक आदि अलंकारो का और यमक के प्रकार के कठिन शब्दश्लेष, सभङ्गश्लेष आदि अलङ्कारो का निबन्धन करना सामर्थ्य होने पर भी कवि का प्रमादित्व सूचक है ।

प्रमादित्व पद से यह सूचित होता है कि यदि कभी काकतालीय न्याय से किसी एक यमक आदि की रचना हो भी जावे, तो भी दूसरे अलङ्कारो के समान इस अलङ्कार की रचना रस के अङ्ग के रूप मे बाहुल्य से नहीं करनी चाहिये । 'विप्रलम्भे विशेषत.' इन पदो से यह व्यक्त होता है कि विप्रलम्भ शृङ्गार मे अतिशय सुकुमारता होती है । विप्रलम्भ शृङ्गार के द्योतित होने पर यमक आदि अलङ्कारो का निबन्धन रस के अङ्ग के रूप मे नियमत नहीं करना चाहिये ।

ध्वनिकार के कथन का अभिप्राय यह है कि शृङ्गार रस और विशेषत. विप्रलम्भ शृङ्गार रस अति सुकुमार होता है । उसमे यमक आदि अलङ्कारो को प्रयत्नपूर्वक नियोजित करने से उनमे कठोरता आ सकती है । अत इस विषय मे कवि को प्रमाद करना उचित नही ।

कारिका मे 'यमकादि' पद के आदि से अभिप्राय है कि यमक के प्रकार से अन्य अलङ्कारो का भी निबन्धन नहीं होना चाहिये । आदि शब्द के चार अर्थ होते हैं—

आदिशब्दं तु मेधावी चतुर्ष्वर्थेषु भाषते ।
प्रकारे च व्यवस्थायां सामीप्येऽवयवे तथा ॥

यहाँ आदि शब्द का प्रयोग सादृश्य के अर्थ मे है । यमक के सदृश दुष्कर शब्दालङ्कारो का निबन्धन नहीं ही होना चाहिए ।

दुष्करशब्दभङ्गश्लेषादीनाम—दुष्कर से अभिप्राय मुरजबन्ध, चक्रबन्ध आदि अलङ्कार हैं। शब्दभङ्गश्लेष से अभिप्राय है कि अर्थश्लेष का निबन्धन दोषावह नहीं है। शब्दश्लेष भी यदि क्लिष्ट हो तो दोष उत्पन्न करता है। यदि वह सरल है तो दोषावह नहीं है।

इस प्रकरण में शृङ्गार रस में कुछ अलंकारों के निबन्धन को नियमित किया गया है, अतः संक्षेप में उन अलंकारों के स्वरूप का समझना उपयोगी होगा।

(१) यमक अलङ्कार—

सत्यर्थे पृथगर्थाया स्वरव्यञ्जन संहतेः।
क्रमेण तेनैवावृत्ति यमकं विनिगद्यते॥ मा० द० १०८॥

सार्थक होने पर भिन्न भिन्न अर्थ वाले स्वर और व्यञ्जनों के समुदाय की यदि उसी क्रम से आवृत्ति हो तो यह यमक अलंकार होता है। यथा—

नवपलाशपलाशवनं पुरः स्फुटपरागपरागतपङ्कजम्।
मृदुलतान्तलतान्तमलोकयत् स सुरभिं सुरभिं सुमनोभरैः॥

यहाँ पलाश पलाश पराग पराग लतान्त लतान्त और सुरभिम् सुरभिम् की आवृत्ति होने से यमक अलंकार है।

(२) पद्मबन्ध—

कुछ अलंकार चित्र कहलाते हैं जिनमें पद्मबन्ध खड्गबन्ध मुरजबन्ध, चक्रबन्ध, गोमूत्रिका सर्वतोभद्र आदि आकृतियाँ प्रयत्नपूर्वक बनाई जाती हैं। इनमें दिङ्मात्र निदर्शन के लिये पद्मबन्ध का लक्षण किया जाता है—

वर्णिका च न्यसेदेकं द्विशः विदिशु च।
प्रवेश भी दिशु प्रयात्पद्मम्बुज॥ सरस्वतीकण्ठाभरण॥

अष्टदल पद्मबन्ध में एक वर्ण कर्णिका (बीजकोष) में रखे और दिशा तथा विदिशाओं में दो दो वर्ण रखे। दिशा विदिशाओं में रखे वर्णों का अनुलोम प्रतिलोम पाठ होना चाहिये। यथा—भासते प्रतिभासार रसाभाताहताविभा।
भाविताऽऽत्मा शुभा वादे देवाभावाहते सभा॥

(३) शब्दसभङ्ग श्लेष—

श्लेष अलङ्कार दो प्रकार का होता है—शब्दश्लेष और अर्थश्लेप। ध्वनिकार ने शृङ्गार रस की योजना म शब्दश्लेष के निबन्धन का निषेध किया है इसका लक्षण इस प्रकार है—

वाच्यभेदेन भिन्ना यद् युगपद् भाषणस्पृश ।
श्लिष्यन्ति शब्दा श्लेषोऽसावक्षरादिभिरष्टधा ॥ का० प्र० ६ ८४ ॥

अर्थ के भेद के कारण भिन्न भिन्न होते हुये भी शब्द जहाँ एक ही भाषण के विषय होकर विलिष्ट हो जाते हैं, वह श्लेप अलङ्कार है। अक्षर आदि के भेद से वह आठ प्रकार का है।

शब्दश्लेप को आचार्यों ने पुन तीन भागो मे विभक्त किया है—
पुनस्त्रिधा भङ्गोऽथाभङ्गस्तदुभयात्मक ॥ सा० द० १०.१२॥

वह पुन सभङ्ग, अभङ्ग एव उभयात्मक रूप से तीन प्रकार का है। जहाँ पदो को तोड़कर दोनो पक्षो का अलग अलग अन्वय बनाया जावे, वहाँ सभङ्गश्लेप होता है जहाँ पदो को तोडे विना ही अन्वय बनाया जावे, वहाँ अभङ्गश्लेष है उभयात्मक स्थिति होने पर उभयात्मक श्लेप होता है।

यथा—

येन ध्वस्तमनोभवेन बलिजित्काय पुरा स्त्रीकृतो
यश्चोद्वृत्तभुजङ्गहारवलयो गङ्गा च योऽधारयत् ।
यस्याहु शशिमच्छिरोहर इति स्तुत्य च नामामरा
पायात्स स्वयमन्धकक्षयकरस्त्वा सर्वदोमाधव ॥

इस पद्य को विश्वनाथ ने सभङ्ग, अभङ्ग एव उभयात्मक श्लेप के उदाहरण के रूप मे प्रस्तुत किया है। इस पद्य म एक ही उच्चारण मे विष्णु और शिव की स्तुति की गई है।

विष्णु पक्ष मे—स सर्वद माधव (मा) पायात्, येन अभवेन अन ध्वस्तम्, पुरा बलिजित्काय स्त्रीकृत, य च उद्वृत्तभुजङ्गहा, रलय, य अग गा च आधारयत्, यस्य च शशिमच्छिरोहर इति स्तुत्य नाम अमरा आहु, स्वयम् अन्धकक्षयहर ।

सब कुछ देने वाले वे लक्ष्मीपति विष्णु तुम्हारी रक्षा करें, जन्म न लेने वाले जिसने शकटासुर का विनाश किया था, जिसने पहले समुद्रमन्थन के समय बलि को जीतने वाले शरीर को स्त्री रूप (मोहिनी रूप) म परिवर्तित कर लिया था, जिसने कृष्ण रूप मे उच्छृंखल कालिय नाग का दमन किया था, जो श्रुतियों के शब्दों का रहस्य है, जिसने कृष्ण रूप मे गोवर्धन पर्वत को और कच्छप रूप मे पृथिवी को धारण किया था, जिसके चन्द्रमा के नायक राहु के शिर को काटने वाले स्तुत्य नाम का उच्चारण देवता करते है, और जिसने स्वय यादवों (अन्धकों) के निवास या विनाश का सम्पादन किया था।

रसाङ्गत्वे च तस्य लक्षणमपृथग्यत्ननिर्वर्त्यमिति । यो रसं बन्धुमध्यवसितस्य कवेरलङ्कारस्तां वासनामत्यूह्य यत्नान्तरमास्थितस्य निष्पद्यते स न रसाङ्गमिति । यमके च प्रबन्धेन बुद्धिपूर्वकं क्रियमाणे नियमेनैव यत्नान्तरपरिग्रह आपतति शब्दविशेषान्वेषणरूप ।

अलङ्कारान्तरेष्वपि तत्तुल्यमिति चेत् नैवम् । अलङ्कारान्तराणि हि निरूप्यमाणदुर्घटनान्यपि रससमाहितचेतसः प्रतिभावतः कवेरहम्पूर्विकया परापतन्ति । यथा कादम्बर्यां कादम्बरीदर्शनावसरे । यथा च मायारामशिरोदर्शनेन विह्वलाया सीतादेव्या सेतौ ।

नियोजन के लिये यदि कवि पृथक् से प्रयत्न करता है, तो वह उचित नहीं है । इससे रस के आस्वादन मे विघ्न उपस्थित होता है ।

हिन्दी अर्थ—अलङ्कार के रस के अङ्ग होने में उसका लक्षण है—बिना किसी पृथक् यत्न के निष्पन्न होना (अपृथग्यत्ननिर्वर्त्यत्व) । रस का निष्पादन करने का उद्योग करने वाले कवि की उस रसनिष्पादन की वासना का अतिक्रमण करके जो अलङ्कार दूसरे अतिरिक्त प्रयत्न करने पर निष्पन्न होता है, वह अलङ्कार रस का अङ्ग नहीं है । यमक अलङ्कार की रचना निरन्तर यत्नपूर्वक बुद्धि का प्रयोग करके नियम से की जाती है अतः उसके लिये शब्द विशेष की खोज रूप दूसरा अतिरिक्त प्रयत्न अवश्य करना पड़ता है ।

युक्तं चैतत्, यतो रसा वाच्यविशेषैरेवाक्षेप्तव्याः तत्प्रतिपादकैश्च शब्दैः। तत्प्रकाशिनो वाच्यविशेषा एव रूपकादयोऽलङ्काराः। तस्मान्न तेषां बहिरङ्गत्वं रसाभिव्यक्तौ। यमकदुष्करमार्गेषु तु तत् स्थितमेव।

यत्तु रसवन्ति कानिचिद् यमकादीनि दृश्यन्ते, तत्र रसादीनामङ्गता, यमकादीनां त्वङ्गितैव। रसाभासे चाङ्गत्वमप्यविरुद्धम्। अङ्गितया तु व्यङ्ग्ये रसे नाङ्गत्वं पृथक्प्रयत्ननिर्वर्त्याद् यमकादेः।

प्रतिपक्षी यह आशङ्का कर सकते हैं कि जिस प्रकार यमक आदि अलङ्कार यत्नान्तरसाध्य हैं, इस प्रकार अन्य अलङ्कार भी यत्नान्तरसाध्य हो सकते हैं। इसलिये रसध्वनि मे अलङ्कारों का निवेशन रसचर्वणा में विघ्न करने वाला हो जायगा। इसका उत्तर ध्वनिकार देते हैं कि यह ठीक है कि काव्य को पढ़कर उसमें नियोजित अलङ्कारों की रचना ऐसी प्रतीत होती है कि उसका लिखना बहुत कठिन है। परन्तु जो कवि रस के प्रति समाहित मन वाले हैं तथा प्रतिभाशाली हैं, जब वे काव्यों में इसकी योजना करते हैं तो अलङ्कार बिना किसी प्रयत्न के उनकी रचनाओं में निहित हो जाते हैं। उन अलङ्कारों के नियोजन के लिये वे अलग से प्रयत्न नहीं करते। इसके उदाहरण के रूप में ध्वनिकार ने 'कादम्बरी' काव्य के कादम्बरी के दर्शन के प्रसङ्ग को और 'सेतुबन्ध' के उस प्रसङ्ग को जबकि राम के नकली सिर को देखकर सीता विह्वल हो गई है, उद्धृत किया है। वे पुनः युक्ति देते हैं—

हिन्दी अर्थ—और यह ठीक ही है, रसों की व्यञ्जना क्योंकि वाच्यविशेषों से और वाच्यविशेष को प्रतिपादित करने वाले शब्दों से ही होती है। उन वाच्यविशेषों को प्रकाशित करने वाले रूपक आदि अलङ्कार वाच्यविशेष ही हैं। इस कारण से रस की अभिव्यक्ति में ये रूपक आदि अलङ्कार बहिरंग नहीं हैं। यमक आदि अलङ्कारों के सदृश दुष्कर (यत्नान्तसाध्य) मार्ग में वह बाहिरङ्गता होती ही है।

रसों की अभिव्यञ्जना वाच्यविशेष से तथा वाच्य अर्थ के प्रतिपादक शब्दों से होती है। इस प्रकार रस की अभिव्यञ्जना के प्रधान हेतु वाच्य अर्थ है। रूपक आदि अलङ्कार भी वाच्य अर्थ को प्रकाशित करते हैं, अतः वे भी वाच्यविशेष हैं। इस प्रकार वे रस के उपकारक होने से बहिरंग नहीं होंगे। यमक आदि अलङ्कारों में यह स्थिति नहीं है, अतः वे रस के लिये बहिरंग होंगे।

प्रश्न पुनः उपस्थित होता है कि अनेक रसनिष्ठ काव्यों में भी यमक आदि अलङ्कार दृष्टिगोचर होते हैं, उनमें अलङ्कारों की स्थिति को क्या कहा जावे? इसका उत्तर है—

हिन्दी अर्थ—और जो कुछ यमक आदि अलङ्कार रससहित भी देखे जाते हैं, परन्तु वहाँ रस आदि प्रधान नहीं होते अपितु यमक आदि के अङ्गरूप में रहते हैं, वहाँ यमक आदि की ही अङ्गिता (प्रधानता) होती है। रस भास में यमक आदि को अङ्ग मानने में भी कोई विरुद्धता नहीं है। परन्तु जहाँ रस अङ्गी रूप से (प्रधान रूप से) व्यञ्जित हो रहा हो, वहाँ यमक आदि अलङ्कार पृथक् प्रयत्नों से सम्पादित होने के कारण उस रस के अङ्ग नहीं हो सकते।

अस्यैवार्थस्य संग्रहश्लोका—

रसवन्ति हि वस्तूनि सालङ्काराणि कानिचित् ।
एकेनैव प्रयत्नेन निर्वर्त्यन्ते महाकवे ॥
यमकादिनिबन्धे तु पृथग्यत्नोऽस्य जायते ।
शक्तस्यापि रसेऽङ्गत्वं तस्मादेषां न विद्यते ॥
रसाभासाङ्गभावस्तु यमकादेर्न वार्यते ।
ध्वन्यात्मभूते शृङ्गारे त्वङ्गता नोपपद्यते ॥१६॥

इदानीं ध्वन्यात्मभूतस्य शृङ्गारस्य व्यञ्जकोऽलङ्कारवर्ग आख्यायते—

ध्वन्यात्मभूते शृङ्गारे समीक्ष्य विनिवेशितः ।
रूपकादिरलङ्कारवर्ग एति यथार्थताम् ॥१७॥

जिन स्थानों पर यमक आदि अलङ्कारों की रचना है, उनमें भी रस की निष्पत्ति देखी जा सकती है। परन्तु वहाँ रस प्रधान न होने से रसध्वनि नहीं होती, परन्तु यमक आदि अलङ्कारों की प्रधानता होती है। काव्यशास्त्री ऐसे काव्य को चित्र-काव्य कहते हैं, क्योंकि कवि का प्रधान उद्देश्य रस की अभिव्यञ्जना नहीं है, अपितु यमक आदि अलङ्कारों की रचना के कौशल को प्रदर्शित करना है। रसाभाव ध्वनि में ध्वनिकार ने कवि को यह स्वतन्त्रता दी है कि वह अङ्ग के रूप में यमक आदि अलङ्कारों का निवेशन कर सकता है। परन्तु रसध्वनि आदि अलङ्कार यत्नान्तरसाध्य होने के कारण अङ्ग रूप में नियोजित नहीं हो सकते।

यमक आदि अलङ्कारों के विषय में ध्वनिकार ने गद्य में जो कुछ कहा है, उसी की पुष्टि के लिये संक्षेप से उसने श्लोकों की रचना की है—

हिन्दी अर्थ—इसी अर्थ को प्रतिपादित करने वाले संग्रह श्लोक हैं—

रस से युक्त वस्तुयें (काव्य), जो कुछ अलङ्कारों से युक्त होती हैं, वे महाकवि के एक ही प्रयत्न द्वारा सम्पादित की जाती हैं। इस काव्य में यमक आदि अलङ्कारों के नियन्धन में कवि को समर्थ होते हुये भी पृथक् प्रयत्न करना पड़ता है, अतः ये अलङ्कार रसध्वनि के अङ्ग नहीं बनते। रसाभास ध्वनि में यमक आदि को अङ्गरूप से निष्पादित करने का निषेध नहीं है। परन्तु ध्वनि के आत्मभूत शृङ्गार रस में इन यमक आदि अलङ्कारों का अङ्गत्व उचित नहीं है ॥१६॥

शृङ्गार आदि रसों के नियोजन में यमक आदि अलङ्कारों का निषेध करके इनमें उपादेय अलङ्कारों का वर्णन किया जाता है—

हिन्दी अर्थ—अब ध्वनि के आत्मभूत शृङ्गार रस का व्यञ्जक अलङ्कार वर्ग कहा जाता है—

ध्वनि के आत्मभूत शृङ्गाररस में समीक्षा करके (सोच समझकर उचित रूप से निवेशित किया गया रूपक आदि अलङ्कारों का समूह यथार्थता को प्राप्त करता है (वास्तव का हेतु होता है) ॥१७॥

अलङ्कारो हि बाह्यालङ्कारसाम्यादङ्गिनश्चारुत्वहेतुरुच्यते। वाच्यालङ्कारवर्गश्च रूपकादिर्यावानुक्तो, वक्ष्यते च कैश्चिद्, अलङ्काराणामनन्तत्वात्, स सर्वोऽपि यदि समीक्ष्य विनिवेश्यते तदलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यस्य ध्वनेरङ्गिनः सर्वस्यैव चारुत्वहेतुर्निष्पद्यते ॥१७॥

एषा चास्य विनिवेशने समीक्षा—

विवक्षा तत्परत्वेन नाङ्गित्वेन कदाचन।
काले च ग्रहणत्यागौ नातिनिर्वहणैषिता ॥१८॥
निर्व्यूढावपि चाङ्गत्वे यत्नेन प्रत्यवेक्षणम्।
रूपकादिरलङ्कारवर्गस्याङ्गत्वसाधनम् ॥१९॥

बाह्य कुण्डल आदि अलङ्कारों के समान होने से काव्य का अलङ्कार अङ्गी रस का चारुत्व हेतु कहा जाता है। वाच्य अलङ्कारों का सम्पूर्ण समूह, जितना कि प्राचीन आचार्यों ने रूपक आदि के रूप में वर्णन किया है, और जो आगे किन्हीं आचार्यों द्वारा वर्णन किया जायेगा, क्योंकि अलङ्कार अनन्त हैं, उस सबको यदि समीक्षा करके विनिवेशित किया जावे तो वह सब प्रधानभूत सम्पूर्ण अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि का चारुत्वहेतु निष्पन्न होता है ॥१७॥

भाव यह है कि रूपक आदि वाच्य अलङ्कार रसध्वनि के सौन्दर्य के हेतु होते हैं। ये अलङ्कार प्राचीन भामह आदि आचार्यों द्वारा चारुत्वहेतु कहे गये है, अत रस के भी चारुत्वहेतु हो सकते है। वाच्य अलङ्कार अनन्त है। कुछ रूपक आदि अलङ्कारो का वर्णन भामह आदि आचार्य कर चुके हैं, और कुछ का वर्णन भविष्य मे अन्य आचार्य करेंगे। ये सभी अलङ्कार रस के अङ्गरूप मे रह सकते हैं। परन्तु ये रस के चारुत्वहेतु तभी होंगे, जबकि इनका विनिवेशन समीक्षा करके उचित रूप में किया जावे।

समीक्षा—ध्वनिकार ने वाच्यालङ्कारो को रस का चारुत्वहेतु उसी अवस्था मे स्वीकार किया है, जबकि उसका निवेशन समीक्षा करके किया जावे। समीक्षा करने का अभिप्राय यह है कि उनको उचित रूप से निवेशित किया जावे। समीक्षा की व्याख्या ध्वनिकार ने अगली दो कारिकाओं म की है ॥१७॥

हिन्दी अर्थ—इस रूपकादि वर्ग के विनिवेशन मे समीक्षा यह है—

रूपकादि की विवक्षा उस रस के परत्व से ही होनी चाहिये, अङ्गीरूप मे कभी नहीं होनी चाहिये। समय पर उसका ग्रहण करना चाहिये और समय पर उसका त्याग कर देना चाहिये। उसके निर्वहण की अत्यधिक दूर तक इच्छा नहीं होनी चाहिये। अलङ्कार का निर्वाह हो जाने पर भी यत्नपूर्वक यह देखना चाहिये कि वह अङ्गरूप मे रहे। इस प्रकार रूपक आदि अलङ्कारो के अङ्गत्व का साधन होता है ॥१८, १९॥

रसबन्धेष्वादृतमना कविर्यमलङ्कार तदङ्गतया विवक्षति। यथा—

चलापाङ्गा दृष्टि स्पृशसि बहुशो वेपथुमतीं
रहस्याख्यायीव स्वनसि मृदु कर्णान्तिकचर ।
करौ व्याधुन्वन्त्या पिबसि रतिसर्वस्वमधरं
वय तत्त्वान्वेषान्मधुकर हतास्त्व खलु कृती ॥

अत्र हि भ्रमरस्वभावोक्तिरलङ्कारो रसानुगुण ।

रसध्वनि म रूपक आदि अलङ्कारा के निवेशन की समीक्षा छ प्रकार से की जाती है—

(१) रूपक आदि अलङ्कारो का जो कथन किया जाय, वह सदा रस के निमित्त से उसके अङ्ग रूप ही करना चाहिये।

(२) रूपक आदि अलङ्कारा का निवेशन अङ्गी रूप म कभी नही करना चाहिये।

(३) इन अलङ्कारा के अङ्ग रूप म विवक्षित होन पर भी अवसर के अनुसार ही इनका ग्रहण करना चाहिये।

(४) अवसर के अनुरूप इनका त्याग भी कर देना चाहिये।

(५) रस के निर्वाह म दत्तचित्त होना हुआ कवि उस अलङ्कार का बहुत दूर तक निर्वाह करने की इच्छा न करे।

(६) अलङ्कारो का निर्वाह हो जाने पर भी कवि को इस बात के लिये सदा सावधान रहना चाहिये कि वे अङ्ग रूप म ही रह।

अलङ्कारा के विनिवेशन की समीक्षा करके अब आचाय समीक्षा के प्रत्येक अङ्ग के उदाहरण प्रस्तुत करेंगे। छ अङ्गो के छ उदाहरण हैं। प्रत्यक उदाहरण से पूर्व के पद— यमलङ्कार तदङ्गतया विवक्षति', 'नाङ्गित्वेनति न प्राधान्येन', "यमवसरे गृह्णाति नानवसरे, 'गृहीतमपि यमवसरे त्यजति, 'य च नात्यन्त निर्वोढुमिच्छति' और 'य यत्नादङ्गत्वेन प्रत्यवेक्षत" अगले पद—'स एवमुपनिबध्यमानोऽलङ्कारो रसाभिव्यक्तिहेतु कवेर्भवति' से मिलकर एक लम्बे महावाक्य को बनाते हैं। प्रथम पद की सङ्गति अन्तिम पद स लगती है तथा मध्य म उदाहरण दिये गये हैं।

(१) रस के नियोजन मे आदर से युक्त मन वाला कवि जिस अलङ्कार को उस रस के अङ्ग रूप से कहना चाहता है उसका उदाहरण। जैसे—

हे मधुकर! तुम इस शकुन्तला की कापती हुई चञ्चल कटाक्षों वाली दृष्टि का बहुत अधिक स्पश कर रहे हो, रहस्य को निवेदन करने वाले के समान कान के समीप विचरण करते हुये कोमलता से गुनगुनाते हो, हाथों को इधर उधर झटकती हुई इस शकुन्तला के प्रेम के सर्वस्व अधर का पान करते हो। हम तो तत्त्व को (यथार्थ बात को कि यह शकुन्तला क्षत्रिय से विवाह के योग्य है या नहीं) खोजने में ही मारे गये हैं। तुम वस्तुत सौभाग्यशाली हो।

यहाँ भ्रमर के स्वभाव का वर्णन करने रूप स्वभावोक्ति अलङ्कार रस के अनुगुण हैं।

नाङ्गित्वेनेति न प्राधान्येन। कदाचिद् रसादितात्पर्येण विवक्षितोऽपि ह्यलङ्कारः कश्चिदङ्गत्वेन विवक्षितो दृश्यते। यथा—

चक्राभिघातप्रसभाज्ञयैव चकार यो राहुवधूजनस्य।
आलिङ्गनोद्दामविलासवन्ध्यं रतोत्सवं चुम्बनमात्रशेषम्॥

अत्र हि पर्यायोक्तस्याङ्गित्वेन विवक्षा रसादितात्पर्ये सत्यपीति।

यह श्लोक कण्व के तपोवन म वाटिका के सिञ्चन मे लगी हुई शकुन्तला को छिपकर देखने वाले दुष्यन्त द्वारा कहा गया है, जबकि शकुन्तला के ऊपर एक भंवरा मडरा रहा है।

इस पद्य से कवि मे दुष्यन्त की शकुन्तला के प्रति रति को व्यक्त किया है कि वह शकुन्तला के नेत्र प्रान्तों का स्पर्श करना चाहता है, वह उससे प्रेम निवेदन करना चाहता है और उसके अधर का पान करना चाहता है। इसमें भ्रमर के स्वाभाविक कार्य का वर्णन करने से स्वभावोक्ति अलङ्कार भी है। यह स्वाभावोक्ति अलङ्कार शृङ्गार का उपकारक होकर उसके अङ्ग रूप मे स्थित है।

(२) हिन्दी अर्थ—'नाङ्गित्वेन' पद का अर्थ है कि अलङ्कार का नियोजन प्रधान रूप से नहीं करना चाहिये। कभी कोई अलङ्कार रस आदि के तात्पर्य से विवक्षित होता हुआ भी अङ्गी रूप से विवक्षित देखा जाता है। जैसे—

हिन्दी अर्थ—विष्णु ने चक्र के प्रहार रूप अपनी प्रसभ आज्ञा से ही राहु की पत्नियों के सुरत के उत्सव को आलिङ्गनो के उद्दाम विलास से रहित तथा चुम्बन-मात्रावशिष्ट कर दिया।

यहाँ रसादि के तात्पर्य होने पर भी पर्यायोक्त अलङ्कार की अङ्गी रूप से विवक्षा है।

इस श्लोक मे समुद्रमन्थन के समय की उस घटना का वर्णन है, जबकि राहु नामक दैत्य ने देवताओं का सा रूप बनाकर और देवताओं की पंक्ति मे बैठकर मोहिनी रूप धारी विष्णु के हाथ से अमृत का पान कर लिया था। राहु के दैत्यत्व को जानकर विष्णु ने तुरन्त ही उसका सिर चक्र से काट दिया। अमृत का पान कर लेने से दो टुकडो म विभक्त होने पर भी वह मरा नहीं। उसका सिर राहु तथा धड़ केतु के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

इस पद मे विष्णु द्वारा चक्र-प्रहार से राहु की पत्नियो के लिये पति के आलिङ्गन का निषेध करने से और रतोत्सव चुम्बनमात्र रह जाने से उसके सिर का कट जाना व्यक्त होता है। इस प्रकार राहु के सिर के कटने को प्रकारान्तर से कहने से यहाँ पर्यायोक्त अलङ्कार है।

यद्यपि यहाँ विष्णु के पराक्रम के अतिशय का वर्णन करने मे वीर रस व्यक्त हुआ है तथा यहाँ अर्थ यहाँ प्रधान है, तथापि पर्यायोक्त अलङ्कार की यहाँ प्रधान रूप से विवक्षा है।

अङ्गत्वेन विवक्षितमपि यमवसरे गृह्णाति नानवसरे। अवसरे गृहीतिर्यथा—

उद्दामोत्कलिकां विपाण्डुररुचं प्रारब्धजृम्भां क्षणा-
दायासं श्वसनोद्गमैरविरलैरातन्वतीमात्मनः।
अद्योद्यानलतामिमां समदनां नारीमिवान्यां ध्रुवं
पश्यन् कोपविपाटलद्युति मुखं देव्याः करिष्याम्यहम् ॥

इत्यत्र उपमा श्लेषस्य।

गृहीतमपि यमवसरे त्यजति तद्रसानुगुणतयालङ्कारान्तरापेक्षया।

यथा—

यहाँ यह शङ्का उत्पन्न होती है कि यदि रस पद्य मे पर्यायोक्त अलङ्कार ही प्रधान रूप से विवक्षित है, रस आदि नही, तो यह कैसे कहा गया कि "रस आदि मे "तात्पर्य होने पर भी"। ऐसा नही है। यहाँ विष्णु के प्रताप का वर्णन करना विवक्षित है। परन्तु वह चारुत्व का हेतु नही है। चारुत्व का हेतु तो पर्यायोक्त ही है। यद्यपि इस काव्य मे किसी दोष की आशङ्का नही करनी चाहिये तथापि यह एक प्रकार का दृष्टान्त है—कभी-कभी अङ्गभूत अलङ्कार भी प्रकृत पोषणीय वस्तु के स्वरूप को तिरस्कृत कर देता है। इस प्रकार उसमे कभी कभी अनौचित्य आ जाता है। इसी को ग्रन्थकार आगे कहेगे—महात्माओं के दोष को उद्घाटित करना अपना ही दोष है, अत दोष के उदाहरण के रूपो म इसको नही दिया गया। (पृष्ठ २०६ पर)।

(३) अङ्ग के रूप मे विवक्षित होने पर भी जिस अलङ्कार को अवसर मे ही ग्रहण करता है, अवसर न होने पर नहीं। अवसर पर ग्रहण करना, जैसे—

प्रचुरमात्रा मे कलियों से युक्त होती हुई (नारी पक्ष मे—प्रबल उत्कण्ठा से युक्त), कलियों के कारण श्वेत कान्ति वाली (नारी पक्ष मे—गोरे वर्ण की), विकसित होती हुई (नारी पक्ष मे—जंभाई लेती हुई), निरन्तर वायु के झोको से उस समय कम्पित होती हुई (नारी पक्ष मे—लम्बी साँसो को निरन्तर लेकर उस समय अपने कष्ट को प्रकट करती हुई), मदन नामक वृक्ष से लिपटी हुई (काम के आवेश से युक्त होती हुई इस उद्यान की लता को परकीया नारी के समान देखता हुआ मैं निश्चय रूप से देवी विलासवती के मुख को क्रोध से लाल कान्ति वाला कर दूंगा। यहाँ उपमा-श्लेष के ग्रहण का अवसर है।

यह श्लोक 'रत्नावली' नाटिका का है, जबकि दोहद विशेष के प्रयोग से नव-मालिका को पुष्पित देख कर राजा उदयन अपने विदूषक से इस उक्ति को कह रहा है। इसमे लता और नारी मे उपमेय-उपमान भाव होने से उपमा अलङ्कार है तथा 'समदनाम्' आदि श्लिष्ट विशेषणों मे श्लेष अलङ्कार है। श्लोक का तात्पर्य ईर्ष्याविप्रलम्भ की अभिव्यक्ति मे है। अवसर के अनुरूप होने के कारण कवि ने ईर्ष्याविप्रलम्भ के चारुत्व के लिये अङ्ग रूप मे श्लेष और उपमा को ग्रहण किया है।

(४) ग्रहण किये गये भी उस अलङ्कार को उस रस के अनुगुण अलङ्कारान्तर की अपेक्षा से छोड़ देता है। जैसे—

रक्तस्त्वं नवपल्लवैरहमपि श्लाघ्यैः प्रियाया गुणैः—
त्वामायान्ति शिलीमुखाः स्मरधनुर्मुक्ताः सखे मामपि।
कान्तापादतलाहतिस्तवमुदे तद्वन्ममाप्यावयोः
सर्वं तुल्यमशोक केवलमहं धात्रा सशोकः कृतः ॥

अत्र हि प्रबन्धप्रवृत्तोऽपि श्लेषो व्यतिरेकविवक्षया त्यज्यमानो रस-विशेषं पुष्णाति।

हे अशोक वृक्ष ! तुम अपने नवीन पल्लवो से लाल (रक्त) हो रहे हो, मैं भी अपनी प्रिया के गुणो के प्रति अनुरक्त (रक्त) हो रहा हूँ। तुम्हारे पास भौंरे (शिलीमुख) आते हैं और हे मित्र ! मेरे पास भी कामदेव के धनुष से छोडे गये बाण (शिलीमुख) आते हैं। रमणियो (कान्ता) के पैरो का प्रहार करना तुम्हारे विकसित होने के लिये (मुदे) होता है और प्रियतमा (कान्ता) के पैरो का प्रहार मेरी प्रसन्नता के लिये (मुदे) होता है। हम दोनो मे सब कुछ समान है। केवल विधाता ने मुझको शोक सहित बना दिया है। (मैं शोकसहित = अशोक हूँ और तुम शोकरहित (अशोक) हो।

इस पद्य मे यद्यपि 'रक्तस्त्व' आदि पदो से प्रबन्ध मे श्लेष अलङ्कार का प्रयोग किया जा रहा था, तथापि व्यतिरेक की विवक्षा से परित्यक्त होता हुआ वह रस विशेष (विप्रलम्भ शृङ्गार) को पुष्ट करता है।

यह पद्य भी 'रत्नावली' नाटिका का है। सागरिका के विरह से पीडित उदयन अशोक के वृक्ष को लक्ष्य करके पहले तो श्लेष के द्वारा उसके साथ अपने सादृश्य का कथन करते हैं तथा अन्त म व्यतिरेक के द्वारा भेद बताते है। इसम यद्यपि पद्य के तृतीय पाद तक श्लेष का नियोजन चल रहा है, तथापि विप्रलम्भ शृङ्गार के उपकारक व्यतिरेक अलङ्कार के नियोजन की अपक्षा स कवि ने उसका नियोजन चतुर्थ पाद मे नही किया, वहाँ व्यतिरेक अलङ्कार को नियोजित किया। इस प्रकार अवसर न होने के कारण श्लेष का परित्याग करना भी यहाँ विप्रलम्भ शृङ्गार को पुष्ट कर रहा है।

इस प्रसङ्ग मे ध्वनिकार ने एक विवाद प्रस्तुत किया है। अलकारों का सम्बन्ध दो प्रकार से होता है—समृष्टि और सकर। जहाँ दो अलङ्कार स्वतन्त्र रूप से एक वाक्य मे रहते हैं, वहाँ समृष्टि होती है तथा यह कहा जा सकता है कि इस वाक्य मे दो अलङ्कारो का सन्निपात है। जहाँ दो अलङ्कार एक ही वाक्य मे परस्पर इस प्रकार मिल जाय कि उनको पृथक् न किया जा सके, उसको सकर कहते हैं। प्राचीन अलका-रिको का कथन है कि सकर मे दो अलङ्कारो की पृथक् स्थिति नही रहती, अपितु दोनो अलङ्कार मिल कर एक हो जाते हैं। प्रस्तुत पद्य म प्राचीन आलकारिको के पक्ष को प्रस्तुत करके ध्वनिकार ने उनका खण्डन करके अपने पक्ष का सम्पादन किया है। प्राचीन आलकारिको का पक्ष है कि प्रस्तुत पद्य मे दो अलङ्कार स्वतन्त्र रूप से नही है, अपितु श्लेष और व्यतिरेक के सकर से श्लेष व्यतिरेक नामक अलङ्कार है। इसलिये यहाँ अलङ्कारान्तर की विवक्षा से प्रथम रचित अलङ्कार के परित्याग का प्रश्न उत्पन्न नही होता। ध्वनिकार का पक्ष है कि यहाँ श्लेष और व्यतिरेक की सत्ता स्वतन्त्र रूप से विद्यमान है तथा यहाँ इन दोनों की समृष्टि है। इस स्थिति को प्रश्नो-त्तर के रूप मे प्रस्तुत करते हैं—

नात्रालङ्कारद्वयसन्निपातः, किन्तर्हि, अलङ्कारान्तरमेव श्लेषव्यतिरेकलक्षणं नरसिंहवदिति चेत् ? न। तस्य प्रकारान्तरेणव्यवस्थापनात्। यत्र हि श्लेषविषय एव शब्दे प्रकारान्तरेण व्यतिरेकप्रतीतिर्जायते, स तस्य विषयः। यथा—

"सहरिर्नाम्ना देवः सहरिर्वरतुरगनिवहेन"

इत्यादौ।

अत्र ह्यन्य एव शब्दःश्लेषस्य विषयोऽन्यश्च व्यतिरेकस्य। यदि चैवंविधे विषयेऽलङ्कारान्तरत्वकल्पना क्रियते तत्संसृष्टेविषयापहार एव स्यात्। श्लेषमुखेनैवात्र व्यतिरेकस्यात्मलाभ इति नायं संसृष्टेविषय इति चेत् ? न। व्यतिरेकस्य प्रकारान्तरेणापि दर्शनात्। यथा—

हिन्दी अर्थ—

पूर्वपक्षी—यहाँ दो अलङ्कारों का सन्निपात नहीं है।

ध्वनिकार—तो क्या है ?

पूर्वपक्षी—नरसिंह के समान यहाँ श्लेष और व्यतिरेक को मिलाकर श्लेष-व्यतिरेक नाम का दूसरा अलङ्कार है। जिस प्रकार आधा शरीर मनुष्य का मिलकर एक शरीर नरसिंह का बना, उसी प्रकार श्लेष और व्यतिरेक को मिलाकर श्लेष-व्यतिरेक नाम वाला दूसरा अलङ्कार (एकाश्रयानुप्रवेशसङ्कर) हो जायेगा।

ध्वनिकार—ऐसा नहीं है। उस एकाश्रयानुप्रवेश सङ्कर अलङ्कार की स्थिति दूसरे प्रकार से होती है। जहाँ श्लेष अलङ्कार के विषयभूत श्लिष्ट शब्द में ही प्रकारान्तर से व्यतिरेक अलङ्कार की प्रतीति होती है, वह ही उसका विषय है। एकाश्रयानुप्रवेश सङ्कर वहाँ होता है जहाँ एक ही पद में दो अलङ्कारों की प्रतीति होती है (एकत्रहि विषयेऽलङ्कारद्वयप्रतिभोल्लास सङ्कर.—अभिनवगुप्त)। जैसे—

"वह देव तो नाममात्र से 'सहरि' है और यह देव श्रेष्ठ घोड़ों के समूह के कारण सहरि हैं।"

इत्यादि उदाहरणों में श्लेष और व्यतिरेक अलङ्कार दोनों एक ही पद 'सहरि' में आश्रित हैं, अत यहाँ श्लेष और व्यतिरेक का एकाश्रयानुप्रवेश सङ्कर है।

यहाँ "रक्तस्त्वं नवपल्लवै.०" पद्य में श्लेष का विषय अन्य (रक्त आदि पद) हैं और व्यतिरेक का विषय अन्य पद (अशोक और अशोक) हैं। अत एकाश्रयानुप्रवेशसङ्कर नहीं हो सकता। यदि इस प्रकार के विषय में भी दूसरे अलङ्कार (एकाश्रयानुप्रवेश-सङ्कर) की कल्पना की जावे तो संसृष्टि के विषय का ही अपहार हो जायगा। अर्थात् कहीं भी अलङ्कारों की संसृष्टि नहीं हो सकेगी।

हिन्दी अर्थ—पूर्वपक्षी—श्लेष के द्वारा ही यहाँ व्यतिरेक अलङ्कार की सिद्धि होती है, अत. यह संसृष्टि नहीं है। अर्थात्—यदि यहाँ एकाश्रयानुप्रवेशसङ्कर न माना जावे तो अङ्गाङ्गिभाव सङ्कर होगा। इसका कारण यह है कि व्यतिरेक अलङ्कार उपमागर्भ होना

नो कल्पापायवायोरदयरयदलत्क्ष्माधरस्यापि शम्या
गाढोद्गीर्णोज्ज्वलश्रीरहनि न रहिता नो तमः कज्जलेन।
प्राप्तोत्पत्तिः पतङ्गान्न पुनरुपगता मोषमुष्णत्विषो वो
वर्तिः सैवान्यरूपा सुखयतु निखिलद्वीपदीपस्य दीप्तिः॥
अत्र हि साम्यप्रपञ्चप्रतिपादनं विनैव व्यतिरेको दर्शित ।

नात्र श्लेषमात्राच्चारुत्वनिष्पत्तिरस्तीति श्लेषस्य व्यतिरेकाङ्गत्वेनैव विवक्षितत्वात् न स्वतोऽलङ्कारतेत्यपि न वाच्यम्। यत एवंविधे विषये साम्यमात्रादपि सुप्रतिपादिताच्चारुत्वं दृश्यत एव। यथा—

है और उपमा (राजा उदयन और अशोक वृक्ष में साम्य)। यहाँ श्लेष के द्वारा ही प्रतीत होती है, अत श्लेष अलङ्कार व्यतिरेक अलङ्कार का अनुग्राहक है। इन दोनों म अनुग्राह्यानुग्राहकभाव होने से अङ्गाङ्गिभाव सङ्कर होगा।

ध्वनिकार—नहीं, ऐसा नहीं है। व्यतिरेक अलङ्कार को उपमागर्भ ही कहा जावे, उपमा के द्वारा ही उसकी निष्पत्ति हो, ऐसा नहीं है, क्योंकि व्यतिरेक अलङ्कार प्रकारान्तर से भी, उपमा के बिना भी देखा जाता है। जैसे—

सम्पूर्ण द्वीपो को प्रकाशित करने वाले भगवान् सूर्य की लोकोत्तर दीप्ति रूप बत्ती, जो कि निर्दयता से पर्वतो का भी दलन करने वाले प्रलयकालीन वायु से भी नहीं बुझाई जा सकती, जो दिन मे अत्यधिक उज्ज्वल प्रकाश को देने वाली है, अन्धकार रूपी काजल से रहित नहीं है, अर्थात् उससे रहित है, पतङ्ग (सूर्य) से यह उत्पत्ति को प्राप्त करती है, परन्तु पतङ्ग (कीडे) से यह बुझती नहीं है, वह आपको सुखी करे।

यहाँ लौकिक उपमान दीपक की बत्ती की अपेक्षा उपमेय सूर्य की दीप्ति रूप बत्ती मे गुणो का अतिशय दिखाया गया है, अत व्यतिरेक अलङ्कार है।

इस उदाहरण मे साम्य के कथन के बिना ही व्यतिरेक अलङ्कार दिखाया गया है।

भाव यह है कि जब उपमा प्रतीयमान होती है, स्वशब्दवाच्य नहीं होती, तभी वह व्यतिरेक अलङ्कार की अनुग्राहिणी होती है। इस "रक्तस्त्वम्"० उदाहरण मे, श्लेषोपमा के स्व शब्दवाच्य होने के कारण इसको व्यतिरेक का अनुग्राहक मानने की आवश्यकता नही है। अत इस उदाहरण म श्लेष और व्यतिरेक का सङ्कर नही है, ससृष्टि ही है।

हिन्दी अर्थ—पूर्वपक्षी—इस "रक्तस्त्वम्०" उदाहरण मे श्लेषमात्र से चारुत्व की निष्पत्ति नही होती, अत श्लेष अलङ्कार व्यतिरेक के अङ्ग रूप मे ही विवक्षित है, उसमे स्वत अलङ्कारत्व नही है।

पूर्वपक्षियो का कथन है कि यह ठीक है कि "नो कल्पापायवायो०" उदाहरण, मे साम्य को प्रदर्शित किये बिना व्यतिरेक अलङ्कार है, परन्तु "रक्तस्त्वम्०" उदाहरण मे तो श्लेषोपमा द्वारा ही व्यतिरेक की निष्पत्ति होती है। क्योंकि यहाँ व्यतिरेक के बिना अकेले श्लेषोपमा से चारुत्व की निष्पत्ति नही होती अत श्लेषोपमा को स्वतन्त्र अलङ्कार नही मान सकते। श्लेषोपमा से उपकृत व्यतिरेक ही यहाँ चारुत्व को निष्पन्न करता है, इसलिये इस उदाहरण मे श्लेष और उपमा का अङ्गाङ्गिभाव सङ्कर है। ससृष्टि नही है।

हिन्दी अर्थ—ध्वनिकार—ऐसा कहना ठीक नहीं है कि बिना व्यतिरेक के केवल श्लेषोपमा से चारुत्व की निष्पत्ति नही है अत इस उदाहरण मे श्लेष अलङ्कार के

आक्रन्दा' स्तनितैर्विलोचनजलान्यश्रान्तधाराम्बुभि—
स्तद्विच्छेदभुवश्च शोकशिखिनस्तुल्यास्तडिद्विभ्रमैः ।
अन्तर्मे दयितामुखं तव शशी वृत्तिः समैवावयो
स्तत् किं मामनिशं सखे जलधर त्वं दग्धुमेवोद्यतः ॥

इत्यादौ ।

रसनिर्वहणैकतानहृदयो यञ्च नात्यन्तं निर्वोढुमिच्छति । यथा—

व्यतिरेक के अनुग्राहक के रूप मे होने से अङ्गाङ्गिभाव सङ्कर है। वस्तुत यहाँ श्लेष स्वतन्त्र अलङ्कार है और व्यतिरेक का वह अङ्ग नही है। श्लेष अलङ्कार से भी यही चारुत्व की निष्पत्ति है। क्योकि इस प्रकार के विषय म (व्यतिरेक म) केवल साम्य मात्र के अच्छी प्रकार से प्रतिपादन करने से (श्लेष के बिना) वह चारुत्व दृष्टिगोचर होताही है। जैसे कि—

१ हे मित्र मेघ ! मेरे वियोग जनित आक्रन्दन तुम्हारी गर्जनाओ के समान हैं, आँखो से बहने वाले आँसू तुम्हारे निरन्तर बरसने वाली जल की धाराओ के समान हैं, उस प्रियतमा के वियोग से उत्पन्न होने वाली शोकरूपी अग्नियाँ तुम्हारे बिजलियों के विलासो के समान हैं, मेरे हृदय के अन्दर प्रियतमा का मुख है और तुम्हारे अन्दर चन्द्रमा छिपा है। इस प्रकार हम दोनो की वृत्ति समान ही है। तो तुम किस कारण से दिन रात मुझको जलाने के लिये उद्यत हो रहे हो।

इत्यादि उदाहरणो म श्लेष से रहित साम्य का चारुत्व है। इस पद्य के पहले तीन चरणों मे वक्ता ने अपना और मेघ का साम्य प्रदर्शित किया है एव चौथे चरण मे व्यतिरेक दिखाया है। यह साम्य श्लेष के बिना ही है और व्यतिरेक का अङ्ग नही है अत स्वय चारुत्व का हेतु है। इसलिये यह कहना कि इस प्रकार के उदाहरणो मे श्लेषोपमा व्यतिरेक का अङ्ग है, या व्यतिरेक उपमागर्भ ही होता है, अत. "रक्तस्त्वम्०" म अङ्गाङ्गिभाव-सङ्कर है ठीक नहीं। इसम श्लेष और उपमा की संसृष्टि ही माननी चाहिए ? इसलिये इस उदाहरण म पहले तीन चरणो मे प्रदर्शित होने वाले श्लेष का, चतुर्थ चरण मे व्यतिरेक की अपेक्षा से परित्याग किया गया है, वह ठीक ही है।

(५) रस के निर्वहण मे एकाग्रमन वाला कवि जिसका अत्यधिक दूर तक निर्वाह करना नही चाहता। जैसे—

कोपात् कोमललोलबाहुलतिकापाशेन बद्ध्वा दृढं
नीत्वा वासनिकेतनं दयितया सायं सखीनां पुरः ।
भूयो नैवमिति स्खलत्कलगिरा संसूच्य दुश्चेष्टितं
धन्यो हन्यत एव निह्नुतिपरः प्रेयान् रुदत्या हसन् ॥

अत्र हि रूपकमाक्षिप्तमनिर्व्यूढं च परं रसपुष्टये ।
निर्वोढुमिष्टमपि य यत्नादङ्गत्वेन प्रत्यवेक्षते । यथा—

श्यामास्वङ्गं चकितहरिणीप्रेक्षणे दृष्टिपातं
गण्डच्छायां शशिनि शिखिनां बर्हभारेषु केशान् ।
उत्पश्यामि प्रतनुषु नदीवीचिषु भ्रूविलासान्
हन्तैकस्थं क्वचिदपि न ते भीरु सादृश्यमस्ति ॥

इत्यादौ

क्रोध के कारण अपनी कोमल और चञ्चल बाहुरूपी लताओं के पाश से दृढ़ता से बाँधकर, अपने निवास स्थान पर ले जाकर और सायंकाल अपनी सखियों के सामने उसकी (प्रियतम की) दुश्चेष्टाओं का वर्णन करके, पुनः तुम ऐसा नहीं करोगे, इस प्रकार लड़खड़ाती हुई मधुर वाणी से कहने वाली रोती हुई प्रियतमा से, अपनी दुश्चेष्टाओं को छिपाता हुआ और हँसता हुआ वह सौभाग्यशाली प्रियतम पीटा ही जाता है ।

इस उदाहरण में कवि ने 'बाहुलतिकापाशेन' पद के द्वारा रूपक अलङ्कार का प्रारम्भ तो किया था, परन्तु शृङ्गार रस के पोषण के लिये दूर तक उसका निर्वाह नहीं किया ।

रूपक आदि की समीक्षा के पाँच प्रकारों का वर्णन करके छठा प्रकार कहते हैं ।

(६) निर्वाह करने के लिये इष्ट होने पर भी वह अङ्गरूप में ही रहे, इसका प्रयत्नपूर्वक ध्यान रखता है । जैसे—

हे भीरु ! मैं तुम्हारे अङ्गों को श्यामा लताओं में, दृष्टिपात को चकित हरिणियों की चितवन में, गालों की कान्ति को चन्द्रमा में, केशों को मयूरों के पुच्छसमूह में, भ्रूविलासों को नदी की पतली पतली तरङ्गों में देख रहा हूँ । परन्तु खेद है कि कहीं भी एक स्थान पर स्थित तुम्हारा सा दृश्य दिखाई नहीं दे रहा है ।

इस उदाहरण में तद्भावाध्यारोपरूप (एक वस्तु के भाव को दूसरी वस्तु में आरोपित करना, जैसे प्रियतमा के अङ्ग का श्यामालता में आरोप करना) उत्प्रेक्षा का अन्त तक निर्वाह किया गया है, परन्तु यह ध्यान रखा गया है कि वह अङ्ग रूप में रहे । अतः यहाँ अङ्गरूप में रहती हुई यह उत्प्रेक्षा विप्रलम्भ शृङ्गार रस का पोषण ही करती है ।

स एवमुपनिबध्यमानोऽलङ्कारो रसाभिव्यक्तिहेतुः कवेर्भवति। उक्त-प्रकारातिक्रमे तु नियमेनैव रसभङ्गहेतुः सम्पद्यते। लक्ष्यं च तथाविधं महाकविप्रबन्धेष्वपि दृश्यते बहुशः। तत्तु सूक्तिसहस्रद्योतितात्मनां महात्मनां दोषोद्घोषणमात्मन एव दूषणं भवतीति न विभज्य दर्शितम्।

किन्तु रूपकादेरलङ्कारवर्गस्य येयं व्यञ्जकत्वे रसादिविषये लक्षण-दिग्दर्शिता तामनुसरन् स्वयं चान्यल्लक्षणमुत्प्रेक्षमाणो यद्यलक्ष्यक्रमप्रतिभमनन्तरोक्तमेनं ध्वनेरात्मानमुपनिबध्नाति सुकविः समाहितचेतास्तदा तस्यात्मलाभो भवति महीयानिति ॥१६॥

हिन्दी अर्थ—इस प्रकार से निबद्ध किया जाता हुआ ही वह अलङ्कार कवि के रस की अभिव्यक्ति का हेतु होता है। उक्त प्रकार का उल्लंघन करने पर तो वह नियम से रस के भङ्ग का ही हेतु होता है। इस प्रकार का लक्ष्य (रसभङ्ग के उदाहरण) बहुत बार महाकवियों के प्रबन्धों में भी देखा जाता है। परन्तु हजारों सूक्तियों की रचनाओं द्वारा अपनी प्रतिभा को द्योतित करने वाले उन महात्मा कवियों के दोषों को उद्घाटित करना अपने ही दोष को प्रकट करना है। अतः उसका विभाग करके (महाकवियों की अदोषयुक्त रचना का उदाहरण देकर) नहीं दिखाया है।

भाव यह है कि ध्वनिकार ने रसध्वनि के नियोजन के रसों के उपकारक के रूप में रूपक आदि अलङ्कारों के विनिवेशन में समीक्षा के रूप में जिन ६ हेतुओं को कहा है, उनके अनुसार अलङ्कारों का विनिवेशन रस की अभिव्यक्ति का हेतु है तथा उससे भिन्न प्रकार से अलङ्कारों का विनिवेशन रस के भङ्ग का निश्चित रूप से कारण होगा। ध्वनिकार ने यहाँ जितने भी उदाहरण दिये हैं, वे अलङ्कारों का समीक्षापूर्वक विनिवेशन करने के हैं। इस प्रकार के भी अनेक उदाहरण प्रत्युदाहरण के रूप में दिये जा सकते हैं, जिनमें अलङ्कारों का विनिवेशन इन हेतुओं का उल्लंघन करके हुआ है तथा वहाँ रसभङ्ग हुआ है। ध्वनिकार का कथन है कि महाकवियों के प्रबन्धों में भी इस प्रकार के रसभङ्ग उदाहरण बहुत बार देखे जाते हैं, परन्तु महान् पुरुषों के दोषों को प्रदर्शित करना उचित न होने के कारण उनको यहाँ प्रस्तुत नहीं किया गया है।

हिन्दी अर्थ—किन्तु रस आदि के विषय में रूपक आदि अलङ्कारों के वर्ग की जो यह लक्षण की दशा दिखाई है, उसका अनुसरण करता हुआ और उसका अनुसरण करते हुये स्वयं भी अन्य लक्षण की उत्प्रेक्षा करता हुआ उत्तम कवि यदि समाहितचित्त होकर असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य रूप ध्वनि का और आगे कहे गये वाच्य की अपेक्षा ध्वनि का सावधानी से निबन्धन करता है, तो उसको बहुत बड़ा आत्मलाभ होता है, अर्थात् वह महाकवि पद को प्राप्त करता है ॥१६॥

ध्वनिकार की इस वृत्ति मे 'अन्यल्लक्षणम्' की व्याख्या अभिनवगुप्त ने इस प्रकार की है—'परीक्षाप्रकारमित्यर्थं, तद्यथावस रेत्यक्तस्यापि पुनर्ग्रहणमित्यादि।" रस के उपकारक के रूप म ध्वनिकार ने जो ६ लक्षण (हेतु) कहे है, उनसे अन्य प्रकार के लक्षण भी हो सकते हैं। जैसे—अवसर के अनुसार छोड़े गये भी अलङ्कार का पुन ग्रहण करना। उदाहरण के रूप म अभिनवगुप्त का स्वरचित यह पद्य है—

शीताशोरमृतच्छटा यदि करा कस्मान्मनो मे भृश
सम्लुष्यन्त्यथ कालकूटपटलीसवाससन्दूषिता।
किं प्राणान्न हरन्त्युत प्रियतमासञ्जल्पमन्त्राक्षरै—
रक्ष्यन्ते किमु मोहमेमि हहहा नो वेद्मि केय गति ॥

यदि चन्द्रमा की किरणें अमृतरूप है, तो किस कारण से वे मेरे मन को अत्यधिक झुलस रही है? यदि कालकूट विष के के समूह साथ रहने से दूषित हो गई है, तो मेरे प्राणो का हरण क्यों नही कर लेती? यदि प्रियतमा के साथ वार्तालाप रूपी मन्त्रो के अक्षरो से इनकी रक्षा की जाती है तो मैं मूर्छित क्यो हो जाता हूँ। हाय हाय! मैं नही जानता कि मेरी यह अवस्था कौनसी है?

यहाँ रूपक सन्देह और निदर्शना अलङ्कारो का अवसर के अनुसार परित्याग करके उनको पुन ग्रहण किया गया है ॥१८ १९॥

सलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि—

प्रारम्भ म ध्वनि के दो भेद किये गये थे—अविवक्षितवाच्य (लक्षणामूल) ध्वनि और विवक्षितान्यपरवाच्य (अभिधामूल ध्वनि)। इनमे अविवक्षितवाच्य ध्वनि के अर्थान्तरसक्रमित और अत्यन्ततिरस्कृत दो भेद किये गये एव विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि के असलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य और सलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य दो भेद किये गये।

असलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य की विवेचना यहाँ तक की जा चुकी है। अब सलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य की विवेचना की जा रही है।

सलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य के प्रारम्भ म दो भेद किये गये हैं—शब्दशक्त्युद्भव और अर्थशक्त्युद्भव। आचार्यो ने शब्द और अर्थ के समन्वय से उभयशक्त्युद्भव ध्वनि के तीसरे भेद को भी बताया है।

"शब्दार्थोभयशक्त्युत्थस्त्रिधा स कथितो ध्वनि।" का० प्र० ४ ३८॥
शब्दार्थोभयशक्त्युत्थे व्यङ्ग्येऽनुस्वानसन्निभे।
ध्वनिर्लक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यस्त्रिविध कथितो बुधै ॥ सा० द० ४ ६॥

परतु ध्वन्यालोक के इस दूसरे उद्योत म आचार्य आनन्दवर्धन ने सलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य के दो ही भेद कहे हैं।

आचार्यो ने सलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य के भेदो प्रभेदो को कुल मिलाकर १५ गिना है। शब्दशक्त्युद्भव के दो भेद, अर्थशक्त्युद्भव के १२ भेद और उभयशक्त्युद्भव का एक भेद। ध्वनि के भेदो की गणना सामान्य रूप से इस प्रकार की जा सकती है—

ध्वनि के ऊपर लिखे गये भेद मम्मट द्वारा काव्यप्रकाश मे प्रतिपादित किये गये हैं। उन्होंने इन भेदों को १८ की गणना से सख्यात किया है—

अविवक्षितवाच्य = २
असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य = १
शब्दशक्त्युद्भव = २
अर्थशक्त्युद्भव १२
उभयशक्त्युद्भव = १

१८

क्रमेण प्रतिभात्यात्मा योऽस्यानुस्वानसन्निभः।
शब्दार्थशक्तिमूलत्वात् सोऽपि द्वेधा व्यवस्थित ॥२०॥

अस्य विवक्षितान्यपरवाच्यस्य ध्वनेः सलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यत्वादनुरणनप्रख्यो य आत्मा सोऽपि शब्दशक्तिमूलोऽर्थशक्तिमूलश्चेति द्विप्रकारः ॥२०॥

ध्वन्यालोक मे ध्वनि के भेदो की विवेचना इतनी अधिक वैज्ञानिक नही है। ध्वन्यालोक के आधार पर ध्वनि के भेदों की गणना करते हुए भी मम्मट ने इसको अधिक वैज्ञानिक रूप दिया है। अभिनवगुप्त ने १६ भेदो की गणना की थी। अन्तर यह है कि उन्होंने ध्वन्यालोक के आधार पर शब्दशक्त्युद्भव का एक भेद (अलङ्कार-ध्वनि) माना है और उभयशक्त्युद्भव की गणना नही की। साहित्यदर्पणकार ने मम्मट का अनुसरण करते हुये ध्वनि के १८ भेद किये है (तदष्टधा ध्वनि ४६)।

'ध्वन्यालोक' मे ध्वनि के भेदो की गणना का निश्चित प्रकार नही है। उन्होंने शब्दशक्त्युद्भव ध्वनि का एक ही भेद (अलङ्कार ध्वनि वर्णित किया है। उभयशक्त्युद्भव यद्यपि ध्वनिकार ने पृथक् रूप से नही दिखाया, तथापि २३ वी कारिका की वृत्ति मे 'शब्दार्थशक्त्या' पद के द्वारा तथा इसके उदाहरण 'उभयशक्त्या पदो से सूचित होता है कि वे इस भेद को स्वीकार अवश्य करते थे। अर्थशक्त्युद्भव मे ध्वनिकार भेदो ही प्रमुखभेदो—स्वत सम्भवी एव कविप्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीर करके पुन उसके वस्तु और अलङ्कार की दृष्टि से भेद किये हैं। परन्तु २४ वी कारिका की वृत्ति मे 'कवे कविनिबद्धस्य वा वस्त प्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीर एक' लिखकर उन्होंने इन प्रभेदो को स्वीकार अवश्य किया है।

मम्मट ने ध्वनिकार के 'कविप्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीर को दो भागो मे कवि-प्रौढोक्तिमात्रसिद्ध तथा कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध मे विभक्त करके इसको अधिक विस्तृत एव वैज्ञानिक रूप दिया है।

अब यहाँ सर्वप्रथम ध्वनिकार द्वारा प्रदर्शित सलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि के दो प्रमुख भेदो—शब्दशक्तिमूल और अर्थशक्तिमूल का वर्णन किया जा रहा है।

हिन्दी अर्थ—अनुस्वान (अनुरणन) के सदृश प्रतीत होने वाला इस ध्वनि का जो दूसरा आत्मा (स्वरूप) है, वह शब्दशक्तिमूलक और अर्थशक्तिमूलक होने से दो प्रकार से व्यवस्थित होता है ॥२०॥

इस विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि का जो दूसरा स्वरूप (आत्मा) है, वह वाच्य और व्यङ्ग्य अर्थ के क्रम के लक्षित होने के कारण अनुरणन के तुल्य होता है और वह शब्दशक्तिमूल और अर्थशक्तिमूल दो प्रकार का होता है।

अनुस्वान—घण्टा बजने के अनन्तर भी कुछ समय तक उसकी ध्वनि की गूज सुनाई देती रहती है। इसी को अनुस्वान या अनुरणन कहते हैं। विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि मे भी वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति का क्रम घण्टाध्वनि के समान है।

ननु शब्दशक्त्या यत्रार्थान्तरं प्रकाशते स यदि ध्वने. प्रकार उच्यते तदिदानीं श्लेषस्य विषय एवापहृतः स्यात् ।

नापहृत इत्याह—

आक्षिप्त एवालङ्कार शब्दशक्त्या प्रकाशते ।
यस्मिन्ननुक्त. शब्देन शब्दशक्त्युद्भवो हि स. ॥२१॥

यस्मादलङ्कारो न वस्तुमात्र यस्मिन् काव्ये शब्दशक्त्या प्रकाशते, सशब्दशक्त्युद्भवो ध्वनिरित्यस्माक विवक्षितम् । वस्तुद्वये च शब्दशक्त्याप्रकाशमाने श्लेष. । यथा—

जिस प्रकार घण्टा बजने पर पहले घण्टे की ध्वनि सुनाई देती है और उसके बाद उसकी गूँज की प्रतीति होती है उसी प्रकार शब्दशक्तिमूलध्वनि म पहले वाच्य अर्थ सुनाई देता और तदनन्तर व्यङ्ग्य अर्थ की प्रतीति होती है ।

शब्दशक्तिमूल ध्वनि मे श्लेष अलङ्कार के विलय की आशङ्का—

यहाँ एक आशङ्का उत्पन्न होती है—श्लेष अलङ्कार वहाँ होता है, जहाँ एक ही शब्द से अनेक अर्थों की प्रतीति है। शब्दशक्तिमूल में भी एक शब्द से अनेक अर्थों की प्रतीति कही गई है, अत श्लेष अलङ्कार का विषय शब्दशक्तिमूलध्वनि म ही विलीन हो जायेगा ।

हिन्दी अर्थ—यदि यह कहा जावे कि शब्द की शक्ति मे अन्य अर्थ जब प्रकाशित होता है, तो वह ध्वनि का एक प्रकार है, तो अब श्लेष के विषय का ही अपहरण हो जायगा, अर्थात् जिन स्थलो मे श्लेष अलङ्कार कहा जाता है, वहाँ शब्दशक्तिमूलध्वनि होगी ॥२०॥

इसका उत्तर ध्वनिकार देते हैं—

हिन्दी अर्थ—नहीं, अपहृत नहीं होगा । इसी बात को कहते हैं—

जिस काव्य मे अलङ्कार शब्दशक्ति के द्वारा आक्षिप्त होकर प्रतीयमान होता है और शब्द से उक्त नहीं होता, वह शब्दशक्त्युद्भव ध्वनि है ॥२१॥

हमारे कहने का अभिप्राय यह है कि जिस काव्य मे शब्दशक्ति के द्वारा अलङ्कार, न कि वस्तुमात्र,प्रतीयमान होता है, वह शब्दशक्त्युद्भव ध्वनि है। दो वस्तुओ के शब्दशक्ति से प्रकाशित होने पर श्लेष होता है ।

शब्दशक्त्युद्भव ध्वनि के दो भेद कहे गये हैं—अलङ्कारध्वनि और वस्तुध्वनि अलङ्कार ध्वनि में श्लेष ध्वनि के सम्बन्ध में विवाद है। पूर्वपक्षियों का कथन है कि अलङ्कार ध्वनि को स्वीकार नहीं किया जा सकता। अलङ्कार ध्वनि वहाँ होती है जहाँ शब्दशक्ति से अर्थान्तर प्रतीत होकर अलङ्कार की प्रतीति होती है। शब्दशक्ति से अर्थान्तर की प्रतीति होने हर जगह अलङ्कार होगा। अत शब्दशक्त्युद्भव अलङ्कार ध्वनि को मानने पर श्लेष अलङ्कार का विषय नहीं रहेगा। इसका उत्तर ध्वनिकार ने इस प्रकार दिया है।

जिस काव्य मे शब्दशक्ति के द्वारा अलङ्कार प्रतीयमान होता है, स्वशब्द द्वारा कथित होकर वाच्य नही होता और यह प्रतीति वस्तुमात्र के रूप मे होकर अलङ्कार के रूप मे ही होती है, वहाँ शब्दशक्त्युद्भव अलङ्कार ध्वनि होती है। जहाँ शब्दशक्ति के द्वारा साक्षात् रूप से दो वस्तुमात्र की प्रतीति होती है, अलङ्कार की नही, वहाँ श्लेष अलङ्कार होता है। जैसे कि 'येन ध्वस्तमनोभवेन' मे दो वस्तुमात्र अर्थ विष्णु और शिव की प्रतीति होने से श्लेष अलङ्कार है। अलङ्कार ध्वनि नही।

आक्षिप्त—ध्वनिकार ने कारिका मे उस अवस्था मे शब्दशक्तिमूल अलङ्कार ध्वनि मानी है, जहाँ अलङ्कार आक्षिप्त हो और शब्द के द्वारा उक्त (वाच्य) न हो। जहाँ अलङ्कार वाच्य होता है, वहाँ ध्वनि नही होगी। अलङ्कार की वाच्यता मे ध्वनि नही होगी, इसके ध्वनिकार ने अनेक उदाहरण दिये हैं।

सस्कृत भाषा मे बहुत से शब्द अनेकार्थक हैं। जहाँ इन अनेकार्थक शब्दो से एक से अधिक अर्थों का बोध अभिधा द्वारा होता है तो ये अर्थ वाच्य होते हैं और इस अवस्था मे श्लेष अलङ्कार होता है। परन्तु सामान्य रूप से भाषा मे और काव्य मे अनेक हेतुओ द्वारा शब्द का एक ही अर्थ नियन्त्रित हो जाता है तथा वहाँ एक ही अर्थ का बोध होता है। इन हेतुओ का सग्रह भर्तृहरि के 'वाक्यपदीय' नामक व्याकरण ग्रन्थ मे किया गया है। मम्मट आदि अलङ्कारिको ने शब्दवृत्तियो के स्वरूप को समझाते हुए भर्तृहरि की उन कारिकाओ को उद्धृत किया है। वे कारिकायें निम्न हैं—

सयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता।
अर्थ प्रकरण लिङ्ग शब्दस्यान्यस्य सन्निधि।
सामर्थ्यमौचिती देश कालो व्यक्ति स्वरादय।
शब्दार्थस्यानवच्छेदे　　विशेषस्मृतिहेतव॥

शब्द के वाच्य अर्थ का निर्णय न होने की अवस्था मे सयोग, विप्रयोग, साहचर्य, विरोधिता, अर्थ, प्रकरण, लिङ्ग, अन्य शब्द का सामीप्य, सामर्थ्य, औचित्य, देश, काल, व्यक्ति (स्त्री-पुरुष-नपुंसक लिंग)। स्वर, अभिनय आदि विवक्षित अर्थ विशेष को जतलाने मे हेतु है।

परन्तु काव्य मे अनेक बार प्रकरण आदि द्वारा एक अर्थ के नियन्त्रित हो जाने पर भी दूसरे अर्थ का बोध होता है। इस द्वितीय अर्थ की प्रतीति अभिधा द्वारा नही होती, परन्तु व्यञ्जना द्वारा होती है। व्यञ्जना द्वारा दूसरे अर्थ की प्रतीति ही उस अर्थ का आक्षिप्त होना है। इस प्रकार जिस स्थान पर प्रकरण द्वारा नियन्त्रित न होने के कारण अभिधा द्वारा एक शब्द से अनेक अर्थों की प्रतीति हो, वहाँ दोनो अर्थ वाच्य होते हैं और श्लेष अलङ्कार होता है। परन्तु जहाँ प्रकरण आदि द्वारा शब्द के एक अर्थ मे नियन्त्रित हो जाने पर भी दूसरे अर्थ की प्रतीति होती है, तो वह दूसरा अर्थ व्यञ्जना द्वारा प्रतीत होता है। वह व्यङ्ग्य या आक्षिप्त अर्थ है।

येन ध्वस्तमनोभवेन बलिजित्कायः पुरास्त्रीकृतो
यश्चोद्वृत्तभुजङ्गहारवलयो गङ्गां योऽधारयत् ।
यस्याहुः शशिमच्छिरोहर इति स्तुत्यं च नामामराः
पायात् स स्वयमन्धकक्षयकरस्त्वां सर्वदोमाधवः ॥

इसी तथ्य को व्यक्त करते हुये आनन्दवर्धन 'आक्षिप्त एवालङ्कार०:' कारिका मे कहा है कि जब दूसरा अलङ्कार रूप अर्थ आक्षिप्त हो और स्वशब्द से अनुक्त होने के कारण वाच्य न हो, तो वहाँ उस अलङ्कार के व्यङ्ग्य होने के कारण अलङ्कार ध्वनि होगी परन्तु जहाँ वह दूसरा अर्थ आक्षिप्त नही होगा, व्यङ्ग्य नही होगा, वहाँ श्लेष अलङ्कार ही होगा। जैसे कि अगले "येन ध्वस्तमनोभवेन०" 'तस्या विनापि हारेण०', "श्लाघ्याशेषतनुम्०", अभिमरतिमलसहृदयताम्०", "चमहिम्रमाण०" मे और 'दृष्ट्या केशव गोपरागहृतया०" उदाहरणों मे श्लेष अलङ्कार है। परन्तु "उन्नत. प्रोल्लसद्धार." आदि मे प्रकरण आदि द्वारा अभिधा के अर्थ मे नियन्त्रित हो जाने के कारण द्वितीय अर्थ की प्रतीति व्यञ्जना से होती है और यहाँ शब्दशक्त्युद्भव ध्वनि है। इन उदाहरणों को इनके प्रसङ्ग मे स्पष्ट किया जावेगा।

अब येन 'ध्वस्तमनोभवेन' उदाहरण मे श्लेष अलङ्कार के विषय को स्पष्ट करते हैं—

हिन्दी अर्थ—विष्णु पक्ष मे—अभवेन येन अनः ध्वस्तम्, पुरा बलिजित्कायः स्त्रीकृत', यः च उद्धृतभुजङ्गहा, खलय, य गाम् अग च अधारयत् यस्य शशिमच्छिरोहर इति स्तुत्यं नाम अमराः आहु, स्वयम् अन्धकक्षयकरः सर्वदः सः माधवः त्वां पायात् ।

अजन्मा जिस विष्णु ने शकटासुर का विनाश किया था, पहले समुद्रमन्थन के समय बलि को जीतने वाले शरीर को स्त्री रूप मे परिवर्तित किया था, जिसने उद्दण्ड कालिय नाग का दमन किया था, जिसने पृथिवी और गोवर्धन पर्वत को धारण किया था, जिसका राहु के सिर को काटने वाले स्तुत्य नाम का देवता उच्चारण करते हैं, स्वयं यादवों का विनाश करने वाले या यादवों का घर बनाने वाले और सब कुछ देने वाले ये माधव (लक्ष्मी के पति विष्णु) तुम्हारी रक्षा करें।

शिव पक्ष में—ध्वस्तमनोभवेन येन पुरा बलिजित्कायः अस्त्रीकृतः, यः च उद्धतभुजङ्गहारवलयः, य च गङ्गाम् अधारयत्, यस्य शशिमच्छिरः हरः इति स्तुत्यं नाम अमराः आहु', स्वयम् अन्धकक्षयकरः स उमाधव. त्वां सर्वदा पायात् ।

कामदेव का विनाश करने वाले जिस शिव ने त्रिपुरदाह के समय बलि को जीतने वाली विष्णु के शरीर को अस्त्र बनाया था, जो उद्दण्ड सांपों को हार और वलय के रूप में धारण करता है, जिसने गंगा को धारण किया था, जिसके चन्द्रमा को सिर पर धारण करने वाले तथा हर इस स्तुत्य नाम को देवता उच्चारण करते हैं, स्वयं अन्धकासुर विनाश करने वाले वे पार्वती के पति शिव तुम्हारी सदा रक्षा करें।

नन्वलङ्कारान्तरप्रतिभायामपि श्लेषव्यपदेशो भवतीति दर्शित भट्टोद्भटेन। तत् पुनरपि शब्दशक्तिमूलो ध्वनिर्निरवकाशः इत्याशङ्क्येदमुक्तम्—'आक्षिप्तः' इति।

तदयमर्थः—यत्र शब्दशक्त्या साक्षादलङ्कारान्तरं वाच्यं सत् प्रतिभासते स सर्वः श्लेषविषयः। यत्र तु शब्दशक्त्या सामर्थ्याक्षिप्तं वाच्यव्यतिरिक्तं व्यङ्ग्यमेवालङ्कारान्तरं प्रकाशते, स ध्वनेर्विषयः।

यहाँ दोनो ही वस्तुरूप अर्थ शब्दशक्ति से एक साथ प्रकाशित हो रहे हैं, तथा कोई अलङ्कार प्रतीत नही हो रहा, इसलिये यहाँ श्लेष अलङ्कार है, शब्दशक्त्युद्भव ध्वनि नही है।

इस स्थल पर भट्टोद्भट के कथन से उत्पन्न शङ्का को प्रदर्शित करके ध्वनिकार उसका उत्तर देते है—

हिन्दी अर्थ—भट्टोद्भट ने प्रदर्शित किया है कि जहाँ दूसरा अलङ्कार भी प्रतीत होता है, केवल वस्तुद्वय ही नहीं, वहाँ भी श्लेष अलङ्कार होता है। इसलिए शब्द शक्तिमूल ध्वनि का अवकाश नहीं है, अर्थात् ध्वनि के इस भेद को स्वीकार नहीं करना चाहिये।

भट्टोद्भट के इस आक्षेप की आशङ्का करके ही कारिका में 'आक्षिप्त' पद कहा गया है।

इसका यह अर्थ हुआ कि शब्दशक्ति से जहाँ साक्षात् रूप से दूसरा अलंकार वाच्य रूप में (होकर स्वशब्द से कथित होकर) प्रतीत होता है, वह सब श्लेष अलङ्कार का ही विषय है। परन्तु जहा व्यङ्ग्य अर्थ के रूप मे दूसरा अलङ्कार शब्दशक्ति के सामर्थ्य द्वारा आक्षिप्त होता है और वाच्य अर्थ से भिन्न होता है, वह ध्वनि का विषय होता है।

प्राचीन अलङ्कारवादियो का कथन था कि ध्वनि के शब्दशक्त्युद्भव भेद को मानने की आवश्यकता नही है, क्योकि यह सब श्लेष अलङ्कार ही है। ध्वनिकार ने इसका उत्तर दिया था कि यदि साक्षात्शब्दशक्ति से वस्तुमात्र दो अर्थों का एक साथ बोध होता है तो यह श्लेष अलङ्कार का विषय है, जैसे कि "येनध्वस्तमनोभवेन" श्लोक मे है, और जहाँ शब्दशक्ति के सामर्थ्य से दूसरे अलङ्कार की प्रतीति वाच्यरूप मे हो, वह भी श्लेष का विषय होगा। परन्तु जहाँ शब्दशक्ति के सामर्थ्य से दूसरा अलङ्कार आक्षिप्त होता है और यह वाच्य के रूप मे नहीं, अपितु व्यङ्ग्य रूप मे होता है, वह ध्वनि का ही विषय है।

ध्वनिकार अब शब्दशक्ति से वाच्य रूप मे प्रतीत होने वाले अलङ्कारान्तर का उदाहरण देते हैं—

शब्दशक्त्या साक्षादलङ्कारान्तरप्रतिभा यथा—

तस्या विनापि हारेण निसर्गादेव हारिणौ ।
जनयामासतु कस्य विस्मय न पयोधरौ ॥

अत्र शृङ्गारव्यभिचारी विस्मयाख्यो भाव साक्षाद विरोधालङ्कारश्च प्रतिभासते इति विरोधच्छायानुग्राहिण श्लेषस्यायं विषय । न त्वनुस्वानोपमव्यङ्ग्यस्य ध्वने । अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यस्य तु ध्वनेर्वाच्येन श्लेषेण विरोधेन वा व्यञ्जितस्य विषय एव ।

हिन्दी अर्थ—शब्दशक्ति से साक्षात दूसरे अलङ्कार की प्रतीति जसे—

हार के बिना भी स्वभाव से ही हार से युक्त (मन का हरण करने वाले) उसके पयोधरो ने किस व्यक्ति मे विस्मय को उत्पन्न नहीं किया ।

हारेण विनापि हारिणौ=हार के बिना भी जो हारयुक्त हैं, इस प्रकार विरोध होने पर हारिणौ पद का अर्थ मन को हरण करने वाले किया जाता है और विरोध का परिहार होता है । अत यहाँ विरोध अलङ्कार वाच्य है ।

हिन्दी अर्थ—यहाँ शृङ्गार रस विस्मय नाम का व्यभिचारी भाव और विरोध अलङ्कार साक्षात् वाच्य अर्थ के रूप म प्रतिभासित हो रहे हैं । इस प्रकार यह काव्य विरोध की छाया से अनुगृहीत श्लेष अलङ्कार का विषय है अनुस्वान सदृश व्यङ्ग्य रूप ध्वनि का नहीं । परन्तु यह वाच्य रूप श्लेष या विरोध से व्यञ्जित होने वाले अलक्ष्य क्रमव्यङ्ग्य ध्वनि का तो विषय हो ही सकता है ।

अभिप्राय यह है कि इसम विरोध अलङ्कार के या श्लेष अलङ्कार के वाच्य होने से विरोध या श्लेष अलङ्कार है और शब्दशक्त्युद्भव ध्वनि नहा है । परन्तु यहाँ वाच्य श्लेष अथवा विरोध अलङ्कार के द्वारा अद्भुत रस की अभिव्यक्ति होती है और यहाँ असलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि है ।

वृत्ति म श्लेषेण विरोधेन वा म वा पद की व्याख्या अभिनवगुप्त ने इस प्रकार की है— वाग्रहणेन श्लेषविरोधसङ्करालङ्कारोऽयमिति दर्शयति, अनुग्रहयोगादेकतरत्याग ग्रहणनिमित्ताभावो हि वा शब्देन सूच्यते । वा पद के ग्रहण स यह दिखाते हैं कि यहाँ श्लेष और विरोध के सङ्कर से सङ्कर अलङ्कार है । इसम अनुग्राह्य अनुग्राहक भाव के कारण एक के ग्रहण या त्याग के निमित्त का अभाव है, यह सूचित होता है ।

यथा ममैव—

श्लाघ्याशेषतनुं सुदर्शनकरः सर्वाङ्गलीलाजित—
स्त्रैलोक्यां चरणारविन्दललितेनाक्रान्तलोको हरिः ।
बिभ्राणां मुखमिन्दुरूपमखिलं चन्द्रात्मचक्षुर्दधत्
स्थाने यां स्वतनोरपश्यदधिकां सा रुक्मिणी वोऽवतात् ॥

अत्र वाच्यतयैव व्यतिरेकच्छायानुग्राही श्लेषः प्रतीयते । यथा च—

भ्रमिमरतिमलसहृदयतां प्रलयं मूर्च्छा तमः शरीरसादम् ।
मरणं च जलदभुजगजं प्रसह्य कुरुते विषं वियोगिनीनाम् ॥

शब्दशक्ति के सामर्थ्य से वाच्यतया प्रतीत होने वाले दूसरे अलंकार का उदाहरण—

हिन्दी अर्थ—जैसे कि मेरे ही—

सुदर्शनकरः, चरणारविन्दललितेनाक्रान्तलोकः चन्द्रात्मचक्षु दधत् हरि श्लाघ्याशेषतनु, सर्वाङ्गलीलाजितत्रैलोक्याम्, अखिलम् इन्दुरूप मुख बिभ्राणा या स्थाने स्वतनो अधिकाम् अपश्यत् सा रुक्मिणी व अवतात् ।

केवल सुन्दर हाथ वाले (सुदर्शन चक्र को हाथ मे धारण करने वाले), सुन्दर चरणरूपी कमल से (पादविक्षेप से) तीनों लोकों को आक्रान्त करने वाले, चन्द्ररूप नेत्र को धारण करने वाले (जिनका केवल एक नेत्र ही चन्द्र है । पौराणिक वर्णनों के अनुसार चन्द्र और सूर्य को विष्णु नेत्र समझा जाता है विष्णु ने प्रशसनीय समस्त शरीर वाली' सभी अङ्गों के सौन्दर्य से तीनों लोको को जीतने वाली, सम्पूर्ण चन्द्र रूप मुख को धारण करने वाली जिन रुक्मिणी को उचित ही अपने शरीर से अधिक श्रेष्ठ देखा था, वे रुक्मिणी आप की रक्षा करें ।

यहां व्यतिरेक की छाया को पुष्ट करने वाला श्लेष वाच्य रूप से ही प्रतीत होता है ।

इस पद्य मे'स्वतनोरपश्यदधिकाम्' मे व्यतिरेक अलङ्कार आक्षिप्त नही है, अपितु 'अधिक' पद से उक्त होने के कारण वाच्य ही है । इस प्रकार इस पद्य मे श्लेष और व्यतिरेक दोनो के वाच्य होने से अलङ्कार ध्वनि नही होगी ।

और जैसे—

मेघरूप सर्प से उत्पन्न होने वाला विष (विष के दो अर्थ हैं—जल और जहर) विरहिणी युवतियों मे चक्कर आना, उदासीनता, हृदय की बेचैनी, इन्द्रियों का कार्य न करना, मूर्छा, आँखों में अन्धेरा, शरीर का सुन्न हो जाना और मरण, इन विकारों को बलपूर्वक उत्पन्न कर देता है ।

यथा वा—

चमहिग्रमाणसकञ्चणपङ्कग्रणिम्महिग्रपरिमला जस्स ।
ग्रखडिग्रदाणपसारा बाहुप्पलिहा व्विग्र गइदा ॥
(खण्डितमानसकाञ्चनपङ्कजनिर्मथितपरिमला यस्य ।
ग्रखण्डितदानप्रसरा बाहुपरिघा इव गजेन्द्रा ॥)

ग्रत्र रूपकच्छायानुग्राही श्लेषो वाच्यतयैवावभासते ।

स चाक्षिप्तोऽलङ्कारो यत्र पुन शब्दान्तरेणाभिहितस्वरूपस्तत्र न शब्दशक्त्युद्भवानुरणनरूपव्यङ्ग्यध्वनिविकार । तत्र वक्रोक्त्यादिवाच्यालङ्कारव्यवहार एव । यथा—

विप शब्द के जल ग्रौर जहर दो ग्रथ हैं। यदि यहाँ प्रकरण ग्रादि के द्वारा ग्रभिधा का नियन्त्रण होता तो इसका एक ही ग्रथ जल' वाच्य होता। परन्तु 'जलद-भुजग इस रूपक म भुजग पद द्वारा विप ग्रथ भी वाच्य हो जाता है ग्रौर ग्रभिधा दोनो ग्रर्थों को बोधित कराती है। इस प्रकार 'जलदभुजग' मे रूपक ग्रौर इसके सामथ्य से विप म श्लेप दोनो ही ग्रलङ्कार वाच्य हैं। 'भ्रमि' पद से लकर 'मरण पद तक के पदो का ग्रथ दोनो ग्रर्थों म समान है।

ग्रथवा जैसे—

निराश (तोडे गये) शत्रुग्रों के मानस रूपी (मानसरोवर के) स्वर्ण कमलों को निर्मथित करके यश सौरभ से युक्त ग्रौर निरन्तर (दान ग्रौर मदजल) का प्रसार करने वाले जिस राजा के बाहुदण्ड श्रेष्ठ हाथियो के समान हैं।

यहाँ रूपक की छाया को ग्रनुगृहीत करने वाला श्लेप ग्रलङ्कार वाच्य रूप मे ही प्रतीत होता है।

यहा खण्डित मानस परिमल ग्रौर दान शब्दो का वाच्य ग्रथ प्रकरण के कारण निराश, मन यश ग्रौर दान ग्रथ म नियन्त्रित होन पर भी गजेन्द्र शब्द क सामथ्य से तोडे गये मानसरोवर सुगन्ध ग्रौर मदजल ग्रथ में सगत होता है। इस प्रकार दोनो ग्रथ ग्रभिधा की शक्ति स बोधित होन स वाच्य हैं। ग्रभिधा का व्यापार तोडना ग्रादि ग्रर्थों को प्रतिपादित करके भी समाप्त नहा होता ग्रौर निराश ग्रादि ग्रर्थों को बोधित कराता ही है। इसलिए रूपक की छाया की छाया को ग्रनुगृहीत करने वाला श्लेप ग्रलङ्कार भी वाच्य ही है।

हिन्दी ग्रथ—ग्रौर वह ग्राक्षिप्त ग्रलङ्कार यदि शब्दान्तर से पुन ग्रभिहित हो जाता है तो वहाँ भी शब्दशक्त्युद्भव ग्रनुरणनरूपव्यङ्ग्य ध्वनि का व्यवहार नहीं होता। वहाँ वक्रोक्ति ग्रादि वाच्य ग्रलङ्कार का ही व्यवहार होता है।

'ग्राक्षिप्त पद क ग्रथ की व्याख्या करते हुए यह स्पष्ट किया गया था कि जहाँ ग्रभिधा को नियन्त्रित करने वाले प्रकरण ग्रादि हेतु विद्यमान होते हैं वहाँ ग्रभिधा क एक ग्रर्थ म नियन्त्रित हो जान क कारण दूसरे ग्रथ की ग्रनुपपत्ति म ग्रभिधा का व्यापार

दृष्ट्या केशवगोपरागहृतया किञ्चिन्न दृष्टं मया
तेनैव स्खलितास्मि नाथ पतितां किन्नाम नालम्बसे ।
एकस्त्वं विषमेषु खिन्नमनसां सर्वाबलानां गति-
र्गोप्यैवं गदितः सलेशमवताद् गोष्ठे हरिर्वश्चिरम् ॥

एवंजातीयकः सर्व एव भवतु काम वाच्यश्लेषस्य विषयः ।

यत्र तु सामर्थ्याक्षिप्तं सदलङ्कारान्तरं शब्दशक्त्या प्रकाशते स सर्व एव ध्वनेर्विषयः । यथा—

नही होता । दूसरा अर्थ वहाँ व्यञ्जना द्वारा प्रतीत होता है और वह आक्षिप्त कहलाता है । परन्तु यदि वहाँ कोई ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जावे, किसी ऐसे शब्द का प्रयोग कर दिया जावे कि अभिधा को नियन्त्रित करने वाले प्रकरण आदि शक्ति का अपहरण हो जावे, तब वह अभिधा शक्ति बाधित होती हुई भी दूसरे अर्थ का बोध करा देगी तथा वह दूसरा अर्थ भी वाच्य होगा । इस अवस्था मे दूसरा अर्थ रूप अलङ्कार वाच्य होगा ध्वनि नही । इसी को स्पष्ट करने के लिये ध्वनिकार ने कहा कि यदि कोई अलङ्कार आक्षिप्त (व्यङ्ग्य) भी है, परन्तु बाद मे शब्दान्तर से अभिहित हो जाता है, तो वहाँ शब्दशक्त्युद्भव अनुरणनरूप व्यङ्ग्य ध्वनि नही रहती । इन अवस्थाओ मे वक्रोक्ति आदि अलङ्कार वाच्य ही होते हैं । इसको उदाहरण से पुष्ट करते हैं—

हिन्दी अर्थ—

जैसे—

हे केशव ! गौओ के द्वारा उड़ाई गई धूलि के कारण दृष्टि का हरण हो जाने से मैंने कुछ भी नहीं देखा था, हे स्वामिन् ! इस कारण फिसल कर गिरी हुई मुझ को सहारा क्यो नहीं देते हो । ऊबड़ खाबड़ मार्गों मे दु खी मन वाले सब निर्बल जनो की तुम अकेले ही गति हो । इस प्रकार गोपी के द्वारा गोशाला मे लेश के साथ (द्व्यर्थ-सूचक शब्दों मे) कहे गये हरि तुम्हारी चिरकाल तक रक्षा करें ।

हिन्दी अर्थ—जहाँ शब्दशक्ति के द्वारा सामर्थ्य से आक्षिप्त होकर दूसरा अलङ्कार प्रकाशित होता है, वह सब ध्वनि का ही विषय है । जैसे—

इस पद्य मे लेश के द्वारा गोपी ने अपने हृदय की आन्तरिक अभिलाषा व्यक्त की है । वह इस प्रकार है—

केशव नायक गोप के प्रति अनुराग से दृष्टि (सदसद्विवेक) के हरण कर लिये जाने के कारण मैंने कुछ भी नही देखा था (विचार किया था) । इस कारण हे स्वामिन् ! (पतिव्रत धर्म से मैं भ्रष्ट हो गई हूँ । अब इस पतिता को आप सहारा क्यों नही देते, (पतिभाव से ग्रहण क्यों नहीं करते) । कामदेव से पीडित मन वाली सभी अबलाओ (स्त्रियो) की तुम ही एकमात्र गति हो (कामनाओं को पूरा करने वाले हो) । इस प्रकार से गोशाला में गोपी के द्वारा लेश के साथ कहे गये हरि आप की रक्षा करें ।

अत्रान्तरे कुसुमसमययुगमुपसंहरन्नजृम्भत ग्रीष्माभिधानः फुल्लमल्लिकाधवलाट्टहासो महाकालः" ।

इस प्रकार के सभी उदाहरण वाच्य श्लेष अलङ्कार के ही विषय होंगे।

इस पद्य में 'केशवगोपरागहृतया', 'स्खलिता', 'पतिता', विषमेषुखिन्नमनसाम् आदि पद अनेकार्थक हैं। यदि यहाँ 'सलेश' पद का प्रयोग न होता तो प्रकरण आदि हेतु के सामर्थ्य से इस पद्य का पहला अर्थ वाच्य होता तथा यदि दूसरे अर्थ की प्रतीति होती तो वह व्यङ्ग्य या आक्षिप्त होती। इस प्रकार यहाँ शब्दशक्तिमूलक अलङ्कार ध्वनि होती। परन्तु 'सलेश' पद के प्रयोग ने प्रकरण आदि की नियामक शक्ति का अपहरण कर लिया और दूसरे अर्थ शब्दान्तर से अभिहित हो गये। इसलिये यहाँ अलङ्कार ध्वनि न होकर श्लेष अलङ्कार ही होगा। इसीलिये ध्वनिकार ने कहा कि इस प्रकार के स्थल वाच्य श्लेष अलङ्कार के ही विषय होंगे। परन्तु जहाँ दूसरा अलङ्कार शब्दशक्ति के सामर्थ्य से आक्षिप्त होकर प्रकाशित होता है, वह सब ध्वनि का विषय होगा। इसी को स्पष्ट करते हैं—

इसी बीच में कुसुमों के समय के युगल का (पुष्पों की समृद्धि वाले वसन्त ऋतु के दो महीनों का) उपसंहार करता हुआ और विकसित मल्लिकाओं (जूही के पुष्पों) से अट्टालिकाओं को धवलित करने वाले हास (विकास) से युक्त ग्रीष्म नाम का महाकाल प्रकट हुआ।

इससे दूसरा अर्थ इस प्रकार व्यञ्जित होता है—

इसी मध्य में कामदेव और वसन्त ऋतु के युगल को समाप्त करते हुये और खिली हुई मल्लिकाओं के समान शुभ्र अट्टहास करने वाले महाकाल (भगवान् शिव) प्रकट हुये।

यहाँ प्रकरण आदि के सामर्थ्य से ऋतु के वर्णन में वाच्य अर्थ सङ्गत होता है। परन्तु महाकाल शब्द की सामर्थ्य से यहाँ शिव के पक्ष में भी द्वितीय अर्थ की प्रतीति होती है, जो कि व्यङ्ग्य है। इससे शिव और ग्रीष्म ऋतु में सादृश्य की अभिव्यञ्जना होकर उपमा अलङ्कार व्यञ्जित होता है। अतः यहाँ शब्दशक्तिमूल ध्वनि है।

शब्दशक्ति से द्वितीय अर्थ की अभिव्यक्ति की प्रक्रिया किस प्रकार होती है, इस सम्बन्ध में अनेक मत हैं, जिनका उल्लेख अभिनवगुप्त ने किया है।

(१) कुछ विद्वानों के अनुसार—महाकाल शिव अर्थ में रूढ है तथा ग्रीष्म ऋतु के पक्ष में यौगिक है। यद्यपि यौगिक अर्थ की अपेक्षा रूढ अधिक मुख्य होता है, तथापि उदाहरण में प्रकरण के कारण ग्रीष्म ऋतु अर्थ ही अन्वित होता है। अतः यहाँ अभिधेय वाच्य अर्थ ग्रीष्म ऋतु है। परन्तु अध्येताओं के लिये महाकाल पद का रूढ अर्थ शिव अधिक प्रसिद्ध है। अतः अभिधाशक्ति के प्रकरण के द्वारा नियन्त्रित हो जाने पर भी यहाँ ध्वनन व्यापार द्वारा अप्राकरणिक शिव अर्थ की भी प्रतीति हो जाती है। यह व्यङ्ग्य अर्थ की प्रतीति शब्दशक्तिमूल ध्वनि है।

(२) दूसरे विद्वानों का कथन है कि यहाँ सभी अर्थों की प्रतीति अभिधा द्वारा ही होती है। परन्तु यहाँ अभिधा के दो व्यापार हैं तथा यह अभिधा दो हो जाती है। पहली अभिधा से प्रकरण आदि के सामर्थ्य से वाच्य ऋतु के पक्ष में अर्थ बोधित है। अब प्रकरण आदि द्वारा क्योंकि 'महाकाल' का ग्रीष्म ऋतु के पक्ष मे अर्थ नियन्त्रित हो गया है, अत दूसरी अभिधा कार्य करती है। ग्रीष्म ऋतु का भीषण देवता विशेष शिव से सादृश्य होने से सहकारित्व के प्रभाव से शिवरूप अर्थ भी विदित होता है। यहाँ क्योंकि यह दूसरी अभिधा सहकारी रूप से सहारा लेकर दूसरे अर्थ को बोधित करती है, अत इसको ध्वननरूप कहा जाता है।

(३) कुछ समालोचक कहते हैं—श्लेष मे दो भिन्न-भिन्न शब्द एक साथ संश्लिष्ट हो जाते है। जैसे "सर्वदोमाधव" म 'सर्वदा उमाधव' तथा 'सर्वद माधव' दो शब्द मश्लिष्ट होने से शब्दश्लेष है और "अन्धकक्षयकर." म ये शब्द इसी प्रकार से दो बार आवृत्त होते हुये भी एक स्थान पर संश्लिष्ट होते हैं। इनमे दो अर्थों की प्रतीति के लिये हमे इनको पुन आवृत्त करना पडता है। जैसे 'सर्वदोमाधव" से शिव अर्थ करने मे पहले 'सर्वदा उमाधव' पद लायेंगे तथा पुन विष्णु अर्थ करने म 'सर्वद माधव' पद लायेंगे। इसी प्रकार 'अन्धकक्षयकर' मे इन पदो से एक बार शिव के पक्ष मे अर्थ करके पुन विष्णु के पक्ष मे अर्थ करने के लिये इनको दुबारा आवृत्त करेंगे। यह स्थिति इसी प्रकार की है जैसे दो प्रश्नो 'क इतो धावति' और 'कीदृश. इतो धावति' का उत्तर एक ही वाक्य 'श्वेतो धावति' होगा। पहले प्रश्न का उत्तर होगा—'श्वा इतो धावति' और दूसरे प्रश्न का उत्तर 'श्वेतो धावति' होगा। इस प्रकार के व्यापारो मे यदि दूसरा अर्थ करने के लिये प्रकरण आदि हेतुओ की बाधा के बिना ही पद आवृत्त हो जावें, तो यह अर्थ अभिधा व्यापार से ही हो जावेगा। परन्तु यदि प्रकरण आदि की बाधा हो तो पदो की आवृत्ति ध्वनन व्यापार से होती है और वह दूसरा अर्थ व्यङ्ग्य हो जाता है।

(४) कुछ समालोचको का मत है कि प्रथम प्राकरणिक अर्थ का बोध अभिधा से होता है, अत वह वाच्य अर्थ है। इसके बाद प्रकरण आदि द्वारा अभिधा नियन्त्रित हो जाती है। परन्तु इस अवस्था म भी सादृश्य आदि के सामर्थ्य से अभिधा शक्ति पुन उज्जीवित होकर दूसरे अर्थ का बोध कराती है तथा दूसरा अर्थ भी वाच्य होता है। दूसरे अर्थ की प्रतीति के अनन्तर पहले एव दूसरे अर्थ मे साम्य प्रतीत होने से उनमे उपमान-उपमेय आदि भावो की कल्पना की जाती है। यह कल्पना ही व्यञ्जना वृत्ति का विषय है और इस कल्पना मे जिस अलङ्कार की छाया होती है, वह अलङ्कार ध्वनि का विषय होता है। अत "कुसुमसमययुगमुपसहरन्०" मे शिव और ग्रीष्म ऋतु मे उपमान-उपमेय भाव की कल्पना होने से उपमालङ्कार ध्वनि है।

यथा च—

उन्नतः प्रोल्लसद्धारः कालागुरुमलीमसः ।
पयोधरभरस्तन्व्याः क न चक्रेऽभिलाषिणम् ॥

यथा वा—

दत्तानन्दाः प्रजानां समुचितसमयाकृष्टसृष्टैः पयोभिः,
पूर्वाह्णे विप्रकीर्णा दिशि दिशि विरमत्यह्नि संहारभाजः ।
दीप्तांशोर्दीर्घदुःखप्रभवभवभयोदन्वदुत्तारनावो,
गावो वः पावनानां परमपरिमितां प्रीतिमुत्पादयन्तु ॥

शब्दशक्ति से सामर्थ्याक्षिप्त अलङ्कारान्तर का दूसरा उदाहरण—

हिन्दी अर्थ—और जैसे—

ऊपर को उठा हुआ, हार से शोभायमान होता हुआ, काले अगर के लेप से कृष्ण वर्ण का होता हुआ, तन्वी युवती के पयोधरों का भार किसको अभिलाषी नहीं बना देता ।

इस पद्य मे शब्दशक्ति के सामर्थ्य से दूसरा अर्थ मेघ के पक्ष मे इस प्रकार आक्षिप्त होता है—

ऊपर को उठता हुआ, जल की धारा से या विद्युत् की धारा से शोभायमान होता हुआ और काले अगर के समान कृष्ण वर्ण का मेघो का समूह किस व्यक्ति को तन्वी युवती के लिये अभिलाषी नहीं बना देता ।

यहाँ प्रकरण आदि के सामर्थ्य से नियन्त्रित अभिधा द्वारा पद्य का अर्थ तन्वी के स्तनभार को बोधित करता है, जो कि वाच्य अर्थ है । इसके अतिरिक्त शब्दशक्ति के सामर्थ्य से 'पयोधर भर' का दूसरा मेघ अर्थ आक्षिप्त होता है । इससे स्तन और मेघ मे साम्य की कल्पना होने से शब्दशक्तिमूल उपमा ध्वनि है । अत यह पद्य श्लेषालङ्कार का नहीं, अपितु ध्वनि का विषय है ।

शब्दशक्ति के सामर्थ्य से आक्षिप्त अलङ्कारान्तर का तीसरा उदाहरण—

हिन्दी अर्थ—अथवा जैसे—

समुचित समय मे (ग्रीष्म काल में) आकृष्ट करके (समुद्र आदि से जल के वाष्पो के रूप मे) प्रदान किये गये (वर्षारूप मे) जलों से प्रजाओं को आनन्द देने वाली, प्रातःकाल के समय प्रत्येक दिशा मे फैल जाने वाली और दिन के समाप्त होने पर अपने आपको समेट लेने वाली, लम्बे दुःख के कारण भूत ससार के भयरूपी समुद्र को पार कराने के लिये नौकारूप, पवित्र करने वालों मे सर्वश्रेष्ठ सूर्य की किरणें आपके लिये अपरिमित प्रसन्नता को उत्पन्न करें ।

यहाँ 'गावः' पद मे दूसरे अर्थ 'गौयें' का आक्षेप होकर निम्न अर्थ प्रकट होता है—

एषूदाहरणेषु शब्दशक्त्या प्रकाशमाने सत्यप्राकरणिकेऽर्थान्तरे, वाक्यस्यासम्बद्धार्थाभिधायित्वं मा प्रसाङ्क्षीदित्यप्राकरणिकप्राकरणिकार्थयोरुपमानोपमेयभावः कल्पयितव्यः। सामर्थ्यादित्यर्थाक्षिप्तोऽयं श्लेषो न शब्दोपारूढ इति विभिन्न एव श्लेषादनुस्वानोपमव्यङ्ग्यस्य ध्वनेर्विषयः।

उचित समय पर (दोहन से पूर्व समय मे) आकृष्ट करके (ग्रयन मे चढाकर) प्रदान किये गये दूध से प्रजा को आनन्द देने वाली, प्रातःकाल में प्रत्येक दिशा मे (चरने के लिये) बिखरी हुई और दिन के समाप्त होने पर एकत्रित हो जाने वाली (घर लौटने के लिये), दीर्घकालव्यापी दुःख के उत्पन्न करने वाले संसार के भयरूपी समुद्र की नौकारूप (पौराणिक वर्णनों के अनुसार गौओं का पालन धर्म का अंग है, जो भवसागर से पार उतारता है) और पवित्र करने वालों में श्रेष्ठ (गौओं को पवित्र करने वाला समझा जाता है) गौयें तुमको असीमित प्रसन्नता प्रदान करें।

यहाँ प्रकरण के सामर्थ्य से अभिधा के नियन्त्रित होने से 'गाव' का वाच्य अर्थ 'किरणें' है। परन्तु वाच्य के सामर्थ्य से यहाँ 'गाव' का अर्थ 'गौयें' भी आक्षिप्त होता है, जो कि व्यङ्ग्य अर्थ है। इससे सूर्य की किरणों और गौओं में उपमान-उपमेय भाव की कल्पना होती है अतः यह शब्दशक्तिमूल अलङ्कारध्वनि है।

इन उदाहरणों में शब्दशक्ति से अप्राकरणिक दूसरे अर्थ के प्रकाशित होने पर वाक्य की असम्बद्धार्थ बोधकता प्रसक्त न हो, इस कारण अप्राकरणिक और प्राकरणिक अर्थों में उपमानोपमेय भाव की कल्पना करनी चाहिये। यह श्लेष शब्द सामर्थ्य से आक्षिप्त है, न कि शब्दनिष्ठ है, अतः अनुस्वानोपमव्यङ्ग्य ध्वनि का विषय श्लेष अलंकार से भिन्न ही है।

शब्दशक्तिमूल और श्लेष अलङ्कार के विषय की भिन्नता प्रदर्शित करने के लिये पहले आचार्य ने ६ उदाहरण "(येन ध्वस्तमनोभवेन०)" से लेकर 'दृष्ट्या केशवगोपरागहृतया" तक) श्लेष अलङ्कार के विषय के उद्धृत किये। तदनन्तर उन्होंने तीन उदाहरण ("अत्रान्तरे कुसुमसमययुगम्०", "उन्नत प्रोल्लसद्धार०" और "दत्तानन्दा प्रजानाम्०") शब्दशक्तिमूल ध्वनि के विषय के दिये। आचार्य का कहना है कि इनमें अभिधा द्वारा प्राकरणिक अर्थ का बोध होता है और प्रकरण के सामर्थ्य से अभिधा उस प्राकरणिक अर्थ में नियन्त्रित हो जाती है। तदनन्तर शब्द की शक्ति के सामर्थ्य से व्यञ्जना द्वारा अप्राकरणिक अर्थ का भी बोध होता है। अब यह अर्थ क्योंकि अप्राकरणिक है, इसलिये वाक्य से असम्बद्ध प्रतीत होगा। इस अर्थ की वाक्य से असम्बद्धता प्रतीत न हो, अतः प्राकरणिक और अप्राकरणिक अर्थों में उपमान-उपमेय भाव की कल्पना कर लेनी चाहिये। इस प्रकार प्रस्तुत वाच्यार्थ उपमेय और अप्रस्तुत व्यङ्ग्य अर्थ उपमान होगा। द्वितीय अर्थ के वाच्य न होने से, शब्दनिष्ठ न होने एवं व्यङ्ग्य होने से यह श्लेष अलंकार का विषय नहीं होगा, अपितु शब्दशक्तिमूल ध्वनि का विषय होगा।

अन्येऽपि चालङ्काराः शब्दशक्तिमूलानुस्वानरूपव्यङ्ग्ये ध्वनौ सम्भवन्त्येव । तथा हि विरोधोऽपि शब्दशक्तिमूलानुस्वानरूपो दृश्यते । यथा स्थाण्वीश्वराख्यजनपदवर्णने भट्टबाणस्य—

"यत्र च मातङ्गगामिन्य. शीलवत्यश्च, गौर्यो विभवरताश्च, श्यामा· पद्मरागिण्यश्च, धवलद्विजशुचिवदना मदिरामोदिश्वसनाश्च प्रमदा "।

दूसरे अलङ्कारो का शक्तिमूल विषयत्व—

हिन्दी अर्थ—शब्दशक्तिमूल अनुस्वानरूपव्यङ्ग्य ध्वनि मे दूसरे अलकार भी सम्भव हो सकते है । जैसा कि विरोध भी शब्दशक्तिमूल अनुस्वानरूप दृष्टिगोचर होता है । जैसाकि बाणभट्ट के स्थाण्वीश्वर नामक जनपद का वर्णन करने मे है—

और जहाँ नारियाँ गजगामिनी तथा सदाचारिणी हैं (मातङ्ग अर्थात् चाण्डालो मे गमन करने वाली एव शीलवती । इस अर्थ मे विरोध है । परन्तु मातङ्गगामिनी का अर्थ गजगामिनी करने पर विरोध नहीं रहता), गोरे वर्ण की है और ऐश्वर्य सम्पन्न हैं (गौरी अर्थात पार्वती हैं तथा विभव अर्थात् शिव से भिन्न व्यक्ति के प्रति अनुरक्त हैं। इस अर्थ मे विरोध है । परन्तु गौरी का अर्थ गोरे वर्ण की तथा विभव का अर्थ ऐश्वर्य करने पर विरोध नहीं रहता ।) यौवनवती युवती हैं तथा पद्मराग मणियों को धारण करने वाली हैं । श्याम वर्ण की हैं और लाल कमल के समान रंग वाली हैं । इस अर्थ मे विरोध है । परन्तु श्यामा का अर्थ यौवनमध्यस्था युवती और पद्मराग का अर्थ पद्मराग मणि करने पर यह विरोध नहीं रहता), निर्मल दाँतो से युक्त उज्ज्वल मुख वाली और मदिरा से सुगन्धित श्वास वाली हैं (निर्मल ब्राह्मणों के समान पवित्र मुख वाली और मदिरा की गन्ध से युक्त श्वास वाली हैं । इसमे विरोध है । परन्तु द्विज का अर्थ दात करने पर विरोध नहीं रहता) ।

आनन्दवधन ने यह उदाहरण बाणभट्ट के 'हर्षचरित' से उद्धृत किया है । परन्तु यह उद्धरण पूरा नही है । उसम "प्रमदा" से पूर्व इतने पद और हैं—

"चन्द्रकान्तवपुष शिरीषकोमलाङ्गघश्च, अभुजङ्गगम्या कञ्चुकिन्यश्च, पृथुकलत्रश्रिया दरिद्रमध्यकलिताश्च, लावण्यवत्यो मधुभाषिण्यश्च, अप्रमत्ता प्रसन्नोज्ज्वलरागाश्च, अकौतुका प्रौढाश्च "।

परन्तु आचार्य का इस उदाहरण को प्रस्तुत करने का उद्देश्य इतने से ही पूरा हो गया होगा, इसीलिये उन्होंने शेष अश को छोड दिया । परन्तु कुछ सस्करणों मे इस अवशिष्ट अश को कोष्ठक के अन्दर देकर प्रकाशित कर दिया गया है ।

इस उदाहरण म शब्द के सामर्थ्य से आक्षिप्त विरोध अलकार व्यञ्जित होता है । अत यह शब्दशक्तिमूल अनुस्वानामव्यङ्ग्य ध्वनि है ।

यहाँ एक शङ्का उत्पन्न होती है कि इस उदाहरण मे विरोध अलकार अथवा उसकी छाया का अनुग्राहक श्लेष वाच्य है अत यह शब्दशक्तिमूल ध्वनि नहीं है । इसका विवेचन ध्वनिकार ने इस प्रकार किया है—

अत्र हि वाच्यो विरोधस्तच्छायानुग्राही वा श्लेषोऽयमिति न शक्यं वक्तुम् । साक्षाच्छब्देन विरोधालङ्कारस्य प्रकाशिततत्वात् । यत्र हि साक्षाच्छब्दावेदितो विरोधालङ्कारस्तत्र हि श्लिष्टोक्तौ वाच्यालङ्कारस्य विरोधस्य श्लेषस्य वा विषयत्वम् । यथा तत्रैव—

'समवाय इव विरोधिनां पदार्थानाम् । तथाहि—सन्निहितबालान्धकारापि भास्वन्मूर्तिः' । इत्यादौ ।

यथा वा ममैव—

सर्वैकशरणमक्षयमधीशमीशं धिया हरिं कृष्णम् ।
चतुरात्मानं निष्क्रियमरिमथनं नमत चक्रधरम् ॥

हिन्दी अर्थ—यहाँ विरोध अलकार या उसकी छाया का अनुग्राहक श्लेष अलकार वाच्य है, यह नहीं कहा जा सकता । कारण यह है कि यहाँ विरोध अलकार को साक्षात् शब्द द्वारा प्रकाशित नहीं किया गया । क्योंकि जहाँ विरोध अलकार का साक्षात् शब्द द्वारा कथन किया जाता है, वहाँ उक्ति के श्लिष्ट होने पर विरोध या श्लेष वाच्य अलकार का विषय होगा । जैसे कि वहीं पर—

कहने का तात्पर्य यह है कि इस उदाहरण मे विरोध को या उसकी छाया के अनुग्राहक श्लेष को वाच्य नही समझा जा सकता । अलकार का वाच्यत्व तब होता, जबकि उसका कथन साक्षात् शब्द से किया जाता । परन्तु "यत्र च मातङ्गिन्य०" उदाहरण मे विरोध के साक्षात् शब्द से कथित न होने से वह वाच्य नही है । विरोध का वाच्यत्व उसी प्रकरण मे निम्न स्थल पर है—

हिन्दी अर्थ—विरोधी पदार्थों का समुदाय सा था । जैसेकि- बाल रूप अन्धकार से युक्त होते हुये भी चमकती हुई मूर्ति वाला था, इस प्रकार विरोध है। परन्तु अन्धकार रूप काले बालो से युक्त होता हुआ और चमकते हुये स्वरूप वाला था यह अर्थ करने पर विरोध नहीं रहता ।

इत्यादि मे विरोध या विरोध की छाया का अनुग्राहक श्लेष अलकार वाच्य है । यहाँ 'समवाय इव विरोधिना' कहकर विरोध के स्वशब्द से आवेदित किया गया है। तदनन्तर अपि शब्द ने विरोध को वाच्य बना दिया है । परन्तु "यत्र च मातङ्गगामिन्य शीलवत्यश्च०" मे इन पदो के न होने के कारण विरोध को या विरोध की छाया के अनुग्राहक श्लेष को वाच्य नही कहा जा सकता ।

एक शङ्का और हो सकती है । 'सन्निहितबालान्धकारापि भास्वन्मूर्ति' में यदि 'अपि' शब्द विरोध का वाचक है, तो 'यत्र च मातङ्गगामिन्य शीलवत्यश्च' मे 'च' पद को विरोध का वाचक मान लेना चाहिये । इन उदाहरणो मे 'च' पद का पुन पुन प्रयोग विरोध की वाच्यता को सूचित करता है, व्यङ्ग्यता को नही । समालोचको की इस अरुचि को ध्यान में रखकर शब्दशक्तिमूल विरोध ध्वनि का दूसरा उदाहरण ध्वनिकार देते हैं—

हिन्दी अर्थ—जैसा कि मेरी रचना में है—

जो भगवान्—सबके एकमात्र शरण (घर) हैं और क्षय (घर) नहीं हैं, बुद्धि के स्वामी (धी+ईश) नहीं है और बुद्धियो के स्वामी हैं, हरे वर्ण के (हरि) हैं और काले (कृष्ण) वर्ण के हैं, पराक्रम से युक्त (चतुरात्मा) हैं और निष्क्रिय हैं, अरों से युक्त चक्र का मथन करने वाले हैं और चक्र को धारण करने वाले हैं ।

अत्र हि शब्दशक्तिमूलानुस्वानरूपो विरोधः स्फुटमेव प्रतीयते । एवंविधो व्यतिरेकोऽपि दृश्यते । यथा ममैव—

खं येऽत्युज्ज्वलयन्ति लूनतमसो ये वा नखोद्भासिनो
ये पुष्णन्ति सरोरुहश्रियमपि क्षिप्ताब्जभासश्च ये ।
ये मूर्धस्ववभासिनः क्षितिभृतां ये चामराणां शिरां-
स्युत्क्रामन्त्युभयेऽपि ते दिनपतेः पादाः श्रिये सन्तु वः ॥

भगवान् के इस स्वरूप-वर्णन मे विरोध प्रतीत होता है । परन्तु निम्न प्रकार से अर्थ करने पर विरोध नहीं होगा—

सबके एकमात्र शरण है और अविनाशी हैं, सम्पूर्ण त्रिलोकी के स्वामी हैं और बुद्धियो के स्वामी हैं, विष्णुस्वरूप (हरि) हैं और कृष्ण स्वरूप हैं। सर्वज्ञस्वरूप हैं और निष्क्रिय हैं, शत्रुओं का विनाश करने वाले हैं और चक्र को धारण करने वाले हैं।

यहाँ शब्दशक्तिमूल अनुस्वानरूप विरोध ध्वनि स्पष्ट रूप से प्रतीत होती है।

शब्दशक्तिमूल विरोध ध्वनि का उदाहरण—

हिन्दी अर्थ—इस प्रकार की शब्दशक्तिमूल व्यतिरेक ध्वनि भी दृष्टिगोचर होती है। जैसे कि मेरी ही रचना मे है—

सूर्य के वे दोनो ही प्रकार के पाद (किरणरूप पाद और चरणरूप पाद) तुम्हारे कल्याण के लिये होवें। दोनो के गुणो का वर्णन करते हैं—अन्धकार का विनाश करने वाले (किरणरूप पाद) आकाश को अत्यधिक प्रकाशमान करते हैं तथा (चरणरूप पाद) नखों से सुशोभित हैं (आकाश को उद्भासित नहीं करते), जो (किरण रूप पाद) कमलो की शोभा को पुष्ट करते हैं तथा (चरणरूप पाद) कमलों की शोभा को तिरस्कृत करते हैं, जो (किरणरूप पाद) पर्वतों के शिखरों पर प्रकाशित होते हैं अथवा राजाओं के सिरों पर अवभासित होते हैं, और जो (चरणरूप पाद) देवताओं के सिरों का भी (प्रणाम के समय) अतिक्रमण करते हैं।

इस पद्य मे सूर्य के दो प्रकार के पादो (किरणो एव चरणो) का वर्णन किया गया है। इसमे चरणरूपी पाद नखोद्भासी, कमलो की कान्ति को तिरस्कृत करने वाले और देवताओं के सिरो का अतिक्रमण करने वाले हैं। इन पादो की अपेक्षा से किरणरूपी पाद आकाश को प्रकाशित करने वाले, कमलो की शोभा को पुष्ट करने वाले और पर्वतो के शिखरो को अवभासित करने वाले होने के कारण अतिशय गुण वाले हैं। अत यहाँ व्यतिरेक अलङ्कार के व्यञ्जित होने से शब्दशक्तिमूल अनुस्वानोपम व्यतिरेक ध्वनि है। यहाँ 'नखोद्भासिनः' आदि पदो की सामर्थ्य से विरोध ध्वनि भी हो सकती है।

एवमन्येऽपि शब्दशक्तिमूलानुस्वानरूपव्यङ्ग्यध्वनिप्रकाराः सन्ति ते सहृदयैः स्वयमनुसर्तव्याः । इह तु ग्रन्थविस्तरभयान्न तत्प्रपञ्चः कृतः ॥२१॥

हिन्दी अर्थ—इस प्रकार शब्दशक्तिमूलक अनुस्वानरूप व्यङ्ग्य ध्वनि के और भी अनेक प्रकार हो सकते हैं। सहृदयो को स्वय उनका अनुसन्धान करना चाहिये। ग्रन्थ के विस्तार के भय से यहाँ उनका विस्तृत प्रतिपादन नहीं किया गया।

आचार्य आनन्दवर्धन ने शब्दशक्तिमूलक अनुस्वानरूप उपमा, विरोध और व्यतिरेक अलङ्कार ध्वनियो के उदाहरण दिये हैं। उनका कहना है कि इस प्रकार से अनेक अलङ्कार ध्वनि रूप हो सकते है। यदि उन सभी का यहाँ वर्णन किया जाता तो ग्रन्थ का विस्तार बहुत अधिक हो जाता। इसलिये उनका विस्तृत प्रतिपादन यहाँ नही किया गया। सहृदय स्वय ही काव्या मे उनका अनुसन्धान कर सकते है।

विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि के दो भेद किये गये थे—असलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य और सलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य। पहले रसादि रूप असलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि की विवेचना करके आचार्य ने सलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि का विवेचन किया। इसके उन्होंने दो भेद किये—शब्दशक्त्युद्भव और अर्थशक्त्युद्भव। उत्तरवर्ती आचार्यों ने शब्द और अर्थ की शक्ति का समन्वय करके उभयशक्त्युद्भव ध्वनि का भी विभाजन किया है तथा सलक्ष्यक्रम-व्यङ्ग्य को तीन प्रकार का वर्गीकृत किया है। उत्तरवर्ती आचार्यों ने शब्दशक्त्युद्भव के दो भेद किये—वस्तु ध्वनि और अलङ्कार ध्वनि। परन्तु 'ध्वन्यालोक' मे यहाँ इस प्रकरण मे आचार्य ने अलङ्कार ध्वनि का ही विवेचन किया है। वस्तुध्वनि का नही। आचार्य विश्वेश्वर ने अपनी 'ध्वन्यालोक' की टीका म इसका हेतु यह दिया है कि—"अलङ्कार ध्वनि के स्पष्टीकरण के लिये जो इतना अधिक प्रयत्न ग्रन्थकार ने किया, वह सम्भवत उसके विवादास्पद स्वरूप और महत्व को ध्यान मे रखकर किया है। वस्तु ध्वनि के अधिक स्पष्ट और विवादरहित होने के कारण ही उसका विवेचन नही किया है। (आचार्य विश्वेश्वर की ध्वन्यालोक की हिन्दी व्याख्या-द्वितीय सस्करण-२०२८ वि० पृ० १३१)।

परन्तु यह हेतु कुछ सगत प्रतीत नही होता। सम्भवत आचार्य आनन्दवर्धन शब्दशक्तिमूल वस्तु ध्वनि को स्वीकार ही नही करते थे। उन्होंने अलङ्कारध्वनि की विवेचना म स्वय लिखा है "जिस काव्य मे केवल अलङ्कार ही, वस्तुमात्र नहीं, शब्द-शक्ति से प्रकाशित होता है वही शब्दशक्त्युद्भव ध्वनि विवक्षित है। वस्तुद्वय के शब्द-शक्ति से प्रकाशित होने पर श्लेष अलङ्कार ही होता है। (यस्मादलङ्कारो न वस्तुमात्र यस्मिन् काव्ये शब्दशक्त्या प्रकाशते स शब्दशक्त्युद्भवोध्वनिरित्यस्माक विवक्षितम्। वस्तुद्वये च शब्दशक्त्या प्रकाशमाने श्लेष ।)

अर्थशक्त्युद्भवस्त्वन्यो यत्रार्थः स प्रकाशते ।
यस्तात्पर्येण वस्त्वन्यद् व्यनक्त्युक्तिं विना स्वतः ॥२२॥

यत्रार्थः स्वसामर्थ्यादर्थान्तरमभिव्यनक्ति शब्दव्यापारं विनैव सोऽर्थशक्त्युद्भवो नामानुस्वानोपमव्यङ्ग्यो ध्वनिः ।

इससे स्पष्ट होता है कि शब्दशक्त्युद्भव वस्तुध्वनि को स्वीकार न करने के कारण ही आचार्य आनन्दवर्धन ने इसकी विवेचना नहीं की होगी। अभिनवगुप्त ने भी ध्वनि के भेदों की गणना करते हुये शब्दशक्त्युद्भव ध्वनि को एक ही भेद माना है। उसके अन्य विभाजन नहीं किये। इससे प्रतीत होता है कि वे भी शब्दशक्त्युद्भव वस्तु ध्वनि को नहीं मानते होंगे ॥२१॥

शब्दशक्त्युद्भव ध्वनि की विवेचना करके आचार्य अब शब्दशक्त्युद्भव ध्वनि की विवेचना करते हैं—

अर्थशक्त्युद्भव नाम की दूसरी ध्वनि वह है जहाँ वह अर्थ (अभिधा से बोधित अर्थ) अभिधा शब्दव्यापार के बिना ही स्वतः तात्पर्य से दूसरी वस्तु को प्रकाशित कर दे ॥२२॥

जहाँ अर्थ (वाच्य अर्थ) शब्द के व्यापार के बिना ही अपने सामर्थ्य से दूसरे अर्थ को व्यञ्जित कर देता है, वह अर्थशक्त्युद्भव नामक अनुस्वानोपव्यङ्ग्य ध्वनि है।

तात्पर्येण—यहाँ 'तात्पर्य' का अभिप्राय भाट्ट मीमांसकों की तात्पर्या वृत्ति से नहीं है, जो कि अभिधा वृत्ति के पदों के अर्थ में क्षीण हो जाने के कारण वाक्यार्थ-संगति को तात्पर्या वृत्ति से मानते हैं, अपितु इसको व्यञ्जना व्यापार का ग्राहक समझना चाहिये। तात्पर्य पद का प्रयोग अभिधा वृत्ति के निराकरण के लिये किया गया है कि उस व्यङ्ग्य अर्थ की प्रतीति अभिधा में नहीं होती। वह अभिधा वृत्ति तो वाच्य अर्थ की प्रतीति के अनन्तर ही क्षीण हो जाती है।

उक्तिं विना—शब्दव्यापार के बिना वह व्यङ्ग्य अर्थ स्वशब्दवाच्य नहीं है। 'उक्तिं विना' पद से यही सूचित होता है।

इस प्रकरण में ध्वनिकार ने अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि के स्वरूप तथा भेदों की विवेचना की है। उत्तरवर्ती मम्मट आदि आचार्यों ने अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि के १२ भेद किये हैं। 'ध्वन्यालोक' में भी इसी प्रकार के भेद दिखाये गये हैं, परन्तु वे उतने स्पष्ट नहीं हैं। इस ग्रन्थ में अर्थशक्त्युद्भव के दो मुख्य भेद—प्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीर एवं स्वतःसम्भवी हैं। मम्मट ने प्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीर को एक ही भेद न मानकर दो भेदों में परिगणित करके तीन भेद किये—कविप्रौढोक्तिमात्रसिद्ध, कविनिबद्ध-वक्तृप्रौढोक्तिमात्रसिद्ध और स्वतःसम्भवी। आनन्दवर्धन ने प्रथम दो भेदों को एक भेद प्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीर के अन्तर्गत समाहित कर लिया है। अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि का उदाहरण देते हैं—

यथा—

एवंवादिनि देवर्षौ पार्श्वे पितुरधोमुखी।
लीलाकमलपत्राणि गणयामास पार्वती ॥

अत्र हि लीलाकमलपत्रगणनमुपसर्जनीकृतस्वरूपं शब्दव्यापारं विनैवार्थान्तरं व्यभिचारिभावलक्षणं प्रकाशयति।

न चायमलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यस्यैव ध्वनेर्विषयः। यतो यत्र साक्षाच्छब्द-निवेदितेभ्यो विभावानुभावव्यभिचारिभ्यो रसादीनां प्रतीतिः स तस्य केवलस्य मार्गः।

हिन्दी अर्थ—जैसे कि—

देवर्षि के इस प्रकार कहने पर पिता के समीप नीचे मुख किये बैठी हुई पार्वती लीलाकमल की पखुडियो को गिनने लगी।

यहाँ लीला कमल की पखुडियो की गणना अपने स्वरूप को उपसर्जनीकृत करके (गुणीभूत करके) शब्द के व्यापार के बिना ही व्यभिचारीभाव लक्षणा रूप दूसरे अर्थ को अभिव्यक्त करती है।

इस पद्य मे 'लीलाकमलपत्रगणना' इस अर्थ के कवि ने पार्वती के मन मे उत्पन्न लज्जा या अवहित्था का भाव व्यक्त किया है। यह भाव अभिधा शब्दव्यापार से अभिव्यञ्जित नही है, अपितु व्यङ्ग्य है। इसलिये यह अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि का विषय है।

लोचनकार की व्याख्या के अनुसार इस पद्य मे अभिव्यक्त व्यभिचारीभाव (अर्थान्तरमिति लज्जात्मकम्), परन्तु विश्वनाथ ने इसमे अवहित्था नामक व्यभिचारी भाव बताया है। अवहित्था का लक्षण है—

"भयगौरवलज्जादेर्हर्षाद्याकारगुप्तिरवहित्था। व्यापारान्तरासक्तिरन्यथाभाषण-विलोकनादिकरी।"

भय, गौरव, लज्जा, हर्ष आदि के कारण आकारगोपन को अवहित्था कहते हैं। इससे व्यक्ति दूसरे व्यापार, अन्यथा भाषण, अन्यथा विलोकन आदि करने लगता है। इस प्रकार लज्जा का समावेश भी अवहित्था मे हो जाता है।

यहाँ यह शङ्का उत्पन्न होती है कि इस पद्य मे लज्जा या अवहित्था नामक व्यभिचारी भाव से शृङ्गार रस की प्रतीति है, अत यह उदाहरण असलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि का होना चाहिये। इसका उत्तर ग्रन्थकार देते हैं—

हिन्दी अर्थ—यह अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि का ही विषय नहीं है। क्योंकि जहाँ साक्षात् शब्द से निवेदित विभाव, अनुभाव और व्यभिचारीभावों से रस आदि की प्रतीति होती है, इस असलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि का केवल वह मार्ग है।

यथा कुमारसम्भवे मधुप्रसङ्गे वसन्तपुष्पाभरण वहन्त्या देव्या आगमनादिवर्णन मनोभवशरसन्धानपर्यन्त शम्भोश्च परिवृत्तधैर्यस्य चेष्टाविशेषवर्णनादि साक्षाच्छब्दनिवेदितम् ।

इह तु सामर्थ्याक्षिप्तव्यभिचारिमुखेन रसप्रतीतिः । तस्मादयमन्यो ध्वने. प्रकार' ।

असलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि वही होती है, जहाँ साक्षात् शब्दो से कथित विभाव अनुभाव और व्यभिचारी भावो से रस की प्रतीति होती है । इसके उदाहरण में ध्वनिकार ने 'कुमारसम्भव' के एक प्रसङ्ग को उद्धृत किया है—

हिन्दी अर्थ—जिस प्रकार 'कुमारसम्भव' मे वसन्त ऋतु के प्रसङ्ग मे वासन्ती पुष्पो के आभूषणो को धारण किये हुये देवी पार्वती के आगमन आदि के वर्णन से प्रारम्भ करके कामदेव के शरसन्धान पर्यन्त का वर्णन और धैर्यच्युत शिव की विशेष चेष्टाओ का वर्णन साक्षात शब्दो से निवेदित है ।

ये वर्णन इस प्रकार हैं—

निर्वाणभूयिष्ठमथास्य वीर्यं सन्धुक्षयन्तीव वपुर्गुणेन ।
अनुप्रयाता वनदेवताभिरदृश्यत स्थावरराजकन्या ॥

यहाँ आलम्बन और उद्दीपन विभावो का सम्पूर्ण वर्णन रस की प्रतीति के योग्य है ।

प्रतिग्रहीतु प्रणयिप्रियत्वात्त्रिलोचनस्तामुपचक्रमे च ।
समोहन नाम च पुष्पधन्वा धनुष्यमोघ समधत्त बाणम् ॥

इसके द्वारा विभाव का उपयोग कहा गया है ।

हरस्तु किञ्चित् परिवृत्तधैर्यश्चन्द्रोदयारम्भ इवाम्बुराशि ।
उमामुखे बिम्बफलाधरोष्ठे व्यापारयामास विलोचनानि ॥

यहाँ पार्वती के पहले से ही शिव के प्रति आसक्त होने के कारण और अब शिव के पार्वती के प्रति उन्मुख होने के कारण एव प्रणयी के प्रति पक्षपात होने के कारण प्रगाढ होने हुये रतिरूप स्थायीभाव के औत्सुक्य, आवेग, चापल्य, हर्ष आदि व्यभिचारी भावो के अनुभावा को प्रकाशित किया गया है । इस प्रकार विभाव और अनुभावो की चवणा ही व्यभिचारी भावो की चर्वणा मे पर्यवसित होती है । व्यभिचारी भावा के परतन्त्र होने के कारण इनकी विश्रान्ति माला धागे के समान स्थायीभाव मे होने से यहाँ असलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि है । इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि जहाँ विभाव, अनुभाव और व्यभिचारीभाव साक्षात् रूप से रस की प्रतीति कराते हैं वहाँ असलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि होती है । परन्तु यहाँ "एववादिनि देवर्षौ०" मे ऐसी स्थिति नही है—

हिन्दी अर्थ—यहाँ तो सामर्थ्य से आक्षिप्त व्यभिचारी भाव के द्वारा रस की प्रतीति होती है । इसलिये यह ध्वनि का प्रकार दूसरा ही है ।

यत्र च शब्दव्यापारसहायोऽर्थोऽर्थान्तरस्य व्यञ्जकत्वेनोपादीयते, स नास्य ध्वनेर्विषयः । यथा—

सङ्केतकालमनसं विटं ज्ञात्वा विदग्धया ।
हसन्नेत्रार्पिताकूतं लीलापद्मं निमीलितम् ॥

अत्र लीलाकमलनिमीलनस्य व्यञ्जकत्वमुक्त्यैव निवेदितम् ॥२२॥

तथा च—

शब्दार्थशक्त्याक्षिप्तोऽपि व्यङ्ग्योऽर्थः कविना पुनः ।
यत्राविष्क्रियते स्वोक्त्या सान्यैवालङ्कृतिर्ध्वनेः ॥२३॥

"एववादिनि देवर्षौ०" पद्य मे साक्षात् शब्द से निवेदित विभाव आदि से रस की प्रतीति नही है, अपितु शब्द से सामर्थ्य से आक्षिप्त व्यभिचारी भाव से है। कमल के पत्ता का गिनना एव नीचे को मुख कर लेना कुमारियों के लिये लज्जा के कारण ही नही, अपितु अन्य कारणो से भी हो सकता है। परन्तु यहाँ पूर्ववृत्त तपश्चर्या आदि के वृत्तान्त का स्मरण करने से पार्वती मे ये व्यापार लज्जा की प्रतीति कराते हैं। इस प्रकार लज्जा की प्रतीति मे क्रमव्यङ्ग्यता लक्षित होती है। अत लज्जा रूप व्यभिचारी भाव के लक्षितक्रमव्यङ्ग्य होने से यहाँ संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि होगी, असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य नही।

ध्वनिकार की इस विवेचना से यह प्रतीत होता है कि रस आदि सदा व्यङ्ग्य तो होते हैं, पर वे सदा असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य भी हो सकते हैं। परन्तु उत्तरवर्ती आचार्यों ने रसध्वनि को असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ही माना है।

अब कारिका के 'उक्ति विना' पद का स्पष्टीकरण करने के लिये ध्वनिकार कहते हैं—

हिन्दी अर्थ—और जहाँ वाच्य अर्थ शब्दव्यापार की सहायता से दूसरे अर्थ के व्यञ्जक के रूप मे उपपन्न होता है, वह भी अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि का विषय नहीं होता जैसे—

विट के संकेत के समय को जानने के मन को समझकर चतुर नायिका ने हंसते हुये नेत्रों से अपना अभिप्राय प्रकट करके लीलाकमल को निमीलित कर दिया।

यहाँ लीलाकमल के निमीलन का व्यञ्जकत्व उक्ति द्वारा ही निवेदित कर दिया गया है ॥२२॥

लीलाकमल के निमीलन से 'सूर्यास्त का समय मिलन के लिये है' अर्थ व्यञ्जित होता है। यद्यपि यह अर्थ व्यङ्ग्य है, क्योंकि पद्य मे स्थित किसी पद का यह वाच्य अर्थ नही है, तथापि 'नेत्रार्पिताकूतम्' पद के व्यापार द्वारा यह अर्थ व्यक्त हो जाता है। अत वाच्य अर्थ क्योंकि इस शब्दव्यापार की सहायता से व्यङ्ग्य अर्थ का अभिव्यक्त करता है, अत यहाँ ध्वनि नहीं है ॥२२॥

ध्वनिकार का मन्तव्य है कि यदि व्यङ्ग्य अर्थ भी कवि द्वारा पुन अपने शब्दों से कह दिया जाता है, तो वह ध्वनि नहीं होगा—

हिन्दी अर्थ—और इसी प्रकार से—

शब्द, अर्थ या शब्दार्थ की शक्ति से आक्षिप्त किया गया भी व्यङ्ग्य अर्थ यदि कवि के द्वारा अपनी उक्ति से जहाँ प्रकाशित कर दिया जाता है, वहाँ ध्वनि से भिन्न और कोई अन्य ही अलङ्कार होगा ॥२३॥

शब्दशक्त्या, अर्थशक्त्या, शब्दार्थशक्त्या वाक्षिप्तोऽपि व्यङ्ग्योऽर्थः कविना पुनर्यत्र स्वोक्त्या प्रकाशीक्रियते, सोऽस्मादनुस्वानोपमव्यङ्ग्याद् ध्वनेरन्य एवालङ्कारः। अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यस्य वा ध्वनेः सति सम्भवे स तादृगन्योऽलङ्कारः।

तत्र शब्दशक्त्या यथा—

> वत्से मा गा विषादं श्वसनमुरुजवं सन्त्यजोर्ध्वप्रवृत्त
> कम्पः को वा गुरुस्ते भवतु बलभिदा जृम्भितेनात्र याहि।
> प्रत्याख्यानं सुराणामितिभयशमनच्छद्मना कारयित्वा
> यस्मै लक्ष्मीमदाद्वः स दहतु दुरितं मन्थमूढां पयोधिः॥

शब्द की शक्ति से, अर्थ की शक्ति से, या शब्दार्थ की शक्ति से प्रकाशित किया गया भी व्यङ्ग्य अर्थ कवि के द्वारा जहाँ पुन अपनी उक्ति से प्रकाशित किया जाता है, वह इस अनुस्वानोपमव्यङ्ग्य ध्वनि से भिन्न कोई अन्य ही विलक्षण अलङ्कार होता है। अथवा असलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि के सम्भव होने पर वह इस प्रकार का अन्य ही अलङ्कार होता है।

अभिप्राय यह है कि यदि काव्य मे कोई अर्थ शब्द के सामर्थ्य से, अर्थ के सामर्थ्य से या शब्दार्थ के सामर्थ्य से आक्षिप्त होकर व्यङ्ग्य रूप से प्रतीत हो रहा है, परन्तु कवि तुरन्त ही उसको अपने शब्दो से भी निवेदित कर दे तो वह ध्वनि नही रहेगा, अपितु श्लेप आदि वाच्य अलङ्कार का विषय होगा। यह स्थिति अनुस्वानोपमा-रूप सलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि मे ही नही है, अपितु असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य रसादिध्वनि मे भी है। ध्वनि स्वशब्दवाच्यता को सहन नही कर सकती। व्यङ्ग्य अर्थ के स्वशब्द-वाच्य को सहन नहीं कर सकती। व्यङ्ग्य अर्थ के स्वशब्दवाच्य हो जाने पर उसकी प्रधानता नष्ट हो जाती है और वहाँ श्लेप आदि अलङ्कारो की प्रधानता हो जाती है। व्यङ्ग्य के गुणीभूत हो जाने से काव्य ध्वनिकाव्य नही होगा।

कारिका मे 'शब्दार्थशक्त्या' पद से यह स्पष्ट हो जाता है कि ध्वनिकार सलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि के तीन भेदो—शब्दशक्तिमूल, अर्थशक्तिमूल और उभयशक्ति-मूल को स्वीकार करते थे। इस पद का विग्रह इस प्रकार किया जा सकता है—शब्दश्च अर्थश्च = शब्दार्थौ। शब्दार्थौ च शब्दार्थश्च शब्दार्थाः। तेषां शक्त्या"।

शब्दार्थ शक्ति से आक्षिप्त व्यङ्ग्य अर्थ के स्वशब्दवाच्य होने पर उसमे ध्वनित्व के अभाव के उदाहरणों को ध्वनिकार क्रमश प्रस्तुत करते हैं—

हिन्दी अर्थ—(१) उसमे शब्दशक्ति से, जैसे—

समुद्रमन्थन के समय मन्थन के भय से व्याकुल एवं विष्णु की कामना करती हुई लक्ष्मी के प्रति समुद्र के ये सान्त्वना वचन हैं—

हे पुत्रि! दुःख को प्राप्त मत हो (विष को खाने वाले भयानक शिव के पास मत जाओ), तीव्र गति वाले तथा ऊपर को उठते हुये श्वासों को छोड दो (तीव्र गति वाले भयानक वायु देवता को और ऊपर को ओर गतिशील ज्वालाओ वाले अग्नि देवता को छोड दो), तुम्हें बहुत अधिक कम्पन क्यों है (क जल पाति इति कम्प वरुण, कः प्रजापति ब्रह्मा वा। वरुण और ब्रह्मा तो तुम्हारे गुरु के समान हैं), बल को तोड देने वाली जम्भाइयों को रोक लो (ऐश्वर्य से मत्त इन्द्र से बस करो)। इस प्रकार भय को शान्त करने के बहाने से देवताओ का प्रत्याख्यान करा कर समुद्र ने मन्थन से डरी हुई लक्ष्मी को जिस विष्णु के लिये प्रदान किया था, वे विष्णु आप सबके कष्टों को दूर करें।

अर्थशक्त्या यथा—

> अम्बा शेतेऽत्र वृद्धा परिणतवयसामग्रणीरत्र तातो
> निःशेषागारकर्मश्रमशिथिलतनुः कुम्भदासी तथात्र ।
> अस्मिन् पापाहमेका कतिपयदिवसप्रोषितप्राणनाथा
> पान्थायेत्थं तरुण्या कथितमवसरव्याहृतिव्याजपूर्वम् ॥

उभयशक्त्या यथा—

> "दृष्ट्या केशवगोपरागहृतया" इत्यादौ ॥२३॥

इस पद्य के पूर्वार्द्ध मे देवताओ के प्रत्याख्यान का बोधक अर्थ व्यङ्ग्य था। परन्तु उत्तरार्ध मे 'भयशमनच्छद्मना सुराणा प्रत्याख्यान वारयित्वा' पदो से यह अर्थ स्वशब्दवाच्य हो गया। अत यहाँ ध्वनि नही रही। यहाँ श्लेष अलङ्कार ही होगा।

वारयित्वा—यह पद 'वृ' धातु से प्रेरणार्थक अर्थ मे 'णिच्' प्रत्यय करके निष्पन्न हुआ है। इसका अभिप्राय यह है कि समुद्र ने स्वय लक्ष्मी मे विष्णु को प्राप्त करने की कामना उत्पन्न नही की। अपितु लक्ष्मी, जो कि विष्णु को प्राप्त करने की कामना लेकर समुद्र से अवतीर्ण हुई थी, परन्तु मन्थन से उत्पन्न विशाल लहरो को तथा अनेक देवताओ को देखकर विमूढ़ हो रही थी, उनकी विष्णु की कामना का समुद्र ने समर्थन किया था।

शब्दशक्ति मे आक्षिप्त व्यङ्ग्य अर्थ की स्वशब्दवाच्यता का अर्थशक्ति से आक्षिप्त व्यङ्ग्य अर्थ का उदाहरण देते हैं—

हिन्दी अर्थ—(२) अर्थशक्ति मे, जैसे—

वृद्धा माता यहाँ सोती है, वृद्धों मे भी अग्रणी पिता यहाँ सोते हैं और सारे घर का कार्य करने के परिश्रम से शिथिल शरीर वाली पानी भरने वाली दासी यहाँ सोती है। कुछ दिनों से जिसके प्राणनाथ परदेश गये हुये हैं, ऐसी पापिनी अकेली मैं यहाँ सोती हूँ। उस तरुणी ने अवसर के कहने के बहाने से उस पथिक से इस प्रकार कह दिया।

यहाँ श्लोक के पहले तीन चरणो मे तरुणी की पथिक से भोग करने की इच्छा तथा उस भोग के लिये सुन्दर अवसर रूप व्यङ्ग्य अर्थ की प्रतीति हो रही है। परन्तु चौथे चरण मे 'अवसरव्याहृतिव्याजपूर्वम्' पद से यह व्यङ्ग्य अर्थ स्वशब्दवाच्य हो जाता है। अत यहाँ ध्वनि का अवसर नहीं रह जाता, अपितु व्यङ्ग्य के गुणीभूत हो जाने से यह अलङ्कार प्रधान हो जाता है।

शब्दशक्ति एव अर्थशक्ति मे आक्षिप्त व्यङ्ग्य की स्वशब्दवाच्यता का उदाहरण देते हैं—

हिन्दी अर्थ—(३) उभयशक्ति से जैसे—

"दृष्ट्या केशवगोपरागहृतया" पद्य को ध्वनि के अविषय एव श्लेष अलङ्कार के विषय के उदाहरण के रूप मे पृष्ठ १८५ पर उद्धृत किया जा चुका है ॥२३॥

पौढोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीरः सम्भवी स्वतः ।
अर्थोऽपि द्विविधो ज्ञेयो वस्तुनोऽन्यस्य दीपकः ॥२४॥

अर्थशक्त्युद्भवानुरणनरूपव्यङ्ग्ये ध्वनौ यो व्यञ्जकोऽर्थ उक्तस्तस्यापि द्वौ प्रकारौ, कवेः कविनिबद्धस्य वा वस्तुः प्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीर एकः, स्वत सम्भवी च द्वितीयः ।

इस उदाहरण मे शब्दशक्ति से और अर्थशक्ति से व्यङ्ग्य अर्थ का आक्षेप किया जाकर वह स्वशब्दवाच्य हो जाता है, अत. ध्वनि नही है। इसकी व्याख्या अभिनवगुप्त ने इस प्रकार की है—

"शब्दशक्तिस्तावद् गोपारागादिशब्दश्लेषवशात् । अर्थशक्तिस्तु प्रकरणवशात् । यावदन राधारमणस्याखिलतरणीजनच्छन्नानुरागगरिमास्पदत्व न विदित तावदर्थान्तरस्याप्रतीते सलेशमिति चात्र स्वोक्तिः ।"

'गोपराग' आदि शब्दो मे श्लेष के कारण यहाँ शब्दशक्ति के सामर्थ्य से व्यङ्ग्य अर्थ (गोपी की कृष्ण के प्रति कामभावना) की प्रतीति होती है। प्रकरण के द्वारा अर्थशक्ति के सामर्थ्य से भी व्यङ्ग्य अर्थ (गोपी की कृष्ण के प्रति कामभावना) की यहाँ प्रतीति होती है। क्योकि जव तक यह विदित न हो कि राधारमण कृष्ण मे समस्त युवतियो के प्रति प्रच्छन्न राग की गरिमा है, तब तक अर्थान्तर (गोपी कामभावना) की प्रतीति नही होगी। इस प्रकार शब्द और अर्थ दोनो की शक्ति से व्यङ्ग्य अर्थ की प्रतीति होती है। परन्तु यह व्यङ्ग्य अर्थ 'सलेशम्' पद से स्वशब्दवाच्य हो जाता है। इसलिये यहाँ ध्वनि न होकर श्लेष अलङ्कार ही होगा ॥२३॥

इस प्रकार अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि का सामान्य लक्षण करके ध्वनिकार अब उसके भेदो का कथन करते हैं—

हिन्दी अर्थ—अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि में अन्य (व्यङ्ग्य) अर्थ का प्रकाशक अर्थ भी दो प्रकार का होता है—प्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीर और स्वतः सम्भवी ॥२४॥

अर्थशक्त्युद्भव अनुरणनरूपव्यङ्ग्य ध्वनि में जो व्यञ्जक अर्थ कहा गया है, उसके भी दो प्रकार होते हैं—कवि अथवा कार्य निबद्ध वक्ता की प्रौढ उक्तिमान से निष्पन्न शरीर वाला एक और स्वतःसम्भवी दूसरा।

अर्थशक्त्युद्भव सलक्ष्यक्रमध्वनि के ध्वनिकार ने दो मुख्य भेद दिखाये हैं। इसमे प्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीर के उन्होंने वृत्ति मे पुनः दो भेद किये हैं—कवि की प्रोढौक्ति से निष्पन्न अथवा कवि द्वारा निबद्ध वक्ता की प्रौढोक्ति से निष्पन्न। उत्तरकालीन आचार्यों ने अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि के सीधे ही तीन भेद—कविप्रौढोक्तिसिद्ध, कविनिबद्धप्रौढोक्तिसिद्ध और स्वत सम्भवी किये हैं।

कविप्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीरो यथा—

सज्जेहि सुरहिमासो ण दाव अप्पेइ जुअइजणलक्खमुहे।
अहिणवसहआरमुहे णवपल्लवपत्तले अणंगस्स शरे॥
(सज्जयति सुरभिमासो न तावदर्पयति युवतिजनलक्ष्यमुखान्।
अभिनवसहकारमुखान्नवपल्लवपत्रलाननङ्गस्य शरान्॥)

कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीरो यथोदाहृतमेव "शिखरिणि इत्यादि।

प्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीर—प्रकर्षेण उढ सम्पादयितव्येन वस्तुना प्राप्त तत्कुशल प्रौढ। सम्पादन के योग्य वस्तु द्वारा प्राप्त वस्तु की रचना मे कुशल। अथवा-उक्तिरपि समर्पयितव्यस्त्वर्पणोचिता प्रौढेत्युच्यते। समर्पयितव्य वस्तु के अर्पण करने मे उचित उक्ति भी प्रौढा कहलाती है। उसके द्वारा निष्पन्न रूप वाला अर्थ प्रौढोक्तिनिष्पन्नशरीर होगा। जहाँ कवि साक्षात रूप से स्वय उस उक्ति को कहेगा, तो वह कविप्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीर होगा। जहाँ कवि अपने काव्य के किसी पात्र द्वारा उक्ति को कहलवायेगा, वहाँ कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीर होगा। तीनो उदाहरणों को ध्वनिकार क्रमश प्रस्तुत करते हैं—

हिन्दी अर्थ—(१) कवि की प्रौढ उक्ति से निष्पन्न रूप वाला व्यञ्जक अर्थ जैसे कि—

वसन्त मास युवतियो को लक्ष्य करने वाले अग्रभागों से युक्त, नवीन पल्लवों के पत्तो से युक्त नवीन आम्र प्रभृति कामदेव के बाणो को तैयार तो कर रहा है, परन्तु, उनको अभी प्रहार के लिये कामदेव को अर्पित नहीं कर रहा।

वसन्त बाणों का रचयिता, कामदेव उन बाणो का प्रयोक्ता, युवतियाँ उन बाणो का लक्ष्य और आम्रमञ्जरी आदि बाण हैं। लोक मे इस प्रकार की स्थिति यद्यपि नही है, तथापि कवि की इस प्रौढ उक्ति से यह व्यञ्जित होता है कि वसन्त ऋतु मे आम की मञ्जरियाँ खिलने लगी है और इसमे युवतियो मे क्रमश गाढ और गाढतर काम का उन्माद आरम्भ होने वाला है। इस प्रकार यहाँ कवि की प्रौढोक्ति से व्यङ्ग्य अर्थ की निष्पत्ति होती है।

(२) कवि द्वारा निबद्ध वक्ता की प्रौढ उक्ति से निष्पन्न रूप वाला व्यञ्जक अर्थ। जैसे कि पहले उदाहरण दिया जा चुका है—"शिखरिणि", इत्यादि। यह उदाहरण पहले उद्योत मे दिया जा चुका है, जो इस प्रकार है—

शिखरिणि क्व नु नाम कियच्चिरं किमभिधानमसावकरोत्तप।
सुमुखि येन तवाधरपाटलं दशति बिम्बफलं शुकशावक॥

'अधरपाटलं बिम्बफलं शुकशावकः दशति' नायक द्वारा नायिका से कहे गये इस वाक्य से नायक की नायिका के अधर की आस्वादन की आकांक्षा व्यञ्जित होती

यथा वा—

साअरविइण्णजोव्वणहत्थालम्बं समुण्णमन्तेहिम् ।
अब्भुट्ठाण विअ मम्महस्स दिण्णं तुह थणेहिम् ॥
(सादरवितीर्णयौवनहस्तावलम्बं समुन्नमद्भ्याम् ।
अभ्युत्थानमिव मन्मथस्य दत्त तव स्तनाभ्याम् ॥)

स्वतः सम्भवी य औचित्येन बहिरपि सम्भाव्यमानसद्भावो न केवलं भणितिवशेनैवाभिनिष्पन्नशरीरः । यथोदाहृतम्—'एवंवादिनि' इत्यादि ।

है। कवि ने यह व्यञ्जकता अपने द्वारा निबद्ध वक्ता की प्रौढ उक्ति द्वारा प्रस्तुत की है, अत यह कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिनिष्पन्नशरीर है। इसी का एक और उदाहरण दिया जाता है—

हिन्दी अर्थ—अथवा जैसे—

आदर के साथ यौवन के द्वारा सहारा दिये गये और ऊपर को उठते हुये तुम्हारें स्तनो ने मानो कामदेव का उठकर स्वागत सा किया है ।

स्तन यहाँ प्रधानभूत है और उनसे भी अधिक गौरवशाली कामदेव है, जो कि उनके द्वारा स्वागत किया जा रहा है। यौवन इन दोनो के परिचारक के रूप मे है। इस प्रकार के उक्तिवैचित्र्य से यह अर्थ अभिव्यञ्जित होता है कि तुम्हारे स्तनो को देखने से किसमे काम की अवस्था की वृद्धि नही होती। यदि यहाँ यह कहा जाता कि यौवन के कारण तुम्हारे स्तन उन्नत हो गये है, तो इसमे व्यञ्जकता नही होती।

इस प्रकार यहाँ कवि द्वारा निबद्ध वक्ता की प्रौढोक्ति से व्यङ्ग्य अर्थ की निष्पन्नता होती है।

(३) स्वत सम्भवी अर्थशक्तिमूल ध्वनि का विवेचन अब ध्वनिकार करते हैं—

हिन्दी अर्थ—स्वत सम्भवी व्यञ्जक अर्थ वह होता है जिसकी सम्भावना बाहर भी (कवि के कल्पनालोक से बाहर लौकिक जगत् मे) औचित्य रूप से रहती है और जिसका स्वरूप केवल कवि की उक्तियों से ही निष्पन्न नहीं होता। जैसा कि पहले उदाहरण मे दिया गया है—"एव वादिनि॰' आदि ।

अविवाहित कन्या मे विवाह के प्रसङ्गो से लज्जा का आविर्भाव केवल कवि की कल्पना म ही नही होता, परन्तु कवि की कल्पना से बाहर लोक म भी उचित रूप से देखा जाता है। अत 'एववादिनि' उदाहरण से पावती मे अभिव्यक्त लज्जा नामक व्यभिचारी भाव स्वत सम्भवी अर्थशक्तिमूल ध्वनि है ।

स्वत सम्भवी अर्थशक्तिमूल ध्वनि का ही एक और उदाहरण प्रस्तुत किया जाता है—

यथा वा—

सिहिपिच्छकण्णपूरा जाआ वाहस्स गव्विरी भमइ।
मुक्ताफलरइपसाहणाण मज्झे सवत्तीण॥
(शिखिपिच्छकर्णपूरा जाया व्याधस्य गर्विणी भ्रमति।
मुक्ताफलरचितप्रसाधनानां मध्ये सपत्नीनाम्॥) ॥२४॥
अर्थशक्तेरलङ्कारो यत्राप्यन्यः प्रतीयते।
अनुस्वानोपमव्यङ्ग्यः स प्रकारोऽपरो ध्वनेः॥२५॥

वाच्यालङ्कारव्यतिरिक्तो यत्रान्योऽङ्कारोऽर्थसामर्थ्यात् प्रतीयमानोऽवभासते सोऽर्थशक्त्युद्भवो नामानुस्वानरूपव्यङ्ग्योऽन्यो ध्वनिः॥२५॥

तस्य प्रविरलविषयत्वमाशङ्क्येदमुच्यते—

हिन्दी अर्थ—अथवा जैसे—

मोर पङ्खों का कर्णाभूषण पहने हुये व्याध की (नवीन) पत्नी मोतियों से प्रसाधन को करने वाली सौतों के मध्य में गर्वित होती हुई घूमती है।

यहाँ नवीन पत्नी के सौभाग्य का अतिशय व्यङ्ग्य है। उसका भाव यह है कि जब तुम सौतों के सौभाग्य का समय था, तब तो यह व्याध हाथियों का शिकार करता था, जिससे तुमको मोती प्राप्त होते थे। अब मेरे प्रति आसक्त होने से इसको बाहर निकलने का अवकाश ही नहीं मिलता, जिससे कि मैं मोरपख के कर्णाभूषण ही पहन सकती हूँ। इससे उस नवीन पत्नी के सौभाग्य का अतिशय व्यक्त होता है।

यह व्यङ्ग्य अर्थ केवल कवि की कल्पना की ही वस्तु नहीं है, परन्तु वास्तविक लोक में भी इसका अस्तित्व सम्भव है। अतः यहाँ स्वतःसम्भवी अर्थशक्तिमूल ध्वनि है॥२४॥

अर्थशक्तिमूल ध्वनि के अब तक जितने भी उदाहरण दिये गये हैं उनमें वस्तु व्यङ्ग्य है। इस प्रकार ये वस्तुध्वनि के उदाहरण हैं। अन्य ध्वनिकार अलङ्कार ध्वनि का वर्णन करते हैं।

हिन्दी अर्थ—जहाँ भी अर्थ शक्ति से दूसरा अन्य अलङ्कार प्रतीत होता है, वह अनुस्वानोपमव्यङ्ग्य नाम का ध्वनि का दूसरा प्रकार है॥२५॥

भाव यह है कि केवल शब्दशक्ति से ही अन्य अलङ्कार प्रतीत नहीं होता, अपितु अर्थशक्ति से भी प्रतीत होता है। अर्थशक्ति से केवल वस्तुरूप अर्थ ही प्रतीत नहीं होता। अपितु अन्य अलङ्कार रूप अर्थ भी प्रतीत होता है। कारिका में अन्य पद का अभिप्राय है कि जो वाच्य अलङ्कार से भिन्न प्रतीयमान अलङ्कार है। अन्य पद की व्याख्या ध्वनिकार वृत्ति में करते हैं—

हिन्दी अर्थ—वाच्य अलङ्कार से भिन्न दूसरा अलङ्कार (प्रतीयमान अलङ्कार) जहाँ अर्थ के सामर्थ्य से प्रतीत होता हुआ अवभासित होता है, वह अर्थशक्त्युद्भव नाम का अनुस्वानरूपव्यङ्ग्य ध्वनि का अन्य प्रकार है॥२५॥

अनेक समालोचकों ने आशङ्का प्रकट की कि उस अलङ्कारध्वनि का विषय कम होगा। इसका उत्तर आचार्य देते हैं—

रूपकादिरलङ्कारवर्गो यो वाच्यता श्रितः।
स सर्वो गम्यमानत्वं बिभ्रद् भूम्ना प्रदर्शितः ॥२६॥

अन्यत्र वाच्यत्वेन प्रसिद्धो यो रूपकादिरलङ्कारः सोऽन्यत्र प्रतीयमानतया बाहुल्येन प्रदर्शितस्तत्रभवद्भिर्भट्टोद्भटादिभि.। तथा च ससन्देहादिषूपमारूपकातिशयोक्तीना प्रकाशमानत्वं प्रदर्शितमित्यलङ्कारान्तरस्यालङ्कारान्तरे व्यङ्ग्यत्वं न यत्नप्रतिपाद्यम् ॥२६॥

हिन्दी अर्थ—उस अलङ्कार ध्वनि के विषय की विरलता की आशङ्का करके यह कहा जाता है—

रूपक आदि अलङ्कारो का वर्ग, जो कि वाच्यता का आश्रय लेता है, वह सारा वर्ग गम्यमान होता हुआ बहुत विस्तार से दिखाया गया है ॥२६॥

जो रूपक आदि अलङ्कार अन्य स्थलो पर वाच्य रूप मे प्रसिद्ध हैं, उन्हीं को आदरणीय भट्टोद्भट आदि विद्वानों ने दूसरे स्थलो पर प्रतीयमान रूप मे बाहुल्य से प्रदर्शित किया है। और इस प्रकार से सन्देह आदि अलङ्कारो मे उपमा, रूपक और अतिशयोक्ति अलङ्कारो का प्रकाशित होना (प्रतीयमान होना) दिखाया गया है। इस प्रकार अलङ्कारान्तर मे व्यङ्ग्य रूप से प्रकाशित होना यत्नसाध्य नहीं है।

कुछ समालोचको ने यह आशङ्का प्रकट की कि शब्दशक्ति से श्लेष अलङ्कार के प्रतीयमान होने की सम्भावना की जा सकती हैं, परन्तु अर्थशक्ति से कौनसा अलङ्कार प्रतीत होगा। यदि होगा तो भी बहुत अल्प होगा। इसका उत्तर ध्वनिकार ने कारिका के सर्व प्रदर्शित' पदो से दिया कि सभी वाच्य अलङ्कार प्रतीयमान हो सकते हैं। उनका कथन है कि यह बात हम ही नही कह रहे, परन्तु प्राचीन अलङ्कारवादी भट्टोद्भट आदि आचार्यो ने भी यह प्रतिपादित किया है कि जो अलङ्कार एक स्थान पर वाच्य है, वे भी दूसरे स्थानो पर प्रतीयमान हो सकते हैं। जैसे सन्देह आदि अलङ्कारो मे उपमा, रूपक और अतिशयोक्ति अलङ्कार प्रतीयमान रहते हैं। इसको अभिनवगुप्त ने इस प्रकार से स्पष्ट किया है—

उपमाने न तत्त्व च भेद च वदत पुन।
ससन्देह वच स्तुत्यै ससन्देह विदुर्यथा॥
तस्या पाणिरय नु मारुतचलत्पत्राङ्गुलि पल्लव ॥

सन्देह अलङ्कार मे उपमान के साथ उपमेय के अभेद को और पुन भेद को जो सन्देह से युक्त बनाकर कहा जाता है, वह उपमेय की स्तुति के लिये ससन्देह कहा जाता है, ऐसा जानते हैं। जैसे—

उस नायिका का यह हाथ क्या वायु से चञ्चल पत्तों रूपी अङ्गुलियो वाला पल्लव है।

इस सन्देह अलङ्कारो मे उपमा या रूपक अलङ्कार ध्वनित होता है। इसके अतिरिक्त अतिशयोक्ति को प्राय सभी अलङ्कारो म ध्वन्यमान समझा जाता है।

इयत्पुनरुच्यत एव—

अलङ्कारान्तरस्यापि प्रतीतौ यत्र भासते ।
तत्परत्वं न वाच्यस्य नासौ मार्गो ध्वनेर्मतः ॥२७॥

अलङ्कारान्तरेषु त्वनुरणनरूपालङ्कारप्रतीतौ सत्यामपि यत्र वाच्यस्य व्यङ्ग्यप्रतिपादनौन्मुख्येन चारुत्वं न प्रकाशते नासौ ध्वनेर्मार्गः । तथा च दीपकादावलङ्कारे उपमाया गम्यमानत्वेऽपि तत्परत्वेन चारुत्वस्याव्यव-स्थानान्न ध्वनिव्यपदेश ।

इस प्रकार से सन्देह अलङ्कार मे उपमा, रूपक और अतिशयोक्ति अलङ्कारो के प्रतीयमान होने से यह सिद्ध है कि एक अलङ्कार म दूसरा अलङ्कार प्रतीयमान हो सकता है ॥२६॥

यहाँ यह शङ्का हो सकती है कि यदि प्राचीन भट्टोद्भट आदि विद्वानो ने ही अलङ्कार मे अलङ्कारान्तर की प्रतीयमानता प्रतिपादित कर दी है, तो आपका उसको करने मे क्या प्रयोजन है ? इसका उत्तर देते हैं—

हिन्दी अर्थ—इतनी बात को हम पुन कहते हैं—

एक वाच्य अलङ्कार से दूसरे व्यङ्ग्य अलङ्कार की प्रतीति होने पर भी यदि वह वाच्य अलङ्कार तत्पर नहीं है, अर्थात् प्रतीयमान अलङ्कार को मुख्यतया प्रतीत नहीं करता है, तो उसको ध्वनि का मार्ग नहीं माना जा सकता ॥२७॥

अलङ्कारान्तरो मे अनुरणनरूप अलङ्कारान्तर की प्रतीति होने पर भी जहाँ वाच्य अलङ्कार का व्यङ्ग्य अलङ्कार के प्रति प्रतिपादन के औन्मुख्य से चारुत्व प्रकाशित नहीं होता, वह ध्वनिमार्ग नहीं है, जैसे कि दीपक अलङ्कार मे उपमा के प्रतीयमान होने पर भी उस उपमा के प्रति दीपक अलङ्कार के तत्पर रूप से, अर्थात् उपमा को प्रधान एव दीपक को गौण मानकर, चारुत्व की व्यवस्था न होने से वहाँ ध्वनि का व्यवहार नही होता ।

प्रश्न यह उपस्थित होता है कि प्राचीन भट्टोद्भट आदि आचार्यों ने वाच्य अलङ्कारान्तर मे अन्य अलङ्कार का व्यङ्ग्यत्व प्रतिपादित कर दिया है, जैसे कि सन्देह आदि अलङ्कारो म उपमा, रूपक और अतिशयोक्ति अलङ्कार व्यङ्ग्य होते हैं । इस अवस्था मे ध्वनिकार ने जो वाच्य अलङ्कारान्तर मे व्यङ्ग्य अलङ्कारान्तर को प्रतिपादित कर रहे हैं, इसमे क्या लाभ है ?

ध्वनिकार का मुख्य उद्देश्य प्रतीयमान अर्थ को नहीं, अपितु ध्वनि को प्रति-पादित करना है । ध्वनि वहीं होती है, जहाँ वाच्य की अपेक्षा प्रतीयमान अर्थ का चारुत्व निष्पन्न होता हो । वाच्य अलङ्कार से अन्य व्यङ्ग्य अलङ्कार की प्रतीति होने मात्र से वहाँ ध्वनि प्रतिपादित नहीं होती । ध्वनि वहाँ ही होगी, जहाँ वाच्य अलङ्कार व्यङ्ग्य अलङ्कार के तत्पर होगा, अर्थात् वाच्य अलङ्कार की अपेक्षा व्यङ्ग्य

यथा—

चन्दमऊएहिं णिसा णलिनी कमलेहिं कुसुमगुच्छेहि लआ ।
हंसेहिं सरअसोहा कव्वकहा सज्जनेहिं गरइ गरुई ॥
(चन्द्रमयूखैर्निशा नलिनीकमलै कुसुमगुच्छैर्लता ।
हंसैश्शारदशोभा काव्यकथा सज्जनै क्रियत गुर्वी ॥)

इत्यादिषूपमागर्भत्वेऽपि सति वाच्यालङ्कारमुखेनैव चारुत्व व्यवतिष्ठते न व्यङ्ग्यालङ्कारतात्पर्येण । तस्मात्तत्र वाच्यालङ्कारमुखेनैव काव्यव्यपदेशो न्याय्य ।

यत्र तु व्यङ्ग्यपरत्वेनैव वाच्यस्य व्यवस्थान तत्र व्यङ्ग्यमुखेनैव व्यपदेशो युक्त । यथा—

प्राप्तश्रीरे षकस्मात् पुनरपि मयि तं मन्थखेद विदध्या-
न्निद्रामप्यस्य पूर्वामनलसमनसो नैव सम्भावयामि ।
सेतु बध्नाति: भूय: किमिति च सकलद्वीपनाथानुयात-
स्त्वय्यायाते वितर्कानिति दधत इवाभाति कम्प: पयोधे: ॥

अलङ्कार की प्रधानता होगी । इसीलिये ध्वनिकार ने कारिका मे कहा है कि—वाच्य अलङ्कार से व्यङ्ग्य अलकार की प्रतीति होने पर भी यदि वाच्य अलङ्कार तत्पर नही है, तो वह ध्वनि का विषय नही है । उदाहरण के रूप मे उन्होने दीपक अलङ्कार को लिया है, जिसमे उपमा गम्यमान होती है । परन्तु उपमा के गम्यमान होने पर भी वहाँ उसके द्वारा चारुत्व की निष्पन्नता नही है। अपितु वाच्य दीपक अलङ्कार के द्वारा ही है । अत वहाँ ध्वनि नही होगी । इसी को आचार्य उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते है ।

हिन्दी अर्थ—जैसे चन्द्रमा की किरणो से रात्रि, कमलो से कमलिनी, पुष्पों के गुच्छों से लता, हसों से शरद् ऋतु की शोभा, और सज्जनो द्वारा काव्यकथा गौरवान्वित की जाती है ।

इत्यादि काव्यो मे दीपक अलङ्कार के उपमागर्भित होने पर भी वाच्य दीपक अलङ्कार के द्वारा ही चारुत्व की व्यवस्था होती है, उसके व्यङ्ग्य उपमा अलङ्कार के तात्पर्य से नहीं । अत वहाँ वाच्य दीपक अलङ्कार के द्वारा ही काव्य का व्यवहार करना युक्तिसगत है ।

इस उदाहरण मे 'गुर्वी क्रियते', इस एक क्रिया का अन्वय अनेक कारको के साथ होने से दीपक अलङ्कार है । यह दीपक अलङ्कार उपमा गर्भ है और इमसे उपमा व्यञ्जित होती है । तथापि यहाँ काव्य का सौन्दर्य मुख्य रूप से दीपक अलङ्कार से निष्पन्न हो रहा है, उपमा से नही । अत यह ध्वनिकाव्य नही होगा, चित्रकाव्य ही होगा ।

हिन्दी अर्थ—जहाँ वाच्य की व्यवस्था व्यङ्ग्यपरत्व की होगी, वहाँ पर ही व्यङ्ग्य अलकार के अनुसार काव्य का व्यवहार होगा, अर्थात् वहाँ ध्वनिकाव्य कहना उचित है । जैसे कि—

(१) इसको लक्ष्मी तो पहले से ही प्राप्त है, फिर भी कहीं मुझमे यह मथने के खेद को,उत्पन्न न कर दे । आलस्य से रहित मन वाले इसमे पहले के समान नींद की भी सम्भावना नहीं कर रहा हूँ । समस्त द्वीपों के राजाओं से अनुगत यह क्या फिर पुल बाधेगा ? इस प्रकार हे राजन ! तुम्हारे आने पर विविध सन्देहों को धारण करते हुये समुद्र कम्पित सा प्रतीत हो रहा है ।

यथा वा ममैव—

लावण्यकान्तिपरिपूरितदिङ्मुखेऽस्मिन्
स्मेरेऽधुना तव मुखे तरलायताक्षि।
क्षोभं यदेति न मनागपि तेन मन्ये
सुव्यक्तमेव जलराशिरयं पयोधिः॥

ध्वनिकाव्य वही होगा, जहाँ व्यङ्ग्य अलङ्कार प्रधान रूप से तथा वाच्य अलङ्कार तत्पर रूप से होगा, इसी को स्पष्ट करते है—

समुद्र मे चन्द्रोदय आदि के कारण स्वाभाविक रूप से कम्प है, परन्तु राजा मे विष्णु के कार्यों का सन्देह उत्पन्न कराकर इस समुद्र मे भयजनित कम्प की सम्भावना की गई है। अत यहाँ सन्देह से अनुप्राणित उत्प्रेक्षा के होने से इनका अङ्गाङ्गिभाव सङ्कर है। यह वाच्य अलङ्कार है। इससे राजा और विष्णु की एकरूपता के ध्वनित होने से रूपक अलङ्कार ध्वनित होता है। यहाँ वाच्य सन्देहोत्प्रेक्षा सकर की अपेक्षा रूपक अलङ्कार का चारुत्व प्रधान है, तथा सकर वाच्य अलकार तत्पर है। अत यह अर्थशक्तिमूल अलकारध्वनि है।

इस स्थल पर वृत्ति के 'यत्र·· तत्र' पदो की व्याख्या करते हुये अभिनवगुप्त का कथन है कि 'व्यङ्ग्य के द्वारा वहाँ वाच्य का व्यवहार होता है।" इसके तीन रूप हो सकते हैं—(१) कभी वाच्य अलकार व्यङ्ग्य अलकार को व्यक्त करता है, कही (२) वाच्य अलकार का एव सद्भाव होता है और कही (३) वाच्य अलकार भी नही होता। ग्रन्थकार ने इन्ही के आधार पर आगे उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। उत्तरवर्ती आचार्यों ने ध्वनिकार के इन्ही उदाहरणो के आधार अर्थशक्तिमूल ध्वनि के १२ भेद किये है, जो इस प्रकार हैं—कवि प्रौढोक्तिसिद्ध, कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध एव स्वत सम्भवी ये तीन प्रमुख भेद हैं तथा प्रत्येक भेद के चार भेद हैं—वस्तु से अलकार-व्यङ्ग्य, अलकार से वस्तुव्यङ्ग्य, वस्तु से वस्तु व्यङ्ग्य और अलकार से अलकार व्यङ्ग्य। प्रस्तुत ग्रन्थ मे कहे जाने वाले उदाहरणों मे इन भेदों का ध्यान रखना उचित होगा। 'प्राप्तश्रीरेप कस्मात्' उदाहरण मे कवि प्रौढोक्तिसिद्ध वाच्य अलकार से रूपक अलकार व्यञ्जित हुआ है। अत यहाँ अलकार के अलकारान्तर ध्वनि है।

(२) कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध अलकार मे अलकारध्वनि का उदाहरण—

जैसे कि मेरी ही रचना मे है—

हे चञ्चल और बड़ी-बड़ी आँखों वाली प्रिये ! लावण्य और कान्ति से दिगन्तरों को भर देने वाले तुम्हारे मुख के मुस्कराहट से युक्त होने पर भी, जो कि इस समुद्र मे थोडा सा भी क्षोभ नहीं हो रहा, इससे यह अच्छी प्रकार स्पष्ट है कि यह समुद्र निरा जलराशि है (जडराशि है)।

इत्येवं विधे विषयेऽनुरणनरूपरूपकाश्रयेण काव्यचारुत्वव्यवस्थानाद् रूपकध्वनिरिति व्यपदेशो न्याय्यः ।

उपमाध्वनिर्यथा—

वीराण रमइ घुसिणरुणम्मि ण तहा पिआथणुच्छङ्गे ।
दिट्ठी रिउगअकुंभत्थलम्मि जह बहलसिन्दूरे ॥
(वीराणा रमते घुसृणारुणे न तथा प्रियास्तनोत्सङ्गे ।
दृष्टी रिपुगजकुम्भस्थले यथा बहलसिन्दूरे ॥)

यहाँ समुद्र को 'डलयोरभेद' नियम से जड (मूर्ख बुद्धिवाला) कहा गया है। तुम्हारे मुखरूपी पूर्ण चन्द्रमा को देखकर उसमे मदन विकार रूप क्षोभ उत्पन्न न होने से वह निरा जडबुद्धि है। उसमे सौन्दर्य को समझने तथा अनुभव करने की क्षमता नही है।

यह उक्ति कवि द्वारा निबद्ध नायक की है। जलराशि मे 'डलयोरभेद' नियम से दो अर्थ होकर श्लेष अलकार है। इस श्लेष अलकार से नायिका के मुख पर पूर्ण चन्द्र का आरोप व्यञ्जित होता है। इस प्रकार यहाँ वाच्य श्लेष अलकार से व्यङ्ग्य रूपक अलकार की अभिव्यञ्जना होती है। इसके साथ ही वाच्य मे व्यङ्ग्य रूपक अलकार का सौन्दर्य प्रधान है। इसलिये यहाँ कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध अलकार से अलकार ध्वनि है। इसी की व्याख्या वत्ति मे है—

हिन्दी अर्थ—इस प्रकार के विषय (उदाहरण) मे अनुरणनरूप रूपक का आश्रय लेकर काव्य के चारुत्व की व्यवस्था होने से यहाँ रूपक ध्वनि का व्यवहार होना युक्तिसगत है।

(३) स्वत सम्भवी अलकार से अलकारध्वनि (उपमा) का उदाहरण—जैसे कि उपमाध्वनि है—

वीर मनुष्यो की दृष्टि कुङ्कुम से लाल रङ्गे प्रिया के स्तनों के उत्सङ्ग मे उतनी नहीं रमती, जितनी कि बहुत अधिक सिन्दूर से पुते शत्रुओं के हाथियों के कुम्भस्थल में आनन्द पाती है।

सजी धजी प्रियतमा के आश्वासन मे लगे रहना और तुरन्त ही युद्ध के लिये शीघ्रता करना, इस प्रकार दृष्टि के दोलायमान होने पर भी युद्ध मे ही त्वरा का अतिशय है, इस प्रकार यहाँ व्यतिरेकालङ्कार है। कवि की यह कल्पना काव्य मे ही सत्य नही है, अपितु लोक मे भी सत्य हैं, अत यह व्यतिरेक स्वत सम्भवी है। इस व्यतिरेक के द्वारा गजकुम्भस्थल और प्रिया के स्तनो मे सादृश्य भी अभिव्यञ्जित होता है। इस प्रकार इस पद्य मे स्वत सम्भवी वाच्य व्यतिरेक अलङ्कार से व्यञ्जित होने वाली उपमा से प्रधानतया चारुत्व की निष्पत्ति है। इसलिये यहाँ स्वत सम्भवी अलङ्कार से अलङ्कारध्वनि है।

यथा वा ममैव विषमबाणलीलायामसुरपराक्रमणे कामदेवस्य—

तं ताण सिरिसहोअररअणाहरणम्मि हिअअमेक्करसम् ।
बिम्बाहरे पिआणं णिवेसिअं कुसुमबाणेन ।।
(तत्तेषां श्रीसहोदररत्नाहरणे हृदयमेकरसम् ।
बिम्बाधरे प्रियाणां निवेशितं कुसुमबाणेन ।।)

आक्षेपध्वनिर्यथा—

स वक्तुमखिलान् शक्तो हयग्रीवाश्रितान् गुणान् ।
योऽम्बुकुम्भैः परिच्छेदं ज्ञातुं शक्तो महोदधेः ।।

अत्रातिशयोक्त्या हयग्रीवगुणानामवर्णनीयताप्रतिपादनरूपस्यासाधारणतद्विशेषप्रकाशनपरस्य आक्षेपस्य प्रकाशनम् ।

अर्थान्तरन्यासध्वनिः शब्दशक्तिमूलानुरणनरूपव्यङ्ग्योऽर्थशक्तिमूलानुरणनरूपव्यङ्ग्यश्च सम्भवति । तत्राद्यस्योदाहरणम्—

---

(४) कवि प्रौढोक्तिसिद्ध अलङ्कार से अलङ्कार (उपमा) ध्वनि—

जैसे कि मेरी ही रचना 'विषमबाणलीला' मे कामदेव के पराक्रम का वर्णन करने मे है—

लक्ष्मी के सहोदर (साथ उत्पन्न होने वाले) रत्नो के आहरण मे एकरस उन (असुरो) के हृदय को कामदेव ने प्रियाओ के बिम्ब रूपी अधर मे निवेशित कर दिया ।

उन असुरो का हृदय विजय की इच्छा की अग्नि से अत्यधिक प्रज्ज्वलित हो रहा था, इस प्रकार यहाँ अतिशयोक्ति अलङ्कार है। इस अतिशयोक्ति से उपमा व्यञ्जित होती है कि बिम्बाधर सारे रत्नो के तुल्य हैं। इस उपमा म ही इस काव्य के चारुत्व की निष्पत्ति है। अत यहाँ कविप्रौढोक्तिसिद्ध अलङ्कार से अलङ्कार (उपमा) ध्वनि है ।

(५) कविप्रौढोक्तिसिद्ध अलङ्कार से अलङ्कार (आक्षेप) ध्वनि—

आक्षेप ध्वनि का उदाहरण, जैसे—

हयग्रीव के आश्रित सभी गुणो का वर्णन करने मे 'वह ही समर्थ हो सकता है, जो पानी के घडो से नाप कर समुद्र के परिमाण को जान सकता है ।

इस पद्य मे अतिशयोक्ति अलङ्कार वाच्य अलङ्कार है। इस अतिशयोक्ति अलङ्कार से हयग्रीव के समस्त गुणो की अवर्णनीयता प्रतिपादित होती है और उसकी असाधारण विशेषताओ का प्रकाशन होता है। आक्षेप अलङ्कार वहाँ होता है, जहाँ इष्ट का प्रतिषेध किया जाता है। इस प्रकार यहाँ गुणो की अवर्णनीयता का प्रतिपादन ही आक्षेप है, क्योकि कवि का इष्ट गुणो का वर्णन करना है। यह आक्षेप ही यहाँ मुख्यतया चारुत्व का निष्पादक है। इस प्रकार इस पद्य मे कविप्रौढोक्तिसिद्ध अलङ्कार (व्यतिरेक) से अलङ्कार (आक्षेप) ध्वनि है ।

अर्थान्तरन्यास ध्वनि—

अर्थान्तरन्यास ध्वनि दो प्रकार की हो सकती है—शब्दशक्तिमूल अनुरणनरूप व्यङ्ग्य और अर्थशक्तिमूल अनुरणनरूप व्यङ्ग्य । उनमे से पहले का उदाहरण—

दैव्वाएत्तम्मि फले किं कीरइ एत्तिग्रं पुणा भणिमो।
ककिल्लपल्लवाः पल्लवाणं ण सरिच्छ ॥
(दैवायत्ते फले किं क्रियतामेतावत् पुनर्भणामः।
रक्ताशोकपल्लवा पल्लवानामन्येषा न सदृशाः ॥)

पदप्रकाशश्चायं ध्वनिरिति वाक्यस्यार्थान्तरतात्पर्येऽपि सति न विरोधः।

यद्यपि शब्दशक्तिमूल ध्वनि का विवेचन और उदाहरणो का प्रदर्शन ग्रन्थकार पहले कर चुके हैं और इस प्रकरण मे अर्थशक्तिमूल ध्वनि की विवेचना की जा रही है, तथापि अर्थान्तरन्यास ध्वनि के शब्दशक्तिमूल एव अर्थशक्तिमूल दोनो प्रकार का होने से दोनो के उदाहरण ग्रन्थकार ने इस स्थल पर दे दिये हैं। पहले शब्दशक्तिमूल अनुरणनरूप अर्थान्तरन्यासध्वनि का उदाहरण देते है—

(६) शब्दशक्तिमूल अर्थान्तरन्यासध्वनि का उदाहरण—

विधाता के आधीन फल होता है, इसमे क्या किया जावे ? तो भी इतना तो पुन कहते हैं कि रक्त अशोक के पल्लव अन्य पल्लवो के समान नहीं होते।

यह ध्वनि पदप्रकाश है, इसलिये वाक्य के अर्थान्तर (अप्रस्तुतप्रशसा) मे तात्पर्य होने पर भी विरोध नहीं है।

भाव यह है कि यहाँ अर्थान्तरन्यास और अप्रस्तुतप्रशसा दो ध्वनि हो सकती हैं। सामान्य विशेष के समर्थ्य-समर्थक भाव से होने पर अर्थान्तरन्यास होता है और अप्रस्तुत के अभिव्यञ्जित होने पर अप्रस्तुतप्रशसा होना हैं।

इस पद्य मे, अशोक का पल्लव आम्र आदि अन्य वृक्षो के पल्लवो के समान नही है और अत्यधिक हृद्य है, अभिधा यही समाप्त हो जाती है। इस अभिधेय अर्थ के द्वारा अर्थान्तरन्यास की अभिव्यक्ति इस प्रकार है—सामान्य यह है=लोकोत्तर विजयेच्छा और उसका उपाय करने मे प्रवृत्त व्यक्ति को भी उसका समग्रफल कदाचित् प्राप्त न भी होता। विशेष है—अन्य पल्लवो द्वारा विधाता की रचना के कारण रक्त अशोक के पल्लवों का सादृश्यरूप फल न प्राप्त करना। इस प्रकार विशेष से सामान्य का समर्थन रूप अर्थान्तरन्यास अलङ्कार अभिव्यञ्जित होता है, जो कि अप्रस्तुत चारुत्व का हेतु है। यह अर्थान्तरन्यास 'फले' पद से अभिव्यञ्जित होता है, अत शब्द-शक्तिमूल है।

यहाँ अप्रस्तुतप्रशसा भी हो सकती है। इस अवस्था मे रक्ताशोक वृत्तान्त अप्रस्तुत होगा और लोकोत्तर प्रयत्न करने पर भी विफल रहने वाले व्यक्ति का वृत्तान्त प्रस्तुत होगा। इस अप्रस्तुत वृत्तान्त से प्रस्तुत वृत्तान्त के अभिव्यञ्जित होने से अप्रस्तुतप्रशसा ध्वनि भी है। इस कारण यह शङ्का उत्पन्न होती है कि यहाँ शब्दशक्ति-मूल अर्थान्तरन्यास ध्वनि है अथवा अप्रस्तुतप्रशसा ध्वनि है।

द्वितीयस्योदाहरणम्—

> हिअ अट्ठाविअ मण्णुं अवरुण्णमुहं हि मं पसाअन्त ।
> अवरद्धस्स वि ण हु दे पहुंजाणअ रोसिउं सक्कम् ॥
> (हृदयस्थापितमन्युमपरोषमुखीमपि मा प्रसादयन् ।
> अपराद्धस्यापि न खलु ते बहुज्ञ रोषितुं शक्यम् ॥)

अत्र हि वाच्यविशेषेण सापराद्धस्यापि बहुज्ञस्य कोपः कर्तुमशक्य इति समर्थकं सामान्यमन्वितमन्यत्तात्पर्येण प्रकाशते ।

वस्तुत अर्थान्तरन्यासध्वनि 'फले' इस पद से प्रकाशित होती है, अत वह पदप्रकाश है । अप्रस्तुतप्रशसाध्वनि का प्रकाशन सम्पूर्ण वाक्य से होता है, अत वह वाक्यप्रकाश है । अर्थान्तरन्यास के पदप्रकाश होने और अप्रस्तुतप्रशसा के वाक्यप्रकाश होने से इन दोनो की भी उपस्थिति से कोई विरोध नही होता । इसीलिये ध्वनिकार ने कहा कि यह अर्थान्तरन्यासध्वनि पदप्रकाश है, इसलिये वाक्य का अर्थान्तर (अप्रस्तुत-प्रशसा) मे तात्पर्य होने पर भी विरोध नही है । तथापि यहाँ अर्थान्तरन्यासध्वनि प्रधान है, ऐसा अभिनवगुप्त का मत है—

तत्रापि पुन फलपदोपात्तसमर्थ्यसमर्थकभावप्राधान्यमेव भातीत्यर्थान्तरन्यासध्वनि-रेवायमिति भाव ।"

भाव यह है कि उन दोनो मे भी पुन. फल पद से उपात्त समर्थ्यसमर्थकभाव का ही प्राधान्य प्रतीत होता है, अत यह अर्थान्तरन्यासध्वनि ही है ।

(७) अर्थशक्तिमूल अर्थान्तरन्यासध्वनि का उदाहरण—

दूसरे का उदाहरण हैं—

हृदय मे क्रोध को स्थापित किये भी मुख पर क्रोध को प्रकट न करने वाली मुझ को मनाते हुये, हे बहुज्ञ ! अपराधी होते हुये भी तुम पर क्रोध नहीं किया जा सकता ।

यहाँ वाच्य विशेष के द्वारा अपराधी होते हुये या बहुज्ञ पर क्रोध नहीं किया जा सकता, यह समर्थक सामान्य तात्पर्य से अन्य विशेष को प्रकाशित करता है । इस लिये यहाँ अर्थान्तरन्यासध्वनि है ।

इस पद्य मे वाच्य द्वारा यह प्रतीति—'तुम समझदार हो अत अपराधी होते हुये भी तुम पर क्रोध नही किया जा सकता" विशेष है । 'किसी भी समझदार व्यक्ति पर उसके अपराधी होते हुये भी क्रोध करना सम्भव नही है," यह सामान्य है । सामान्य से विशेष का यहाँ समर्थन अभिव्यञ्जित होता है, अर्थात् सामान्य यहाँ विशेष के समर्थक के रूप मे व्यक्त होता है और यही अभिव्यक्ति चमत्कारजनक है । अत यहाँ अर्थशक्तिमूल अर्थान्तरन्यासध्वनि है ।

व्यतिरेकध्वनिरप्युभयरूप सम्भवति । तत्राद्यस्योदाहरणप्राक् प्रदर्शितमेव। द्वितीयस्योदाहरण यथा—

जाएज्ज वणुद्देशे खुज्ज व्विअ पाअवो गडिअवत्तो ।
मा माणुसम्मि लोए ताएक्करसो दरिद्दो अ ॥
(जायेय वनोद्देशे कुब्ज एव पादपो गलितपत्र ।
मा मानुषे लोके त्यागैकरसो दरिद्रश्च ॥)

अत्र हि त्यागैकरसस्य दरिद्रस्य जन्मानभिनन्दन त्रुटितपत्रकुब्जपादप-जन्माभिनन्दन च साक्षाच्छब्दवाच्यम्। तथाविधादपि पादपात् तादृशस्य पुस उपमानोपमेयत्वप्रतीतिपूर्वक शोच्यतायामाधिक्यतात्पर्येण प्रकाशयति ।

उत्प्रेक्षाध्वनिर्यथा—

चन्दनासक्तभुजगनि श्वासानिलमूर्छित ।
मूर्छयत्येष पथिकान् मधौ मलयमारुत ॥

व्यतिरेक ध्वनि—

व्यतिरेक ध्वनि भी दो प्रकार की सम्भव होती है (शब्दशक्तिमूल और अर्थ शक्तिमूल)। उनमे से पहले का (शब्दशक्तिमूल का) उदाहरण पहले ही दिखा दिया गया है (ख मेऽत्युज्ज्वलयति० पृष्ठ १६६ पर)। दूसरे का (अर्थशक्त्युद्भव का) उदाहरण यह है, जैसे—

(८) अर्थशक्तिमूल व्यतिरेकध्वनि का उदाहरण—

एकान्त वन के प्रदेश मे गिरे हुये पत्तो वाला कुबडा वृक्ष होकर ही उत्पन्न हो जाऊ, परन्तु मनुष्यो के समाज मे एकमात्र त्याग में परायण तथा दरिद्र होकर उत्पन्न न होऊ।

इस पद्य में त्याग में एकमात्र परायण दरिद्र के जन्म का अभिनन्दन न करना और त्रुटितपत्र एव कुबडे वृक्ष के जन्म का अभिनन्दन करना ये दोनों अर्थ साक्षात् शब्दो से वाच्य हैं। इस प्रकार के भी वृक्ष से उस प्रकार के पुरुष में उपमान-उपमेय भाव की प्रतीति होती है और उससे तात्पर्य रूप से उस प्रकार के पुरुष की शोचनीयता के अधिक्य की व्यञ्जना होती है। इस प्रकार यहाँ व्यतिरेक अलङ्कार ध्वनि है।

इस उदाहरण मे कोई वाच्य अलङ्कार नही है। इसलिये यहा स्वत सम्भवी वस्तु से व्यतिरेक ध्वनि है।

(९) अर्थशक्ति उत्प्रेक्षाध्वनि का उदाहरण—

उत्प्रेक्षा ध्वनि है जसे—

चन्दन के वृक्षों पर लिपटे हुये सर्पों की नि श्वास की वायु से मूर्छित होता हुआ (वृद्धि को प्राप्त करता हुआ) यह मलय पवन वसन्त ऋतु में पथिकों को मूर्छित करता है।

अत्र हि मधौ मलयमारुतस्य पथिकमूर्छाकारित्वं मन्मथोन्माथदायित्वेनैव। तत्तु चन्दनासक्तभुजगनिःश्वासानिलमूर्छितत्वेनोत्प्रेक्षितमित्युत्प्रेक्षा साक्षादनुक्तापि वाक्यार्थसामर्थ्यादनुरणनरूपा लक्ष्यते। न चैवंविधे विषये इवादिशब्दप्रयोगमन्तरेणासम्बद्धतैवेति शक्यते वक्तुम्। गमकत्वादन्यत्रापि तदप्रयोगे तदर्थावगतिदर्शनात्।

यहाँ निश्चय से वसन्त ऋतु में मलय पवन द्वारा पथिकों को मूर्छित करना काम के उन्माद को प्रदान करने से ही होता है। उसकी यहाँ चन्दन पर लिपटे हुये सर्पों के निःश्वास की वायु के वृद्धिगत होने रूप हेतु के रूप में उत्प्रेक्षा की गई है। इस प्रकार यह उत्प्रेक्षा साक्षात् शब्दों से (इव आदि से) अनुक्त होती हुई भी वाक्य के अर्थ के सामर्थ्य से अनुरणनरूप प्रतीत होती है। यह नहीं कहा जा सकता कि इसप्रकार के विषय में इव आदि शब्दों के प्रयोग के बिना उत्प्रेक्षा असम्बद्ध है, अर्थात् उनका सम्बन्ध नहीं हो सकता, क्योंकि गमक होने के कारण (वाच्य अर्थ के) अन्य स्थानों पर भी इव आदि का प्रयोग न होने पर उस अर्थ (उत्प्रेक्षा) की प्रतीति दृष्टिगोचर होती है। जैसे—

वस्तुतः वसन्त ऋतु में मलय पवन काम का उद्दीपन होने से पथिकों को मूर्छित करता है। परन्तु यहाँ यह सम्भावना की गई है कि मलय प्रदेश से आने के कारण इसमें चन्दन से लिपटे सर्पों के निःश्वासों के मिल जाने के कारण विषैलापन मिल गया है, अतः यह पथिकों को मूर्छित करता है। इस प्रकार यहाँ हेतुरूप उत्प्रेक्षा की सम्भावना के व्यञ्जित होने से उत्प्रेक्षाध्वनि है। इसके साथ यहाँ इस हेतु की सम्भावना भी व्यञ्जित होती है कि मलय पवन से पथिक की मूर्छा अन्यों को भी धैर्यच्युत करके मूर्छित कर सकती है। इस प्रकार यह दो प्रकार की उत्प्रेक्षा है। इस उत्प्रेक्षा का कथन 'इव' आदि पदों से नहीं हुआ, अपितु यह वाच्य अर्थ के सामर्थ्य से अनुरणनरूप से व्यङ्ग्य है। अतः यहाँ कविप्रौढोक्तिसिद्ध वस्तु से अर्थशक्तिमूल उत्प्रेक्षा ध्वनि है।

यहाँ यह शङ्का उत्पन्न होती है कि 'इव' आदि पदों के प्रयुक्त होने पर उत्प्रेक्षा व्यञ्जित होती है क्योंकि इनका प्रयोग न होने पर उत्प्रेक्षा असम्बद्ध होगी। ध्वनिकार का मत है कि इस प्रकार से नहीं कहा जा सकता। यहाँ गमक के द्वारा (योद्धा की प्रतिभा के सहयोग से चन्दनासक्त आदि विशेषणों के द्वारा) इव आदि पदों का प्रयोग किये बिना भी उत्प्रेक्षारूप अर्थ का बोध हो गया है। अन्य अनेक स्थलों पर भी इव आदि के प्रयोग के बिना भी उत्प्रेक्षा व्यञ्जित होती हुई दिखाई देती है।

(१०) इव के प्रयोग के बिना उत्प्रेक्षा की अभिव्यक्ति का उदाहरण। जैसे कि—

यथा—

ईसाकलुसस्स वि तुह मुहस्स ण पुण्णिमाचन्दो ।
अज्ज सरिसत्तण पविऊण अङ्ग विअ ण माइ ॥
(ईर्ष्याकलुषस्यापि तव मुखस्य नन्वेष पूर्णिमाचन्द्रः ।
अद्य सदृशत्व प्राप्याङ्ग एव न माति ॥)

यथा वा—

त्रासाकुल परिपतन् परितो निकेतान्
पुम्भिर्न कैश्चिदपि धन्विभिरन्वबन्धि ।
तस्थौ तथापि न मृग. क्वचिदङ्गनाभि—
राकर्णपूर्णनयनेषु हतेक्षणश्रीः ॥

ईर्ष्या से मलिन होते हुये भी तुम्हारे मुख के सादृश्य को पाकर आज यह पूर्णिमा का चन्द्रमा निश्चय से अपने अङ्गो मे समा नहीं रहा है ।

पूर्णिमा का चन्द्रमा स्वाभाविक रूप से सब दिशाओ को प्रकाशित करता है । परन्तु यहाँ कवि ने चन्द्रमा के इस व्यवहार के लिये 'सुन्दरी के मुख की सादृश्यप्राप्ति' हेतु की कल्पना की है । यह उत्प्रेक्षा इव आदि शब्दों से वाच्य न होने के कारण व्यङ्ग्य है और यहाँ कविप्रौढोक्तिसिद्ध वस्तु से अर्थशक्तिमूल उत्प्रेक्षाध्वनि है ।

यहाँ कोई समालोचक कह सकता है कि पद्य के 'ननु' पद द्वारा वितर्क रूप उत्प्रेक्षा का अभिधान होने से उत्प्रेक्षा वाच्य है, व्यङ्ग्य नही । तो उनके सन्तोष के लिये ध्वनिकार दूसरा उदाहरण देते हैं—

(११) अथवा जैसे—

भय से व्याकुल होते हुये और घरो के चारो ओर दौडते हुये मृग का किन्हीं भी धनुर्धारी पुरुषों ने पीछा नहीं किया । तो भी वह मृग कहीं अङ्गनाओं द्वारा कानो पर्यन्त खींचे गये नयनरूपी बाणों के प्रहार से विनष्ट आँखों की शोभा वाला होकर ही नहीं ठहरा ।

कवि ने यहाँ मृग के न ठहरने के हेतु की कल्पना की है कि वह मानो इसलिये नही ठहरा, क्योंकि अङ्गनाओ के कान पर्यन्त खीचे गये कटाक्ष रूपी बाणो ने उसके आँखो की कान्ति को नष्ट कर दिया था । इस हेतु के इव आदि शब्दो द्वारा वाच्य न होने पर भी उसकी व्यञ्जना शब्द के सामर्थ्य से हो जाती है । अत यहाँ कविप्रौढोक्तिनिबद्ध वस्तु से अर्थशक्तिमूल उत्प्रेक्षाध्वनि है ।

पहले यह शङ्का की गई थी कि उत्प्रेक्षा की अभिव्यञ्जना 'इव' आदि पदो के सामर्थ्य से होती है, क्योंकि इव आदि का प्रयोग न करने पर उत्प्रेक्षा की सम्भावना म असम्बद्धता प्रतीत होगी । उसके उत्तर के रूप मे ग्रन्थकार ने "ईसाकलुसस्स॰" और "त्रासाकुल परिपतन्॰" उदाहरण दिये कि यहाँ 'इव' आदि पदो के बिना भी उत्प्रेक्षा व्यञ्जित हुई है, अत "चन्दनासक्त॰" उदाहरण मे भी 'इव' आदि पदो का प्रयोग न होने पर भी उत्प्रेक्षा की व्यञ्जना है । परन्तु इन उदाहरणों म भी पुन असम्बद्धता के दोष का आरोप किया जा सकता है । इसका उत्तर देने के लिये ध्वनिकार कहते हैं—

शब्दार्थव्यवहारे च प्रसिद्धिरेव प्रमाणम्।

श्लेषध्वनिर्यथा—

रम्या इति प्राप्तवतीः पताकाः रागं विविक्ता इति वर्धयन्तीः।
यस्यामसेवन्त नमद्वलीकाः सम वधूभिर्वलभीर्युवानः॥

अत्र वधूभिः सह वलभीरसेवन्तेति वाक्यार्थप्रतीतेरनन्तरं वध्व इव वलभ्य इति श्लेषप्रतीतिरशाब्दाऽप्यर्थसामर्थ्यान्मुख्यत्वेन वर्तते।

यथासंख्यध्वनिर्यथा—

अङ्कुरितः पल्लवितः कोरकितः पुष्पितश्च सहकारः।
अङ्कुरित पल्लवितः कोरकितः पुष्पितश्च हृदि मदनः।

हिन्दी अर्थ—शब्द और अर्थ के व्यवहार में प्रसिद्धि (सहृदयों का अनुभव) ही अर्थ की प्रतीति मे प्रमाण है।

भाव यह है कि 'इव' के द्वारा ही उत्प्रेक्षा की व्यञ्जना होती है, अथवा इसके अभाव मे भी व्यञ्जित हो जाती है, इसमे सहृदयों का अनुभव ही प्रमाण है। उस अनुभव से यहाँ 'इव' आदि पदो के अभाव मे भी उत्प्रेक्षा की प्रतीति हो जाती है तथा यहाँ असम्बद्धार्थकता नही होगी।

(१२) अर्थशक्तिमूल श्लेषध्वनि का उदाहरण—

श्लेषध्वनि है, जैसे—

जिस द्वारिका नाम की नगरी मे युवकगण, ये सुन्दर हैं इस प्रसिद्धि को प्राप्त करती हुई, ये पवित्र हैं इस प्रकार अनुराग को बढाने वाली और झुकी हुई त्रिवली से युक्त वधुओं के साथ, रमणीय होने के कारण ध्वजाओं को प्राप्त करती हुई, एकान्त स्थान है इस कारण काम को उद्दीप्त करती हुई और झुके हुये छज्जों वाली वलभियों का (गुप्त कमरो का) सेवन करते थे।

यहाँ 'वधुओं के साथ वलभियों का सेवन करते थे', इस वाक्यार्थ की प्रतीति के अनन्तर वधुओं के समान वलभियां हैं, यह श्लेष की प्रतीति होती है। यह श्लेष की प्रतीति शब्दजनित न होकर भी अर्थ के सामर्थ्य से मुख्य रूप से व्यक्त होती है।

यहां यह शङ्का है कि 'समम्' पद का अर्थ 'समान' भी होता है। अत 'वधूभि सम वलभी', वलभियां वधुओ के समान हैं, यह अर्थ होकर उपमा वाच्य होगी। यह ठीक है। परन्तु उपमा की अभिव्यक्ति श्लेष के सामर्थ्य से है। वह श्लेष अभिधा से आक्षिप्त नही है, अपितु अर्थ के सौन्दर्य के सामर्थ्य से आक्षिप्त है अत श्लेष यहाँ व्यङ्ग्य ही है। इसी कारण ग्रन्थकार ने वृत्ति मे 'वध्व इव वलभ्य' कह कर भी यहाँ उपमाध्वनि प्रतिपादित नही की लक्ष्य श्लेषध्वनि ही यहाँ प्रतिपादित की गई है।

(१३) अर्थशक्तिमूल यथासंख्यध्वनि भी होती है।

यथासंख्यध्वनि है, जैसे—

आम के वृक्ष मे पहले अङ्कुर आये, फिर पल्लव आये, फिर कलियां आई और तदनन्तर वह पुष्पित हुआ। इसी क्रम से कामदेव अङ्कुरित हुआ, पल्लवित हुआ, कोरकित हुआ और पुष्पित हुआ।

एवमन्येऽप्यलङ्काराः यथायोगं योजनीयाः ॥२७॥

अत्र हि यथोद्देशमनूद्देशे यच्चारुत्वमनुरणनरूपं मदनविशेषणभूताङ्कुरितादिशब्दगतं तन्मदनसहकारयोस्तुल्ययोगितासमुच्चयलक्षणाद्वाच्यादतिरिच्यमानमालक्ष्यते ।

यहाँ उद्देश (प्रथमक्रम) का अनूद्देश (द्वितीय क्रम) मे जो अनुरणन रूप मदन के विशेषणभूत अङ्कुरित आदि शब्दो का चारुत्व है, वह मदन और सहकार के तुल्ययोगिता या समुच्चयरूप वाच्य अलङ्कार से अधिक उत्कृष्ट दिखाई देता है।

इस पद्य मे प्रस्तुत मदन और सहकार मे समान धर्म का कथन करने से तुल्ययोगिता अलङ्कार है (नियताना सकृद्धर्म सा पुनस्तुल्ययोगिता) और शृङ्गार रस की सिद्धि के लिये एक हेतु होने पर भी अनेक हेतुओ का कथन करने से समुच्य अलङ्कार है (तत्सिद्धिहेतावेकस्मिन् यत्रान्यत्तत्कर भवेत् । समुच्चयोऽसौ)। ये दोनो अलङ्कार यहाँ वाच्य है। परन्तु इन अलङ्कारो के अर्थसामर्थ्य से अभिव्यक्त यथासख्य अलङ्कार का यहाँ चारुत्व अधिक है। इसलिये यहाँ स्वत सम्भवी अलङ्कार से यथासख्य अलङ्कारध्वनि है।

इस प्रकार कुछ अलङ्कारो का ध्वनित्व प्रतिपादित करके ग्रन्थकार कहते हैं कि यह ध्वनित्व अन्य अलङ्कारो म भी हो सकता है—

हिन्दी अर्थ—इस प्रकार अन्य अलङ्कार भी यथोचित रूप से योजित कर लेने चाहियें।

भाव यह है कि सभी अलङ्कारो की ध्वन्यमानता दृष्टिगोचर होती है। कुछ के उदाहरण ग्रन्थकार ने दे दिये है। अन्य अलङ्कारा के ध्वनित्व का नियोजन सहृदयो को स्वय करना चाहिये। अभिनवगुप्त ने कुछ अलकारो के ध्वनित्व को उदाहरण द्वारा प्रस्तुत किया है। उनको सक्षेप से यहाँ लिखना उचित होगा—

(१) दीपकध्वनि—

मा भवन्तमनल पवनो वा वारणो मदकल परशुर्वा
वज्रमिन्द्रकरविप्रसृत वा स्वस्ति तेऽस्तुलतया सह वृक्ष ॥

यहाँ ये सब पदार्थ तुमको 'मत बाधित करें' यह क्रियारूप अर्थ अभिव्यक्त होता है, इस क्रिया का अनेक कारको के साथ सम्बन्ध होने से दीपक अलङ्कार के चारुत्व की निष्पत्ति है। अत यहाँ दीपकध्वनि है।

(२) अप्रस्तुतप्रशसाध्वनि—

ढुण्ढुल्लन्तो मरिसिहि कण्टअकलिआइं केअइवणाइं ।
मालइकुसुमसरिच्छं भमर भमन्तोण पाविसिहि ॥

एवमलङ्कारध्वनिमार्गं व्युत्पाद्य तस्य प्रयोजनवत्तां स्थापयितुमिद- मुच्यते—

शरीरीकरणं येषां वाच्यत्वेन व्यवस्थितम् ।
तेऽलङ्काराः परां छायां यान्ति ध्वन्यङ्गतां गताः ॥२८॥

प्रियतम के साथ घूमती हुई किसी नायिका ने भ्रमर को लक्ष्य करके यह उक्ति कही। भ्रमर के अप्रस्तुत वृत्तान्त से वह प्रियतमा को धूर्त स्त्रियों के पास जाने के सम्बन्ध में उलाहना देकर प्रस्तुत वृत्तान्त को अभिव्यञ्जित कर रही है। अतः यहाँ अप्रस्तुतप्रशंसाध्वनि है।

(३) अपह्नुतिध्वनि—

य कालागुरुपत्त्रभङ्गरचनावासैकसारायते
गौराङ्गीकुचकुम्भभूरिसुभगाभोगे सुधाधामनि ।
विच्छेदानलदीपितोत्कवनिताचेतोधिवासोद्भव
सन्तापविनिरीपुरेप वितर्तैरङ्गैनंताङ्गि स्मर ॥

चन्द्रमा के मध्य में यह कलङ्क नहीं है, अपितु विरहिणी वनिता के हृदय में उत्पन्न ज्वाला से मलिन कान्ति वाले कामदेव का आकार है, इस प्रकार प्रस्तुत वस्तु के अपह्नव के व्यङ्ग्य होने से अपह्नुतिध्वनि है। इस पद्य में सन्देह और उपमेयोपमा- ध्वनि भी हैं।

अभिनवगुप्त का कथन है कि इन अलङ्कारध्वनियों के संकर और संसृष्टि भी हो सकते हैं, जिनका कि यथोचित रूप से विचार कर लेना चाहिये। यहाँ उदाहरण के रूप में उन्होंने अपने ही एक पद्य को उद्धृत किया है—

केनिवन्दनिनस्य त्रिभ्रममधोर्युर्य वमन्ते दृशो
भङ्गीभिन्नस्वामकामुंकमिद भ्रूनर्मकर्मभ्रम ।
भाषानेऽपि विकारकारणमहो वक्त्राम्बुजन्मागव.
सत्य सुन्दरि वेधसस्त्रिजगतीसारस्त्वमेवाहृति ॥

इस पद्य में अतिशयोक्तिध्वनि, विभावनाध्वनि, तुल्ययोगिताध्वनि, ये तीन ध्वनियाँ हैं। इस प्रकार सभी अलङ्कार ध्वनि के अङ्ग हो सकते हैं।

यथायोगम्—वृत्ति में 'यथायोगम्' का अभिप्राय यह है कि कहीं अलङ्कार और कहीं वस्तुध्वनि होती है ॥२७॥

प्राचीन आचार्यों ने जिन अलङ्कारों का प्रतिपादन किया था, उनमें व्यङ्ग्यत्व के प्रतिपादन का लाभ क्या है, इसकी प्रयोजनवत्ता को प्रकार कहते हैं—

हिन्दी अर्थ—इस प्रकार अलङ्कार ध्वनि के मार्ग का प्रतिपादन करके, अर्थात् उसका विस्तृत रूप से विवेचन करके उसकी प्रयोजनवत्ता को बताने के लिये यह कहा जाता है—

जिन अलङ्कारों का वाच्य अवस्था में शरीरीकरण व्यवस्थित नहीं है, ध्वनि के अङ्ग होकर वे अलङ्कार परम चारुत्व को प्राप्त होते हैं ॥२८॥

ध्वन्यङ्गता चोभाभ्यां प्रकाराभ्यां व्यञ्जकत्वेन व्यङ्ग्यत्वेन च। तत्रेह प्रकरणाद् व्यङ्ग्यत्वेनेत्यवगन्तव्यम्। व्यङ्ग्यत्वेऽप्यलङ्काराणां प्राधान्यविवक्षायामेव सत्यां ध्वनावन्तःपातः। इतरथा तु गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वं प्रतिपादयिष्यते ॥२८॥

अङ्गित्वेन व्यङ्ग्यतायामपि अलङ्काराणां द्वयी गतिः। कदाचिद् वस्तुमात्रेण व्यज्यन्ते कदाचिदलङ्कारेण। तत्र—

शरीरीकरण—शरीररूप होना अर्थात् काव्य के शरीर का ही एक अङ्ग बन जाना। शरीररूप प्रस्तुत से अर्थान्तररूप होने के कारण शरीर भिन्न का शरीर का अङ्ग बन जाना। जिस प्रकार कटक कुण्डल आदि अलङ्कार शरीर से भिन्न होते हुये भी शरीर पर धारण करने पर उसके अङ्ग बन कर परम शोभा को उत्पन्न करते हैं उसी प्रकार वाच्य रूप में स्थित होते हुये अलङ्कार काव्य का शरीर न होते हुये भी कवि की प्रतिभा द्वारा अनायास ही काव्य के शरीर के रूप में नियोजित हो जाते हैं। वे ही अलङ्कार जब ध्वनि का अङ्ग बनते हैं व्यङ्ग्यरूपता को प्राप्त करते हैं तो काव्य में परम चारुत्व को प्राप्त कराते हैं।

अलङ्कारों की ध्वन्यङ्गता किस प्रकार होती है—इसको बताते हैं—

हिन्दी अर्थ—अलङ्कारों की ध्वन्यङ्गता दो प्रकार से होती है—व्यञ्जकत्व रूप से और व्यङ्ग्यत्व रूप से।। यहाँ इस प्रकरण में अलङ्कारों का व्यङ्ग्यत्व ही समझना चाहिये। व्यङ्ग्य रूप होने पर ही अलङ्कार ध्वनि होंगे। परन्तु अलङ्कारों के व्यङ्ग्यरूप में होने पर भी जब उनकी विवक्षा प्रधान रूप से होती है तभी उनका ध्वनि में अन्तर्भाव होता है। अन्यथा, प्रधान रूप से विवक्षा न होने पर, अङ्ग रूप में रहने पर वहाँ गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य होगा, इसका आगे प्रतिपादन किया जायेगा ॥२८॥

भाव यह है कि अलङ्कारों के व्यङ्ग्य होने पर भी जब वे वाच्य अर्थ की अपेक्षा प्रधान रूप से विवक्षित होंगे अङ्गीरूप होंगे या उनमें ही चारुत्व के निष्पादन की विवक्षा होगी तभी उनको ध्वनि कहा जा सकेगा। दूसरी अवस्था में, अर्थात् उनके प्रधान रूप से विवक्षित न होने पर व्यङ्ग्य अलङ्कार के माध्यम से चारुत्व की परिसमाप्ति वाच्य अर्थ में ही होने पर गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य होगा ॥२८॥

अलङ्कारों के अङ्गी रूप से (प्रधान रूप से) व्यङ्ग्य होने पर भी उसकी अवस्था दो प्रकार की हो सकती है—कभी तो वे अलङ्कार वाच्य वस्तुमात्र से व्यञ्जित होते हैं और कभी वाच्य अलङ्कार के द्वारा।

इन दोनों अवस्थाओं में अलङ्कार ध्वनि का रूप क्या होगा इसको बताते हैं—

उनमें से—

व्यज्यन्ते वस्तुमात्रेण द्वितीय उद्योत यदालङ्कृतयस्तदा ।
ध्रुवं ध्वन्यङ्गता तासाम्,

अत्र हेतु.—

काव्यवृत्तेस्तदाश्रयात् ।।२६।।

यस्मात् तत्र तथाविधव्यङ्ग्यालङ्कारपरत्वेन काव्यं प्रवृत्तम् । अन्यथा तु तद् वाक्यमात्रमेव स्यात् ।।२६।।

तासामेवालङ्कृतीनाम्—

अलङ्कारान्तरव्यङ्ग्यभावे,

पुन —

ध्वन्यङ्गता भवेत् ।
चारुत्वोत्कर्षतो व्यङ्ग्यप्राधान्य यदि लक्ष्यते ।।३०।।

हिन्दी अर्थ—जब वस्तुमात्र के द्वारा अलङ्कार अभिव्यक्त होते हैं, तब उनकी ध्वन्यङ्गता (प्रधान रूप से स्थित होना) निश्चित है।

इसमे कारण है—

काव्य का व्यापार इसके ही (अङ्गीभूत अलङ्कार के ही) आश्रित है ।।२६।।

उसको ध्वनिकाव्य मानने का हेतु यह है, क्योंकि इस प्रकार के व्यङ्ग्य अलङ्कार के तात्पर्य से, उसकी रचना करने के लिये ही वह काव्य प्रवृत्त हुआ था। अन्यथा वह वाक्य मात्र ही होगा। उस अलङ्कार की ध्वनि रूप मे अभिव्यक्ति के लिये ही कवि काव्य की रचना करता है। यदि वह अलकार ध्वनि नहीं है, तो वह काव्य नहीं होगा अपितु साधारण काव्य गुणविहीन वाक्यमात्र होगा ।।२६।।

ध्वन्यता—ध्वनिभेदत्वमित्यर्थ । ध्वन्यङ्गता के अभिप्राय ध्वनि का भेद होना है।

वस्तुमात्र से अलंकारों के व्यङ्गत्व की अवस्था को कह कर ग्रन्थकार अलकारों से अलकारों के व्यङ्गत्व की अवस्था को कहते —

हिन्दी अर्थ—उन ही अलकारो के—

अलकारान्तर से व्यङ्ग्य होने पर—

पुन —

ध्वन्यङ्गता होती है। अर्थात् वे भेद होते हैं, यदि उनमे चारुत्व के उत्कर्ष से व्यङ्ग्य की प्रधानता लक्षित होती है तो ।।३०।।

अलङ्कार द्वारा अलकार के व्यङ्ग्य होने पर वहाँ अलकार ध्वनि होगी। परन्तु ध्वनि तभी होगी, जबकि व्यङ्ग्य अलकार के प्राधान्य की विवक्षा होगी।

भाव यह है कि जब वस्तुमात्र से अलकार व्यङ्ग्य होता है तो वहाँ वह व्यङ्ग्य अलकार निश्चित रूप से अलकारध्वनि है। जब अलकार से अलकार व्यङ्ग्य होता है तो वह व्यङ्ग्य अलकार प्रधानतया विवक्षित हो भी सकता है, नही भी हो सकता। यदि व्यङ्ग्य अलकार प्रधानतया विवक्षित है, तो वह ध्वन्यङ्ग है। यदि वह

उक्त ह्येतत्—चारुत्वोत्कर्षनिबन्धना वाच्यव्यङ्ग्ययोः प्राधान्यविवक्षा इति। वस्तुमात्रव्यङ्ग्यत्वे चालङ्काराणामनन्तरोपदर्शितेभ्य एवोदाहरणेभ्यो विषय उन्नेयः। तदेवमर्थमात्रेणालङ्कारविशेषरूपेण वार्थेन अर्थान्तरस्यालङ्कारस्य वा प्रकाशने चारुत्वोत्कर्षनिबन्धने सति प्राधान्येऽर्थशक्त्युद्भवानुरणनरूपव्यङ्ग्यो ध्वनिरवगन्तव्यः ॥३०॥

प्रधानतया विवक्षित नही है तो ध्वन्यङ्ग भी नही है। इसी तथ्य को ध्वनिकार पुन वृत्ति मे स्पष्ट करते है—

हिन्दी अर्थ—क्योकि यह कहा गया है—वाच्य और व्यङ्ग्य के प्राधान्य की विवक्षा उनके चारुत्व के उत्कर्ष के कारण ही होती है। अलकारों के वस्तुमात्र से व्यङ्ग्य होने पर उनके विषय को अभी ही दिखाये गये उदाहरणों से समझ लेना चाहिये। तो इस प्रकार अर्थमात्र (वस्तुमात्र) से अथवा अलाङ्कारविशेष रूप अर्थ से अर्थान्तरभूत अलङ्कार के अभिव्यक्त होने पर यदि वहाँ प्रधान रूप से चारुत्व के उत्कर्ष का निबन्धन है तो वहाँ अर्थशक्त्युद्भव अनुरणनरूपव्यङ्ग्य ध्वनि को समझना चाहिये।

इस प्रकार ध्वनिकार ने अनुरणनरूप ध्वनि के भेदो का यहाँ प्रतिपादन किया है। इसको अभिनवगुप्त ने निम्न शब्दो म कहा है—

'तदेवमिति। व्यङ्ग्यस्य व्यञ्जकस्य च प्रत्येक वस्त्वलङ्काररूपतया द्विप्रकारत्वाच्चतुर्विधोऽयमर्थशक्त्युद्भव इति तात्पर्यम्।"

व्यङ्ग्य और व्यञ्जक के प्रत्येक के वस्तु और अलकार दो प्रकार का होने से अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि चार प्रकार की होती है, यह तात्पर्य है। ध्वनि के भेदो की गणना अभिनवगुप्त ने निम्न प्रकार से की है—

"अविवक्षितवाच्यो विवक्षितान्यपरवाच्य इति द्वौ मूलभेदौ। आद्यस्य द्वौ भेदौ—अत्यन्ततिरस्कृतवाच्योऽर्थान्तरसंक्रमितवाच्यश्च। द्वितीयस्य द्वौ भेदौ—असंलक्ष्यक्रमोऽनुरणनरूपश्च। प्रथमोऽनन्तभेदः। द्वितीयो द्विविध—शब्दशक्तिमूलोऽर्थशक्तिमूलश्च। पश्चिमस्त्रिविध—कविप्रौढोक्तिनिर्मितशरीर, कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिनिर्मितशरीर स्वतःसम्भवी च। ते च प्रत्येक व्यङ्ग्यव्यञ्जकयोरुक्तभेदनयेन चातुर्विध्ये द्वादशविधा भवन्ति। आद्यैश्चत्वारो भेदा इति षोडश मुख्यभेदाः। ते च पदवाक्यप्रकाश्यत्वेन प्रत्येक द्विविधा लभ्यन्ते। असंलक्ष्यक्रमस्य तु वर्णपदवाक्यसंघटनाप्रबन्धप्रकाश्यत्वेन पञ्चत्रिंशद्भेदा।"

एवं ध्वनेः प्रभेदान् प्रतिपाद्य तदाभासविवेकं कर्तुमुच्यते—

यत्र प्रतीयमानोऽर्थः प्रम्लिष्टत्वेन भासते ।
वाच्यस्याङ्गतया वापि नास्यासौ गोचरो ध्वनेः ॥३१॥

द्वितीयोऽपि प्रतीयमानः स्फुटोऽस्फुटश्च । तत्र य एव स्फुटः शब्दशक्त्यार्थशक्त्या वा प्रकाशते स एव ध्वनेर्मार्गो नेतरः । स्फुटोऽपि योऽभिधेयस्याङ्गत्वेन प्रतीयमानोऽवभासते सोऽस्यानुरणनरूपव्यङ्ग्यस्य ध्वनेरगोचरः ।

शब्दशक्तिमूल और अर्थशक्तिमूल । दूसरे (अर्थशक्तिमूल) के तीन प्रकार है—कविप्रौढोक्तिकृतशरीर, कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिकृतशरीर और स्वतःसम्भवी । और ये तीनों प्रत्येक व्यङ्ग्य-व्यञ्जक के भेद से कहे गये प्रकार से चार प्रकार के है। इस प्रकार अर्थशक्तिमूलध्वनि १२ प्रकार की है। पहले चारो भेदो को मिलाकर ध्वनि के १६ मुख्य भेद है। पद और वाक्य की प्रकाशता से ये प्रत्येक दो प्रकार के कहे जायेंगे। वर्ण, पद, वाक्य, सघटना और ध्वनि की प्रकाशता के भेद से अलक्ष्यक्रमध्वनि के ३५ भेद है।

अभिनवगुप्त ने ध्वनि के मुख्य भेद १६ किये। परन्तु उत्तरवर्ती मम्मट आदि आदि आचार्यों ने १२ भेद किये। मम्मट ने उभय शक्तिमूल को एक भेद माना तथा शब्दशक्तिमूल के दो भेद—वस्तुध्वनि और अलकारध्वनि करके दो भेदो की वृद्धि की। इसप्रकार ध्वनि के मुख्य भेद १८ हुये ॥३०॥

पहले कहा जा चुका है कि प्रतीयमान अर्थ के प्रधानतया व्यङ्ग्य होने पर ध्वनि होती है एव प्रधानतया व्यङ्ग्य न होने पर व्यङ्ग्य वाच्य होता है उसी को समझाने के लिये ध्वनिकार यहाँ इसप्रकार कहते है—

हिन्दी अर्थ—इस प्रकार ध्वनि के प्रभेदों का प्रतिपादन करके उसके आभास (ध्वन्याभास या गुणीभूतव्यङ्ग्य) को समझाने के लिये यह कहते है—

जहाँ प्रतीयमान अर्थ प्रक्लिष्ट रूप से (अस्फुट रूप से) अवभासित होता है अथवा जो वाच्य अर्थ के अङ्ग के रूप मे अवभासित होता है, वह ध्वनि का विषय नहीं होता ॥३१॥

दूसरा प्रतीयमान अर्थ भी दो प्रकार से हो सकता है—स्फुट और अस्फुट। इनमे जो स्फुट प्रतीयमान अर्थ है, वह ही जब शब्दशक्ति के द्वारा या अर्थशक्ति के द्वारा प्रकाशित किया जाता है, तो वह ही ध्वनि का मार्ग होता है, दूसरा नहीं।

कहने का अभिप्राय यह है कि प्रतीयमान अर्थ जब स्फुट रूप से प्रकाशित हो प्रधान रूप से प्रतीत हो, तभी वह ध्वनि होता है। यदि वह अस्फुट रूप से प्रकाशित हो या, वाच्य अर्थ के अङ्ग के रूप म प्रतीत हो तो वह ध्वनि नहीं होगा, गुणीभूतव्यङ्ग्य वाच्य ही होगा।

यथा—

(कमलाअराणं मलिआ हंसा उड्डाविआ ण अ पिउच्छा ।
केण कि गामतडाए अब्भं उत्ताणअं फलिहम् ॥
कमलाकरा न मलिना हंसा उड्डायिता न च पितृष्वसः ।
केनापि ग्रामतडागे अभ्रमुत्तानितं क्षिप्तम् ॥)

अत्र हि प्रतीयमानस्य मुग्धवध्वा जलधर प्रतिबिम्बदर्शनस्य वाच्याङ्गत्वमेव ।

एवं विधेविषयेऽन्यत्रापि यत्र व्यङ्ग्यापेक्षया वाच्यस्य चारुत्वोत्कर्षप्रतीत्या प्राधान्यमवसीयते तत्र व्यङ्ग्यस्याङ्गत्वेन प्रतीतेर्ध्वनेरविषयत्वम् । यथा—

वाणीर कुडंगोड्डीणसउणि कोलाहलं सुणतीए ।
घरकम्म वावडाए बहुए सीअंति अंगाइं ॥
(वाणीर कुञ्जोड्डीनशकुनिकोलाहलं शृण्वन्त्या ।
गृहकर्मव्यापृताया वध्वाः सीदन्त्यङ्गानि ॥)

जैसे—हे बुआ जी ! देखो, जलाशय भी मलिन नहीं हुये हैं और न हंस ही उडाये गये हैं । किसी ने मेघों को उलटा करके गाव के तालाब मे डाल दिया है ।

यह प्रतीयमान अर्थ जो कि भोली नववधू द्वारा मेघ के प्रतिबिम्ब का दर्शन रूप है, वह वाच्य अर्थ का अङ्ग ही है ।

भाव यह है कि किसी भोली नववधू ने जलाशय के अन्दर प्रतिबिम्बित होते हुये मेघ को देखा । उसने समझा कि इसमे आकाश को ही किसी ने उलटा करके डाल दिया है । उसे आश्चर्य हुआ कि यदि आकाश को उलटा करके डाला गया है तो जलाशय को मलिन हो जाना चाहिये और हंसो को उड जाना चाहिये । परन्तु ऐसा नही हुआ । इसी बात को वह अपनी बुआसास से कह रही है ।

इस उक्ति मे प्रतीयमान अर्थ है—मुग्धवधू द्वारा मेघ के प्रतिबिम्ब का देखना और इससे विस्मय की प्रतीति यह अर्थ वाच्य अर्थ-वधू का भोला भोला होना, इसका अङ्ग है अर्थात् इस वाच्य अर्थ के चारुत्व का उत्कर्ष करता है । इसलिये प्रतीयमान अर्थ ध्वनि नही, गुणीभूतव्यङ्ग्य है ।

हिन्दी अर्थ—इस प्रकार के विषय से और दूसरे स्थान पर भी, जहां व्यङ्ग्य अर्थ की अपेक्षा वाच्य अर्थ के चारुत्व के उत्कर्ष की प्रतीति होती है, और वाच्य अर्थ का चारुत्व प्रधान रूप से प्रतीत होता है, वहां व्यङ्ग्य अर्थ की अङ्गत्व (अप्रधान) रूप से प्रतीति होने के कारण वह ध्वनि का विषय नहीं होता जैसे कि—

हिन्दी अर्थ—बेंत की लताओं के कुञ्ज से उडते हुये पक्षियों के कोलाहल को सुनती हुई और घर के कामकाज मे लगी हुई वधू के अङ्ग शिथिल हो रहे हैं ।

एवंविधो हि विषयः प्रायेण गुणीभूतव्यङ्ग्यस्योदाहरणेन निर्देक्ष्यते।

यत्र तु प्रकरणादि प्रतिपत्त्या निर्धारितविशेषो वाच्योऽर्थः पुनः प्रतीयमानाङ्गत्वेनैवावभासते सोऽस्यैवानुरणनरूपव्यङ्ग्यस्य ध्वनेर्मार्गः।

यथा—

उच्चिणसु पडिअ कुसुम मा धुण सेहालिअं हालिअसुह्णे।
अह दे विसमविरावो ससुरेण सुओ वलअसद्दो ॥
(उच्चिनु पतितं कुसुमं मा धुनीहि शेफालिका हालिकस्नुषे।
एष ते विषयविरावः श्वसुरेण श्रुतो वलयशब्दः ॥)

किसी वधू ने अपने प्रणयी से मिलने का स्थान खेत की लताओ का कुञ्ज नियत किया था, परन्तु घर के कामकाज मे फंसी वह वधू सास की उपस्थिति के कारण ठीक समय पर नही पहुँच सकी, जबकि उसका प्रणयी वहाँ पहुँच गया। पक्षियो के कोलाहल की ध्वनि प्रणयी के वहाँ पहुँचने की सूचना देती है एव वधू के सकेत स्थल पर न पहुँच सकने की मजबूरी की सूचना घर के काम मे फसी होने से मिलती है। यहाँ व्यङ्ग्य अर्थ–'प्रणयी सकेत स्थल पर पहुँचकर लताकुञ्ज मे प्रविष्ट हो गया है' की अपेक्षा वाच्य अर्थ-'वधू के अङ्ग मदनावस्था के कारए शिथिल हो रहे हैं' अधिक सुन्दर है, इस प्रकार प्रतीयमान अर्थ के अप्रधान होने से और वाच्य अर्थ के अधिक चारुत्व निष्पन्न होकर उसके प्रधान होने से यह काव्य गुणीभूतव्यङ्ग्य होगा। आचार्य मम्मट और विश्वनाथ ने इस पद्य को असुन्दर नामक गुणीभूतव्यङ्ग्य के उदाहरण के रूप मे प्रस्तुत किया है।

हिन्दी अर्थ—इस प्रकार का विषय प्राय गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य के उदाहरण के रूप मे दिखाया जायेगा।

क्योंकि इस पद्य मे व्यङ्ग्य अर्थ की अपेक्षा वाच्य अर्थ अधिक सुन्दर होता है, व्यङ्ग्य अर्थ वाच्य अर्थ का अङ्ग बनकर उसके चारुत्व की निष्पत्ति का हेतु होता है, अत यह पद्य गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य का उदाहरण होगा।

हिन्दी अर्थ—परन्तु जहाँ प्रकरण आदि की प्रतीति होकर विशेष अर्थ का निर्धारण करने वाला वाच्य अर्थ पुनः प्रतीयमान अर्थ के अङ्ग के रूप में ही अवभासित होता है, वह इस अनुरणनरूपव्यङ्ग्य ध्वनि का ही मार्ग है।

भाव यह है कि यदि किसी काव्य मे वाच्य अर्थ की अपेक्षा प्रतीयमान अर्थ कम सुन्दर हो, परन्तु प्रकरण आदि के परिज्ञान से अन्य विशेष प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति वाच्य के सामर्थ्य से हो तो वह वाच्य अर्थ उस विशेष प्रतीयमान अर्थ का अङ्ग प्रतीत होता है और वहाँ अनुरणनरूपव्यङ्ग्य ध्वनि होती है।

हिन्दी अर्थ—जैसे—

हे किसान की पुत्रवधू! नीचे गिरे हुये फूलों को ही चुनो, शेफालिका की लता को हिलाओ नहीं। तीव्र शब्द करने वाले या कठिनाई उत्पन्न करने वाले तुम्हारे कङ्कण के इस शब्द को ससुर ने सुन लिया है।

अत्र ह्यविनयपतिना सह रममाणा सखी बहिर्ध्रुतवलयकलकलया सख्या प्रतिबोध्यते। एतदपेक्षणीय वाच्यार्थ प्रतिपत्तये। प्रतिपन्ने च वाच्येऽर्थे *तस्याविनयप्रच्छादनतात्पर्येणाभिधीयमानत्वात्पुनर्व्यङ्ग्याङ्गत्वमेवेत्यस्मिन्ननुरणनरूपव्यङ्ग्यध्वनावन्तर्भाव* ॥३१॥

एव विवक्षितवाच्यस्य ध्वनेस्तदाभासविवेके प्रस्तुते सत्यविवक्षितवाच्यस्यापि त कर्तुमाह—

इस पद म वाच्य अथ से यह प्रतीयमान अथ निष्पन्न होता है कि ससुर शेफालिका का लता की प्रयत्नपूवक रक्षा करता है और उसके हिलाने आदि से कुपित होता है। यह प्रतीयमान अथ विपमविराव रूप वाच्य अथ की पुष्टि करता है अत वाच्य अथ का अङ्ग ही है। परतु प्रकरण आदि के द्वारा पुन इस प्रतीयमान अथ की भी प्रतीति होती है कि कोई किसान वधू अपने किसी धृष्ट प्रमी से रतिक्रीडा कर रही है। परन्तु उसके कङ्कन की ध्वनि बाहर सुनाई दती है। सखी की रक्षा करने एव उसके अविनय को छिपाने के लिय सखी इस पद्य को कह रही है जिससे यह अथ प्रतीत होता है कि किसानवधू किसी गुप्त प्रणयी से केलि नही कर रही अपितु शेफालिका के पुष्प चुन रही है। यहा प्रकरण आदि की प्रतीति स प्रतीत होन वाले इस प्रतीयमान अथ का वाच्य अथ अङ्ग हो जाता है अत यह अनुरणनरूप-व्यङ्ग्य ध्वनि काव्य है। इसी तथ्य को आनन्दवधन वृत्ति म स्पष्ट करते हैं—

हिन्दी अथ—यहाँ किसी धृष्ट प्रमी से रमण करती हुई सखी को बाहर से कङ्कण के शब्द को सुनने वाली सखी सावधान करती है। वाच्य अथ को जानने के लिये यह प्रतीयमान अथ अपेक्षित है। वाच्य अथ के विदित हो जाने पर उस वाच्य अथ के अविनय (परपुरुष से रमण करना) के छिपाने के तात्पय से कहा जाने के कारण यह पुन व्यङ्ग्य अर्थ का ही अङ्ग हो जाता है। अत इसका अनुकरणरूप व्यङ्ग्य ध्वनि काव्य मे अन्तर्भाव होता है।

प्रकरणादिप्रतिपत्त्या—प्रकरणम आदिर्यस्य शब्दान्तरसन्निधानसामर्थ्यलिङ्गादे स्तदवगमादेव। यहाँ प्रकरण आदि द्वारा व सब शब्दसन्निधि सामर्थ्य लिङ्ग आदि हेतु ग्रहण करने चाहियें जो अभिधा क नियन्त्रण म विशेष अथ क व्यक्ति हतु हैं। इनका उल्लेख पीछे किया गया है ॥३१॥

लक्षणामूल ध्वनि का गुणीभूतव्यङ्ग्यत्व

इस प्रकरण म ग्रन्थकार ने विवक्षितवाच्य ध्वनि का तदाभास (गुणीभूतव्यङ्ग्यत्व) प्रदर्शित किया है। इसलिये प्रकरण से प्राप्त होने के कारण वे लक्षणामूल ध्वनि का भी तदाभास (गुणीभूतव्यङ्ग्यत्व) प्रदर्शित कर रहे हैं—

हिन्दी अथ—इस प्रकार विवक्षितवाच्य ध्वनि के तदाभास (ध्वन्याभास गुणीभूतव्यङ्ग्यत्व) के विवेक के प्रस्तुत होने पर अविवक्षित वाच्य ध्वनि का भी वह करने के लिये (गुणीभूतव्यङ्ग्यत्व प्रस्तुत करने के लिये) कहते हैं—

अव्युत्पत्तेरशक्तेर्वा निबन्धो यः स्खलद्गतेः ।
शब्दस्य स च न ज्ञेयः सूरिभिर्विषयो ध्वने. ॥३२॥
स्खलद्गतेरुपचरितस्य शब्दस्य अव्युत्पत्तेरशक्तेर्वा निबन्धो यः स च न ध्वनेर्विषयः ॥३२॥

व्युत्पत्ति (प्रतिभा) या शक्ति (काव्यनिर्माणसामर्थ्य) के अभाव मे स्खलद् गति (बाधितविषय, लाक्षणिक या गौण) शब्द का जो निबन्धन है, विद्वानो को उसे ध्वनि का विषय नहीं समझना चाहिये ॥३२॥

व्युत्पत्ति या शक्ति के न होने से स्खलद्गति अर्थात् उपचरित शब्द का जो निबन्धन है, वह ध्वनि का विषय नही होता ।

यहाँ व्युत्पत्ति पद का अर्थ काव्य की रचना करने की प्रतिभा, शक्ति का अर्थ काव्य की रचना करने की असामर्थ्य और स्खलद्गति पद का अर्थ लाक्षणिक शब्द है। भाव यह है कि जब कवि मे प्रतिभा और शक्ति की न्यूनता हो और उसके कारण वह लाक्षणिक शब्दो का प्रयोग करके काव्य की रचना करे, तो वह काव्य ध्वनि नही होगा' अपितु गुणीभूतव्यङ्ग्य ही होगा। ध्वनिकार ने लक्षणामूल गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य के उदाहरण नही दिये है। अभिनवगुप्त ने इसके उदाहरण दिये हैं, जिनको प्रस्तुत करना उपयोगी होगा। अव्युत्पत्ति के कारण लाक्षणिक एव गौण शब्दो के प्रयोग का उदाहरण—

प्रेङ्खत्प्रेमप्रबन्धप्रचुरपरिचये प्रौढसीमन्तिनीना
चित्ताकाशावकाशे विहरति सतत य स सौभाग्यभूमि ॥

प्रौढ महिलाओ के स्फुरित होते हुये प्रचुर प्रेम मे बाँधने के परिचय वाले मन के आकाशरूप अवकाश मे जो निरन्तर विहार करता है, वह ही सौभाग्य का स्थान है ।

यहाँ अनुप्रास के प्रति रसिक होने के कारण कवि ने प्रतिभा की कमी से 'प्रेखत्' इस लाक्षणिक पद का और 'चित्ताकाश' इम गौण पद का प्रयोग किया है। इसमे लक्षणामूल व्यङ्ग्य अर्थ की प्रतीति होने पर भी उसका पर्यवसान चारुत्व न होने से यह ध्वनि नही है ।

अशक्ति का अभिप्राय है वृत्तपूर्ति आदि मे असमर्थता । जैसे—

विषमकाण्डकुटुम्बकसञ्चयप्रवर वारिनिधौ पतता त्वया ।
चलतरङ्गविघूर्णितभाजने विचलतात्मनि कुड्यमये कृता ॥

कामदेव के कुटुम्ब के समुदाय मे सबसे श्रेष्ठ (चन्द्र)! समुद्र मे गिरते हुय तुमने चञ्चल तरङ्गो मे हिलते हुये पात्र मे कुड्यमय अपने स्वय मे विचलता उत्पन्न कर दी ।

यहाँ 'विषमकाण्डकुटुम्बकसञ्चयप्रवर' पद से लक्षणा द्वारा 'चन्द्र' अर्थ लक्षित होता है, 'भाजन, पद से 'आशय' अर्थ लक्षित होता है और 'कुड्यमय' पद से 'विधन'

यतः—

सर्वेष्वेव प्रभेदेषु स्फुटत्वेनावभासनम् ।
यद् व्यङ्ग्यस्याङ्गिभूतस्य तत् पूर्णं ध्वनिलक्षणम् ॥३३॥

तच्चोदाहृतविषयमेव ॥३३॥

इति श्रीराजानकानन्दवर्धनाचार्य विरचितेध्वन्यालोके
द्वितीय उद्योतः

अर्थ लक्षित होता है। इन सब पदो का प्रयोग कवि ने व्यङ्ग्य अर्थ की प्रतीति के लिये नही, अपितु छन्दपूर्ति के लिये अधिक किया है। अत छन्दपूर्ति आदि की असमर्थता के कारण ही इस काव्य मे सौन्दर्यातिशय की निष्पन्नता नही हुई और यह काव्य ध्वनि नही होगा ॥३२॥

ध्वनि एव तदाभास की विवेचना करके अन्त मे उपसहार रूप मे ग्रन्थकार कहते है—

हिन्दी अर्थ—क्योंकि—

ध्वनि के इन सभी प्रभेदो में जब अङ्गीभूत (प्रधानभूत) व्यङ्ग्य अर्थ की स्फुट रूप से प्रतीति होती है, वह ही ध्वनि का पूर्ण लक्षण है ॥३३॥

उसके विषय के उदाहरण दिये ही जा चुके हैं ॥३३॥

इति डाक्टरोपाध्यालङ्कृत कृष्णकुमारकृत व्याख्यायुतस्य
ध्वन्यालोकस्य द्वितीय उद्योतः

— समाप्त —

परिशिष्ट १

ध्वन्यालोकगतकारिकार्धसूची

कारिकार्ध	उद्योत	संख्या	पृष्ठ
अङ्गाश्रितास्त्वलङ्कारा मन्तव्या कटकादिवत्	२	६	१४२
अतिव्याप्तेरथाव्याप्तेर्न चासौ लक्ष्यते तया	१	१४	६६
अनुस्वानोपमव्यङ्ग्य स प्रकारोऽपरोध्वने	२	२५	२०४
अपृथग्यत्ननिर्वर्त्य सोऽलङ्कारो ध्वनौ मत	२	१६	१६१
अर्थशक्त्‍येलङ्कारो यत्राप्यन्य प्रतीयते	२	२५	२०४
अर्थशक्त्युद्भवस्त्वन्यो यत्रार्थ स प्रकाशते	२	२२	१६५
अर्थान्तरे संक्रमितमत्यन्त वातिरस्कृतम्	२	१	११३
अर्थोऽपि द्विविधो ज्ञेयो वस्तुनोऽन्यस्य दीपक	२	२४	२०१
अलङ्कारान्तरव्यङ्ग्यभावे ध्वन्यङ्गता भवेत्	२	३०	२२१
अलङ्कारान्तरस्यापि प्रतीतौ यत्र भासते	२	२७	२०६
अलोकसामान्यमभिव्यनक्ति परिस्फुरन्त प्रतिभाविशेषम्	१	६	५४
अविवक्षितवाच्यस्य ध्वनेर्वाच्य द्विधामतम्	२	१	११३
अव्युत्पत्तेरशक्तेर्वा निबन्धो य स्खलदगते	२	३२	२२६
असलक्ष्यक्रमोद्योत क्रमेण द्योतित पर	२	२	११८
आक्षिप्त एवालङ्कार शब्दशक्त्या प्रकाशते	२	२१	१७६
आलोकार्थी यथा दीपशिखाया यत्नवान् जन	१	९	६०
उक्त्यन्तरेणशक्य यत् तच्चारुत्व प्रकाशयन्	१	१५	१०४
कस्यचिद्ध्वनिभेदस्य सा तु स्यादुपलक्षणम्	१	१९	१०९
काले च ग्रहणत्यागौ नातिनिर्वहणैषिता	२	१८	१६६
काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्य समाम्नातपूर्व-स्तस्याभाव जगदुरपरे भाक्तमाहुस्तमन्ये	१	१	३
काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवे पुरा	१	५	५२
काव्येत्स्मिन्नलङ्कारो रसादिरिति मे मति	२	५	१३४
केचिद् वाचा स्थितमविषये तत्त्वमूचुस्तदीय तेन ब्रूम सहृदयमन प्रीतये तत्स्वरूपम्	१	१	३
क्रमेण प्रतिभात्यात्मा योऽस्यानुस्वानसन्निभ	२	२०	१७८
क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थ श्लोक श्लोकत्वमागत	१	५	५२
चारुत्वोत्कर्षतो व्यङ्ग्यप्राधान्य यदि लक्ष्यते	२	३०	२२०

—o—

परिशिष्ट २

ध्वन्यालोकवृत्तिगतकारिकासूची

परिशिष्ट ३

ध्वन्यालोकगतोदाहरणश्लोकानुक्रमणिका

श्लोक	उद्योत	पृष्ठ
लावण्यकान्तिपरिपूरितदिङ्मुखेऽस्मिन्	२	२०८
वत्से मा गा विषादं श्वसनमुरुजवम्	२	१९९
वाणीरकुञ्जोड्डीनशकुनिकोलाहलम्	२	२२३
वीराणा रमते घुसृणारुणे न तथा	२	२०९
व्रज ममैवैकस्या भवन्तु	१	३२
शिखरिणि क्व नु नाम कियच्चिरम्	१	९६
शिखिपिच्छकर्णपूरा जाया	२	२०४
श्यामास्वङ्गं चकितहरिणीप्रेक्षणे दृष्टिपातम्	२	१७४
श्लाघ्याशेपतनुं सुदर्शनकरः	२	१८४
श्वश्रूरत्र निमज्जति अत्राहम्	१	३१
सङ्केतकालमनसम्	२	१९८
सज्जयति सुरभिमासो न तावदर्पयति	२	२०२
सर्वेकशरणमक्षमधीशमीशम्	२	१९२
स वक्तुमखिलान् शक्तो	२	२१०
स हरिर्नाम्ना देवः सहरिर्वरतुरगनिवहेन	२	१७१
सादरवितीर्णयौवनहस्तावलम्बम्	२	२०३
सुवर्णपुष्पां पृथिवीम्	१	९६
स्निग्धश्यामलकान्तिलिप्तवियतो	२	११५
हृदयस्थापितमन्युमपरोपमुखीमपि	२	२१२

—०—

परिशिष्ट ४

ध्वन्यालोकव्याख्या में उद्धृत ग्रन्थ लेखकों की कारिकायें

कारिका	लेखक या ग्रन्थ	उद्योत	पृष्ठ
अतस्तज्जन्यता तेषामत एवावधारणम् ।	दशरूपक	२	१६०
अधिकारादपेतस्य वस्तुनोऽन्यस्य या स्तुतिः । अप्रस्तुतप्रशंसा सा त्रिविधा परिकीर्तिता ॥	भामह	१	८३
अपह्नुतिरभीष्टस्य किञ्चिदन्तर्गतोपमा	भामह	१	७५
अप्रस्तुतप्रशंसा या सा सैव प्रस्तुताश्रया । कार्ये निमित्ते सामान्ये विशेषे प्रस्तुते यदि । तदन्यस्य वचस्तुल्ये तुल्यस्येति च पञ्चधा ॥	मम्मट	१	८४

कारिका	लेखक या ग्रन्थ	उद्योत	पृष्ठ
अयोगमन्ययोग वा चात्यन्तायोगमेव च । व्यवच्छिनत्ति धर्मस्य एवकारस्त्रिधा मत ॥		२	१४६
आदिशब्द तु मेधावी चतुर्ष्वर्थेषु भाषते । प्रकारे च व्यवस्थाया सामीप्येऽवयवे तथा ॥		२	१५८
आलम्बनो नायकादिस्तमालम्ब्य रसोद्गमात् ॥	विश्वनाथ	२	१२५
आह्लादकत्व माधुर्यं शृङ्गारे द्रुतिकारणम् । करुण विप्रलम्भे तच्छान्ते चातिशयान्वितम् ॥	मम्मट	२	१५०
इदमाद्यं पदस्थान मुक्तिसोपानपर्वणाम् । इय सा मोक्षमाणानामजिह्मा राजपद्धति ॥	भर्तृहरि	१	६१
उद्दीपनविभावास्ते रसमुद्दीपयन्ति ये । आलम्बनस्य चेष्टाद्या देशकालादयस्तथा ॥	विश्वनाथ	२	१२५
उद्बुद्धं कारणै स्वै स्वैर्बहिर्भाव प्रकाशयन् । लोके य कार्यरूप सोऽनुभाव काव्यनाट्ययो ॥	विश्वनाथ	२	१२५
उपकुर्वन्ति त सन्त येऽङ्गद्वारेण जातुचित् । हारादिवदलङ्कारास्तेऽनुप्रासोपमादय ॥	मम्मट	२	१४१
उपमाने न तत्त्व च भेद च वदत पुन । ससन्देह वच स्तुत्यै ससन्देह विदुर्यथा	अभिनवगुप्त	२	२०५
उपासनीय यत्नेन शास्त्र व्याकरण महत् । प्रदीपभूत सर्वासा विद्याना यदवस्थितम् ॥		१	६०
एकदेशस्य विगमे या गुणान्तरसस्तुति । विशेषप्रथनायासौ विशेषोक्तिरिति स्मृता ॥	भामह	१	७६
कर्णिकाया न्यसेदेक द्वे द्वे दिक्षु विदिक्षु च । प्रवेशनिर्गमौ दिक्षु कुर्यादष्टदलाम्बुजे ॥	भोज	२	१५९
कारणान्यथ कार्याणि सहकारीणि यानि च । रत्यादे स्थायिनो लोके तानि चेन्नाट्यकाव्यो	मम्मट	२	१२०
केचिदन्तर्भवन्त्येषु दोषत्यागात्परे श्रिता । अन्ये भजन्ति दोषत्व कुत्रचिन्न ततो दश ॥	मम्मट	२	१५१
तदाभासा अनौचित्यप्रवर्तिता ॥	मम्मट	२	१३२
तथा संज्ञा स रि ग म प ध नीत्यपरा मता	सङ्गीतरत्नाकर	१	
तैस्तैरप्युपयाचितैरुपनतस्तन्व्या स्थितोऽप्यन्तिके कान्तो लोकसमान एवमपरिज्ञातो न रन्तु यथा । लोकस्यैष तथानवेक्षितगुण स्वात्मापि विश्वेश्वरो नैवाल निजवैभवाय तदिय तत्प्रत्यभिज्ञोदिता ॥	उत्पलपादाचार्य	१	

परिशिष्ट-५

ध्वन्यालोकव्याख्या मे उद्धृत उदाहरणश्लोकसूची

श्लोक	उद्योत	पृष्ठ
चरणत्वनप्रत्याख्यानात् प्रसाद पराङ्मुखे	२	१३३
छिद्रान्वेषी महास्तब्धो	२	१५३
दण्डूल्वन्तो भरिमिति	२	२१७
दस्या पाणिरय नु मारतचनातम्राङ्गुलि पल्लव	२	२०५
तस्यास्चेन्मुपमस्ति सौम्यमुभगम्	१	७२
तुल्योदयावसानत्वाद्	१	८१
नयनयुगासेचनक मानसवृत्त्या	२	१३३
नवपनाशपलाशवन पुर	२	१५६
निर्वाणभूयिष्ठमथास्य वीर्यम्	२	१६६
नेय विरौति भृङ्गाली	१	७५
प्रतिग्रहीतु प्रणयप्रियत्वात्	२	१६६
प्रवालनीलोत्पलनिर्विशेषम्	१	८१
प्राणा येन समर्पितास्तव बलाद्	१	८६
प्रेङ्खत्प्रेमप्रबन्धप्रचुरपरिचये	२	२२६
भवति न गुणानुराग खलानाम	१	८२
भावव्रात हठाज्जनस्य हृदयान्याक्रम्य	१	८६
भ्रामते प्रतिभापार रसाभाताहताविभा	२	१५६
भो भो किमकाण्ड एव पतितस्त्वम्	१	७२
मणि शाणोल्लीढ समरविजयी	१	७५
मा भवन्तमनल: पवनो वा	२	२१७
य मालागुरुपत्रभङ्गरचनावासैकसारायत	२	२१७
येन ध्वस्तमनोभवेन बलिजित्काय	२	१६०
ये यान्त्यभ्युदये प्रीतिम्	१	८५
राकासुधाकरमुखी तरलायताक्षी	२	१३३
विप्रमकाण्डकुटुम्बकसम्चयप्रवर	२	२२६
शत्रुच्छेददृढेच्छस्य	१	७८
शशिवदनाऽसितसरसिजनयना	१	८०
शिखरिणि क्व नु नाम कियच्चिरम्	२	२०२
शीताशोरमृतच्छटा यदि करा कस्मान्मनो मे भृशम	२	१७६
स एकस्त्रीणि जयति	१	७६
सुतनु जहिहि कोप पश्य पादानत माम्	२	१३३
स्तुम क वामाक्षि क्षणमपि विना य न रमसे	२	१२२
स्तोकेनोन्नतिमायाति	२	१६१
स्मर स्मरमिव प्रिय रसयसे यमालिङ्गनात्	१	८१
स्वर्गमपारिजात कौस्तुभलक्ष्मीरहितम	१	८६
हरस्तु किञ्चित् परिवृत्तधैर्य	२	१३२,१८७